

गणेश २८ नवम्बर १। केन्द्रीय  
नया प्रयत्न करने से प  
भी ब्रिटेन, फ्रांस और  
तरह इन्कार कर दिय  
कनाडा के श्री डब्लू  
सं० रा० महासभा की  
में कहा कि उनकी सर  
ऐसे कोष की स्थापना  
तो सम्भव है, लेकिन  
के इस आशय के प्रस्ता  
नहीं कर सकती, इसलि  
मतदान में भाग नहीं  
प्रस्ताव के मस्विदे  
एक संयुक्त राष्ट्रीय  
की स्थापना तथा एक  
निर्वाचित का, जो कोष  
कर महासभा के  
है।  
इससे पूर्व अन्तर्गत, यू  
लेड और स्वीडन ने कहा  
प्रस्ताव का फलस्फुट  
मिलेगा और परिशदे में  
पेश किया कि महासभा  
आशा व्यक्त करें कि  
स्थापना होगी और एक  
स्थापना की 'ठोस संभ  
जांच के लिए एक समि  
जाए।  
ब्रिटेन और अमेरिका  
कि वे उसका समर्थन न  
और उससे व्यावहारिक  
रुने को आशा नहीं है  
केलिए कई देश पर्याप्त  
तैयार नहीं।  
फ्रांस ने कहा कि वि  
के अनन्तगत उसके बहु  
और वह और कुछ  
सकना।  
को एक नव लिखा है  
बान पर जोर दिया ग  
और उसके बाद की  
लिए सिचाई और ज  
नाओं के सम्बन्ध में  
क्षण का कार्य बड़ा म  
कहा गया है कि देश  
और भूमि का प्रयोग  
नाए बनाने के लिए  
है कि इस प्रकार की  
क्षण ठीक समय से

# स्टैंडर्ड वेक्यूम कम्पनी के शुल्क छोड़ देने का फल: श्री मालवीय का वक्तव्य

(हमारे विशेष संवाददाता द्वारा)

नई दिल्ली, २८ नवम्बर। खान व तेलमंत्री श्री केशवदेव मालवीय ने आज लोकसभा में बताया कि स्टैंडर्ड वेक्यूम रिफाइनरी कम्पनी द्वारा पेट्रोलियम की चीजों पर शुल्क की रियायतों का लाभ छोड़ देने से केन्द्रीय सरकार को अगले चार वर्षों में ५.८६ करोड़ रुपये का लाभ होगा। यह श्री रघुनाथसिंह द्वारा उक्त चीज की ओर ध्यान खींचे जाने पर सदन में एक वक्तव्य दे रहे थे।

श्री मालवीय ने कहा कि जब स्टैंडर्ड वेक्यूम आयल कम्पनी द्वारा दम्बई में एक तेल शोधक कारखाना स्थापित करने का प्रस्ताव सामने आया तो कम्पनी ने सरकार से कुछ आश्वासन और सहायता मांगी। एक आश्वासन सरकार ने यह दिया था कि भारत में निर्मित पेट्रोलियम के सामान पर संरक्षण शुल्क सन् १९६४ तक दिया जाता रहेगा।

इस रियायत का अभिप्राय यह था कि आयात शुल्क तथा उत्पादन शुल्क में विद्यमान अन्तर जारी रखा जाएगा। लेकिन उस समय ब्लैक आयल तथा बिटुमेन पर कोई उत्पादन शुल्क नहीं था। बाद में इनमें से कुछ पर उत्पादन शुल्क लगा दिया गया। फलस्वरूप उनका आयात शुल्क भी उसी अनुपात में बढ़ा दिया। दूसरे शब्दों में इन चीजों पर शुल्क संरक्षण की मात्रा समझाते के दिन लागू आयात शुल्क की मात्रा के बराबर थी। यह रियायत देने के लिए तेल शोधक कारखानों को अपने बनाए हुए माल पर उत्पादन शुल्क लगाना पड़ता था लेकिन उतनी रकम वह सरकार द्वारा समय-समय पर लुटाए गए आयात शुल्क द्वारा उपभोक्ताओं से वसूल कर लेते थे।

स्टैनवैक ने १५ दिसम्बर, १९५४ से अपना पूरा उत्पादन प्रारम्भ कर दिया था। मोटर स्पिरिट पर शुल्क संरक्षण का उसने १ दिसम्बर, १९५६ को परित्याग कर दिया। अब १५ नवम्बर, १९६० से अपने फर्नेस आयल, हार्डस्टीड डीजल आयल, तथा लाइट डीजल आयल पर भी रियायतें छोड़ देने का प्रस्ताव किया है जिसे स्वीकार कर लिया गया है। इस तरह शुल्क संरक्षण का परि-

तथा भूदान पर वक्र-दृष्टि रखे हुआ है। नेहरू जी इसे समझाता वार्ता द्वारा हल करना चाहते हैं किन्तु वास्तविक असफल हो जाने पर सचरूप संघर्ष का डालना कठिन होगा।

उन्होंने संदेह किया कि वास्तविक संघर्ष की स्थिति में मुसलमान तथा अन्य प्रतिहिंसावादी लोग राष्ट्र का साथ देंगे।

आर्य समाजी नेता ने कांग्रेस संगठन की भी आलोचना की। उन्होंने बताया कि कांग्रेसजन सत्ता तथा धनलोलुप हो गए हैं। उन्होंने उदाहरण के लिए एक मुंजी का भी नाम लिया जो अपनी सत्ता के समय ८० लाख रुपये छोड़ गए।

## कासाबुबू का लियोपोल्डविले लौटने पर भारी स्वागत

लियोपोल्डविले, २८ नवम्बर। कांगोई राष्ट्रपति, श्री कासाबुबू के सं० रा० मंथ से लौटने पर यहां भारी स्वागत किया गया। हवाई-अड्डे से नगर तक १८ मील लंबे मार्ग पर करीब ८० हजार व्यक्ति जमा थे।

वह न्यूयार्क में तीन सप्ताह रुके। इस दौरान में सं० रा० महासभा ने उनके द्वारा नियुक्त प्रतिनिधिमंडल को महासभा में कांगो की सीट पर स्थान देना स्वीकार कर लिया। इस प्रतिनिधिमंडल पद-व्यत प्रधानमंत्री श्री लुमुम्बा ने भेजा था।

हवाई अड्डे पर उनके स्वागत के लिए कांगो के 'लोडगु रूप' कर्नल मोबुतू पहुंचे हुए थे। सं० रा० की ओर से श्री राजेश्वर दयाल और त्रिगेडियर रिखी ने उनका स्वागत किया।

कासाबुबू के आस के शासक

## ४४-राष्ट्रीय प्र

मत न देने क

संयुक्त राष्ट्र, २८ रा० पूंजी विकास को के प्रस्ताव का समर्थन नया प्रयत्न करने से प भी ब्रिटेन, फ्रांस और तरह इन्कार कर दिय

कनाडा के श्री डब्लू सं० रा० महासभा की में कहा कि उनकी सर ऐसे कोष की स्थापना तो सम्भव है, लेकिन के इस आशय के प्रस्ता नहीं कर सकती, इसलि मतदान में भाग नहीं

प्रस्ताव के मस्विदे एक संयुक्त राष्ट्रीय की स्थापना तथा एक निर्वाचित का, जो कोष कर महासभा के है। इससे पूर्व अन्तर्गत, यू लेड और स्वीडन ने कहा प्रस्ताव का फलस्फुट मिलेगा और परिशदे में पेश किया कि महासभा आशा व्यक्त करें कि स्थापना होगी और एक स्थापना की 'ठोस संभ जांच के लिए एक समि जाए।

ब्रिटेन और अमेरिका कि वे उसका समर्थन न और उससे व्यावहारिक रुने को आशा नहीं है केलिए कई देश पर्याप्त तैयार नहीं।

फ्रांस ने कहा कि वि के अनन्तगत उसके बहु और वह और कुछ सकना।

को एक नव लिखा है बान पर जोर दिया ग और उसके बाद की लिए सिचाई और ज नाओं के सम्बन्ध में क्षण का कार्य बड़ा म कहा गया है कि देश और भूमि का प्रयोग नाए बनाने के लिए है कि इस प्रकार की क्षण ठीक समय से

## कमल अर्वा- में शामिल

हाववाता, द्वारा) (का) श्री खर्च में संबंध में अदालती है अदालत में उस का दातावरण फल

मनोहर के स्वपुर में एक ताव के सहित पुलिस द्वारा गया सरकारी कम्बल बाखिल आयेदन पत्र में कहा गया है उरे रावेपुर की पुलिस फतेहगढ़ जई और उसपर यह ओर डाला वह अपनी लड़की के द्वारा दाव के भूतपूर्व कोतवाल श्री के विरुद्ध न्यायालय में एक दाव दायर करा दे। मजिस्ट्रेट ने प्रार्थनापत्र ले कर सरकारी को सील करा दिया।

की हत्या के संबंध में एक व्यक्ति न एक प्रस्तुत किया। इस मृतक के हनोई लाला- प्रस्तापत्र देकर कहा है कि मृतगाय कोतवाल साहब से उजर रावेपुर जाने के थानेवार ने कर कराया है जिससे मृतक के थियों की इस मामले में आगे कार्य करने में बाधा उपस्थित की जाे। लालाराम के चकील की था कि शान्तिको, जिसने इस- को दायर किया है, जूडीन- ने अपने ३०-६०







सू० तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

भा० प्रणवस्य जपः प्रणवाऽभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना । तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते<sup>(१)</sup> तथाचोक्तं “स्वाध्यायाद् योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमामनेत्<sup>(२)</sup> स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशत” इति ॥ २८ ॥

किञ्चास्य भवति ।

सू० ततः प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्य<sup>(३)</sup>न्तरायाऽभावश्च ॥ २९ ॥

टी० ॥ २७ ॥ वाचकमाख्याय प्रणिधानमाह “तज्जपस्तदर्थभावनम्” ॥ २८ ॥ व्याचष्टे “प्रणवस्य” इति । भावनम् = पुनःपुनश्चेतसि निवेशनम् । ततः किं सिद्धयतीत्यत आह “प्रणवम्” इति । एकाग्रं संपद्यते = एकस्मिन् भगवत्यारमति चित्तम् । अत्रैव वैयासिकीं गाथामुदाहरति, । “तथाच” इति । तत ईश्वरः समाधितत्फललाभेन तमनुगृह्णाति ॥ २८ ॥

किञ्चापरमस्मात्? “ततः प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च” ॥ २९ ॥

टि० (१) ततः परमात्मसाक्षात्कारो भवतीति शेषो बोध्यः “परमात्मा प्रकाशत” इति वक्ष्यमाणविष्णुपुराणवाक्यस्वरसात् ।

(२) स्वाध्यायात् = प्रणवजपाद् अनन्तरं योगमभ्यसेत् समाधेरनन्तरं च पुनः स्वाध्यायमामनेत् = प्रणवजपमभ्यसेदित्यर्थः । योगजपयोरेकदा सम्भवो नास्तीत्याशयेन समाधेराद्यन्तयोर्जप उक्त इति बोध्यम् । यद्यपि प्रणवजपपूर्वकेश्वरानुचिन्तनरूपस्येश्वरप्राणिधानस्य साक्षादेव मोक्षहेतुत्वं भगवतोक्तम् “ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्” इति श्लोकेन, तथापि पूर्वश्लोकस्थम् “आस्थितो योगधारणाम्” इति वाक्यमाकृत्य, ॐमिति जपस्तदभिधेयं च मामनुस्मरन्, योगधारणामास्थितः सन्, परमां गतिमेतीति व्याख्येयम् । अन्यथा “ईश्वरप्रणिधानाद्वा” इति सूत्रेश्वरप्रणिधानस्य समाधिलाभद्वारा कैवल्यहेतुत्वमुच्यमानं सूत्रकृता बाधेत । एवञ्चेश्वरप्रणिधानादन्तरायाभावः, स्वरूपस्फूर्तिः, सम्प्रज्ञातसमाधिलाभश्च, ततश्चाऽसम्प्रज्ञातः, ततश्च कैवल्यमित्येवं क्रमा बोध्यः ।

(३) अपिनाऽऽसन्नतमसमाधिलाभः । न केवलमीश्वरप्रणिधानाद् आसन्नः समाधिलाभ एव भवति, किन्तर्हि निरन्तरायस्वरूपाऽधिगमोऽपि तत्सहभावीति भावः ।



भा० ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति । स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति । यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथाऽयमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ २६ ॥ अथ केऽन्तरायाः, ये चित्तस्य विक्षेपकाः, के पुनस्ते ? कियन्तो वेति—

**सू० व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरति-**

टी० प्रतीपं=विपरीतम्, अञ्चति=विजानाति इति प्रत्यक् स चासौ चेतनश्चेति प्रत्यक्चेतनोऽविद्यावान् पुरुषः । तदनेनेश्वराच्छाश्वतिकसत्त्वोत्कर्षसम्पन्नाद्विद्यावतो निवर्त्तयति । अविद्यावतः प्रतीचश्चेतनस्याधिगमः=ज्ञानं स्वरूपतोऽस्य भवति । अन्तराया वक्ष्यमाणास्तदभावश्च । अस्य विवरणं “ये तावद्” इति । स्वम्=आत्मा तस्य रूपं, रूपग्रहणेनाविद्यासमारोपितान् धर्मान् निषेधति । नन्वीश्वरप्रणिधानमीश्वरविषयं कथामिव प्रत्यक्चेतनं साक्षात्करोत्यातिप्रसङ्गादित्यत आह “यथैवेश्वर” इति । शुद्धः=कूटस्थनित्यतयोदयव्ययरहितः, प्रसन्नः=क्लेशवर्जितः, केवलः=धर्माधर्माऽपेतः, अत एवानुपसर्गः, उपसर्गा=जात्यायुर्भोगाः । सादृश्यस्य किञ्चिद्देवाधिष्ठानत्वादीश्वराद् भिनात्ति-“बुद्धेः प्रतिसंवेदी” इति । तदनेन प्रत्यग्ग्रहणं व्याख्यातम् । अत्यन्तविधर्मिणो<sup>(१)</sup> रन्यतरार्थानुचिन्तनं न तादितरस्य साक्षात्काराय कल्पते, सदृशार्थानुचिन्तनं तु सदृशान्तरसाक्षात्कारोपयोगितामनुभवति, एकशास्त्राम्यास इव तत्सदृशार्थशास्त्रान्तरज्ञानोपयोगिताम् । प्रत्यासत्तिस्तु स्वात्मनि साक्षात्कारहेतुर्न परात्मनीति सर्वमवदातम् ॥ २९ ॥ पृच्छति “क” इति । सामान्येनोत्तरं-“य” इति । विशेषसङ्ख्ये पृच्छति-“के पुन” रिति । उत्तरमाह- “व्याधि” इत्यादिसूत्रेण ।

अन्तरायाः = नव एताश्चिच्चतुत्तयो योगाऽन्तराया योगविरोधिनः,

टि० (१) ननु कथमीश्वरं भावयतः स्वरूपाऽधिगमः, न हि जातु कामिनीं प्रणिदधतः सनकाधिगमः सम्भवतीत्यत आह “अत्यन्तविधर्मिणो” रिति । नन्वेवं परात्माऽऽत्मनोरुभयोरेवाधिगमो युक्त इत्यत आह “प्रत्यासत्तिः”—



१०० भ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि  
चित्तविक्षेपास्तोऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

भा० नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः, सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येते  
सामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः । व्याधिः = धातुरस-  
करणवैषम्यं, स्त्यानम् = अकर्मण्यता चित्तस्य, संशयः =  
उभयकोटिस्पृग् विज्ञानं-स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति, प्रमादः =  
समाधिसाधनानामभावनम्, आलस्यम् = कायस्य चित्तस्य च  
गुरुत्वादप्रवृत्तिः, अविरतिः = चित्तस्य विषयसंप्रयोगाऽऽत्मा-  
गर्हः, <sup>[१]</sup> भ्रान्तिदर्शनम् = विपर्ययज्ञानम्, अलब्धभूमिकत्वम् =  
समाधिभूमेरलाभः, अनवस्थित्वं = यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्या-

चित्तस्य विक्षेपाः = चित्तं खल्वमी व्याध्यादयो योगाद्विक्षिपन्ति =  
अपनयन्तीति विक्षेपाः । योगप्रतिपक्षत्वे हेतुमाह <sup>[२]</sup> “सहैत” इति । संशय-  
भ्रान्तिदर्शने तावद्वृत्तितया वृत्तिनिरोधप्रतिपक्षौ, येऽपि न वृत्तयो व्याध्या-  
प्रभृतयस्तेऽपि वृत्तिसाहचर्यात् तत्प्रतिपक्षा इत्यर्थः । पदार्थान् व्याचष्टे  
व्याधिः” इति । धातवो = वातपित्तश्लेष्माणः शरीरधारणाद् अशितपी-  
ऽऽहारपरिणामविशेषो रसः, करणानि = इन्द्रियाणि, तेषां वैषम्यं =  
यूनाऽधिकभाव इति । अकर्मण्यता = कर्मानर्हता, संशयः = उभयकोटिस्पृग्  
ज्ञानम् । सत्यप्यतद्रूपप्रतिष्ठत्वेन संशयविपर्ययासयोरभेदे, उभयकोटि-  
दर्शाऽस्पर्शरूपाऽवान्तरविशेषविवक्षयाऽत्र भेदेनोपन्यासः । अभावनम् =  
करणं, तत्राऽप्रयत्न इति यावत् । कायस्य गुरुत्वं कफादिनां, चित्तस्य  
गुरुत्वं तमसा । गर्हः = तृष्णा । मधुमत्यादयः = समाधिभूमयः ।

टि० (१) विषयसंप्रयोगात् संगर्हः—इति पाठान्तरम् ।

(२) अन्यव्यातिरेकरूपं हेतुमाहेत्यर्थः । तत्र सहैत इत्यादिनाऽन्वय उक्तः । एतयो-  
सामभावे इत्यादिनां च व्यतिरेक इति भावः ।



भा० प्रतिष्ठा, समाधिप्रतिलम्भे हि तदवस्थितं स्याद्-इत्येता  
चित्तविक्षेपा नवयोगमला, योगप्रतिपक्षा, योगान्तराया इत  
भिधीयन्ते ॥ ३० ॥

सू० दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा  
विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

भा० दुःखमाध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकं च। येन  
ऽभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम्। दौर्मनस्य  
= इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः। यदङ्गान्येजयति = कम्पयति  
तद् अङ्गमेजयत्वम्। प्राणो यद्वाह्यं वायुमाचामति स श्वासः, य  
कौष्ठ्यं<sup>(१)</sup> वायुं निःसारयति स प्रश्वासः। एते विक्षेपसहभुवो = वि  
क्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति, समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ॥ ३१ ॥

टी० लब्धभूमेर्यदि तावतैव सुस्थितम्मन्यस्य भमाधिभेषः स्यात्ततस्तस्या अ  
भूमेरपायः स्यात्। यस्मात् समाधिप्रतिलम्भे तदवस्थितं स्यात् तस्मात्  
प्रयतितव्यमिति ॥ ३० ॥ न केवलं नवान्तराया, दुःखादयोऽप्यस्य तत्स  
भुवो भवन्तीत्याह-(सू०) "दुःखे" त्यादि। प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्  
आध्यात्मिकम् = शारीरं व्याधिवशान्मानसं कामादिवशात्। आधिभौति  
= व्याघ्रादिजनितम्। आधिदैविकम् = ग्रहपीडादिजनितम्। तच्च  
दुःखं प्राणिमात्रस्य प्रतिकूलवेदनीयतया हेयमित्याह "येनाभिहता" इति  
अनिच्छतः प्राणो यद्वाह्यं वायुमाचामति = पिबति प्रवेशयतीति याव  
स श्वासः समाध्यङ्गरेचकविरोधी। अनिच्छतोऽपि प्राणो यत् कोष्ठ्यं व  
निःसारयति = निश्चारयति स प्रश्वासः समाध्यङ्गपूरकविरोधी ॥ ३१ ॥

टि० (१) यद्यपि सर्वत्र 'कौष्ठ्यम्' इति वृद्धिघटितः पाठ उपलभ्यते तथाऽपि शरीरावयव  
कोष्ठशब्दाद् यति कोष्ठ्यम् इति साम्प्रतम्, वृद्धेरप्राप्तेरिति प्रतिपद्ये।



तैभा० अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्या-  
भ्यां निरोद्धव्याः । तत्राऽभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह ।

सू० तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाऽभ्यासः ॥ ३२ ॥

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाऽवलम्बनं चित्तमभ्यसेत् । यस्य तु<sup>१)</sup>

१० उक्तार्थोपसंहारसूत्रमवतारयति “अथैत” इति । अथ=उक्तार्थानन्तरम्,  
उपसंहरन्निदं सूत्रमाहेति संबन्धः । निरोद्धव्ये हेतुरुक्तः “समाधिप्रतिपक्षा”  
इति । यद्यपीश्वरप्रणिधानादित्यभ्यासमात्रमुक्तं, तथापि वैराग्यमिह तत्सहका-  
रितया ग्राह्यमित्याह “ताभ्याम्” इति । ताभ्याम्=उक्तलक्षणाभ्यामेवाभ्या-  
सवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः । तत्र=तयोरभ्यासवैराग्ययोर्मध्ये, अभ्यास-  
स्य=अनन्तरोक्तस्येति ॥ “तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाऽभ्यासः” ॥ ३२ ॥  
एकतत्त्वम्<sup>२)</sup>=ईश्वरः, प्रकृतत्वादिति ।

वैनाशिकानां तत्सर्वमेकाग्रमेव चित्तं, नास्ति किञ्चिद् विक्षिप्तमिति

१० (१) विक्षेपैकाग्रतयोरुपपत्तये चित्तस्य स्थैर्यं स्वाऽमितं सिद्धान्तयितुं वैनाशिकाऽभीष्टं  
अक्षणिकत्वं दूषयितुमुपक्रमते “यस्य तु” इति । यस्य = वैनाशिकस्य मते चित्तं प्रत्यर्थनियतं =  
विषयीभूतविषयाऽनन्यगामि, अतएव च प्रत्ययमात्रं = निगधारवृत्तिरूपं, तदेव कुतः? यतः क्षणिकं  
च, तस्य मते सर्वं चित्तमेकाग्रमेव नास्ति किञ्चिद्विक्षिप्तमित्यर्थः । एवञ्च विक्षिप्तचित्ताऽभावे  
विक्षेपनिवृत्त्यर्थं यो वैनाशिकानां शिष्येभ्यः समाध्याद्युपदेशः स विफलत्वेनाऽसङ्गत एवेति भावः ।

(२) एकतत्त्वमित्यत्र एकशब्दः प्रधानवाची, तदाह “ईश्वर” इति । तत्र निर्णायकलिङ्गमाह  
“प्रकृतत्वाद्” इति । उपलक्षणं चेदम्-उपसंहरन्निदमाहेति, भाष्यतस्तथैव लाभाच्चेत्यस्यापि ।  
यद्धि उपक्रम्यते तदेवोपसंह्रियत इति ह्यन्तर्वाणिसरणिः, उपक्रान्तं चाऽत्रेश्वरप्रणिधानमिति  
तदेवोपसंहर्तव्यमत एकतत्त्वाऽभ्यासेनेश्वरप्रणिधानमेव ग्राह्यम् । एतेन यदुपक्रमोपसंहारयोरैक-  
रूप्यमजानता विज्ञानमिक्षुणा-‘एकं तत्त्वं स्थूलादि किञ्चिन्न त्वीश्वरः । सामान्यशब्दस्याऽसति  
बाधके विशेषपरत्वाऽनौचित्याद्’ इत्युक्तं, तन्निराकृतं वेदितव्यम् । बाधकस्योक्तत्वात् । किञ्च “ततः  
प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च” इति सूत्रेणेश्वरप्रणिधानादन्तरायाऽभावमुक्त्वा  
वैतन्तरायाः के इत्याकाङ्क्षायां “व्याधि” इत्यादिसूत्रद्वयेनान्तरायानभिधाय “तत्प्रतिषेधार्थ-  
मेकतत्त्वाऽभ्यासः” इति सूत्रितम् । एवं चोपक्रान्तस्यैवेश्वरप्रणिधानस्याऽयमुपसंहार इति स्पष्ट-  
मेव । यदि च यत्किञ्चित् स्थूलादितत्त्वं गृह्येत तर्हि, एकतत्त्वाऽभ्यासो वेति विकल्पमुपाददीत,  
किञ्च “यथाऽभिमतम्य नाद्वा” इत्यागामिसूत्रेण यत्किञ्चित्प्रणिधानस्य वक्ष्यमाणत्वेनाऽत्र  
दत्तग्रहणमप्रामाणिकमित्यपि बोध्यम् ।



भा० प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकञ्च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमे-  
काग्रं नास्त्येव विक्षिप्तं, यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे  
समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमिति । अतो न प्रत्यर्थनियतम् । यो<sup>(१)</sup>  
ऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्य<sup>(२)</sup> यद्येकाग्रता

टी० तदुपदेशानां<sup>(३)</sup> तदर्थानां च प्रवृत्तीनां वैयर्थ्यमित्याह “यस्य तु” इति ।  
यस्य मते प्रत्यर्थे = अर्थ्यमाण<sup>(४)</sup> एकस्मिन्नेकस्मिन् वा, नियतं = याव-  
दर्थाभासमुत्पन्नं तत्रैव समाप्तम् अनन्यगामि । अर्थान्तरं तावत्प्रथमं गृही-  
त्वाऽर्थान्तरमपि पश्चात् कस्मान्न गृह्णातीत्यत आह “क्षणिकञ्च” इति ।  
क्षणस्याऽभेद्यत्वेन पूर्वपश्चाद्भावस्याप्यभावः । अस्मन्नये तु अक्षणिकं चित्तं  
स्वविषये एकस्मिन्नेकस्मिन् वाऽनवस्थितं प्रतिक्षणं तत्तद्विषयोपादानप-  
रित्यागाभ्यां विषयाऽनियतं विक्षिप्तम् । अतो विक्षेपपरिणाममपनीय शक्यै-  
काग्रताऽऽधातुमिति तदुपदेशप्रवृत्त्योर्नानर्थक्यमित्याह “यदि पुनरि” ति ।  
उपसंहरति “अतो न” इति । वैनाशिकमुत्थापयति “योऽपि” इति ।

टि०(१) योऽपि वैनाशिकविशेषः—नीलपीतादिविविधाऽऽकारत्वेन यत्प्रत्ययस्य विसदृशत्वं स  
विक्षेपः, तदपनयेन च या सदृशप्रवाहता सा चित्तस्यैकाग्रता इति मन्यते तन्मतं दूषयितुमनु-  
वदति “योऽपि” इत्यादिना । (२) तस्य=मते इतिशेषः । एकाग्रता यदि-इतिपाठान्तरमपि, ना-  
ऽप्रतीपम् (३) तदुपदेशानां = नीलपीतादिविषयाकारोपप्लुतविज्ञानसन्तानं बन्धननिदानमवधूय  
विषयाऽऽकारोपप्लवरहितविशुद्धविज्ञानसन्तानोदयो महोदयोऽभ्यासेन भावनीय इत्याकारको-  
पदेशानां, तदर्थानां च प्रवृत्तीनाम् = उपदिष्टार्थसाधनीभूतानां सर्वं दुःखं, सर्वं क्षणिकं, सर्वं स्व-  
लक्षणं, सर्वं शून्यमिति चतुर्विधभावनापरिपाकरूपाणां प्रवृत्तीनां, वैयर्थ्यम् । तन्मते हि  
सर्वस्य द्वितीयक्षणवृत्तिर्ध्वंसप्रतियोगित्वेन क्षणिकत्वेन स्थिरैकाधिकरणाऽभावेन स्थिरैकधारा-  
ऽसम्भवाद् विशुद्धविज्ञानसन्तानोदयहेतुभावनाचतुष्टयप्रकर्षस्याऽसम्भवदुक्तिकत्वादिति भावः ।  
किञ्च सोपप्लवज्ञानसन्तानस्य बद्धत्वान्निरुपप्लवज्ञानसन्तानस्य च मुक्तत्वात्सर्वस्य च क्षणिक-  
त्वाद् यो बद्धः स मुक्त इति बन्धमोक्षयोः सामानाधिकरण्यं च भज्येत । न हि देवदत्तोऽनु-  
भवति, यज्ञदत्तश्च तस्य संस्कारवान्, चैत्रश्च तस्य स्मर्त्तेति दृष्टचरं सम्भावि च । भवन्मतेऽन-  
पायिनः कस्यचिदभावे, क्व संस्कारः, क्व वा तत्प्रकर्षः, क्व वा तत्फलं मुक्तिरिति विभाव्य  
तूष्णीमेवाऽऽस्त्व । शरीरादिनिवृत्तावनुपप्लवाश्चित्तस्य, अनुपप्लुते च तस्मिन् शरीरादिनिवृत्तिरिति  
किरणावलीकारोक्त इतरेतराश्रयदोषोऽप्यत्र बोध्य इत्यलं बहुना ।

(४) अर्थ्यमाणे=विषयीभूते विषये । अर्थ्यमाण इति क्वाचित्कः पाठः ।



भा० प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वाद्,<sup>(१)</sup>  
 अथ प्रवाहांशस्यैव<sup>(२)</sup> प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही  
 वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति वि-  
 क्षिप्तचित्ताऽनुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं<sup>(३)</sup> चित्तमितिह  
 यादि च चित्तेनैकेनानन्विताः<sup>(४)</sup> स्वभावभिन्नाः प्रत्ययाः जायेरन्

टि० मा भूदेकस्मिन् क्षणिके चित्ते एकाग्रताऽऽधानप्रयत्नः, चित्तसन्ताने  
 त्वनादावक्षणिके विक्षेपमपनीय एकाग्रताऽऽधास्यत इत्यर्थः ।

तदेतद् विकल्प्य दूषयति “तस्य” इति । तस्य दर्शने एकाग्रता यदि  
 प्रवाहचित्तस्य = चित्तसन्तानस्य वा धर्मः, तत्रैकं क्रमवदुत्पादेषु प्रत्यये-  
 ष्वनुगतं नास्ति प्रवाहचित्तम् । कुतः ? यद् यावदस्ति तस्य सर्वस्य क्षणि-  
 कत्वाद्, अक्षणिकस्य चाऽऽसत्त्वाद् भवतां दर्शन इति भावः । द्वितीयं  
 कल्पं गृह्णाति “अथ” इति । सांवृतस्य<sup>(५)</sup> प्रवाहस्यांशः प्रत्ययः परमार्थः  
 सन्, तस्य प्रत्ययस्यैकाग्रता प्रयत्नसाध्यो धर्मः । दूषयति “स सर्व” इति  
 सांवृतप्रवाहाऽपेक्षया सदृशप्रवाही वा विसदृशप्रवाही वा । अतः परमार्थ-  
 सत्त्वारूपेण प्रत्यर्थनियतत्वाद् यदर्थाभास उत्पन्नस्तत्र समाप्तत्वादेकाग्र एवेति  
 विक्षिप्तचित्ताऽनुपपत्तिः, यदपनयेनैकाग्रताऽऽधीयत इति । उपसंहरति ‘त-  
 स्माद्’ इति । इतोऽपि चित्तमेकमनेकार्थमवस्थितं चेत्याह ‘यदि चे’ति । यथाहि

टि० (१) क्षणिकत्वात् । तथाच स्थिराश्रयाऽभावेनैकाग्रताऽनुपपत्तिरिति भावः ।

(२) प्रवाहांशस्य = प्रवाहाऽवयवस्य प्रत्येकव्यक्तेरिति यावत् ।

(३) अवस्थितं = स्थिरमित्यर्थः ।

(४) एकेन चित्तेनाऽनन्विता एकचित्ताऽनाश्रिता इति यावत् । स्वभावभिन्नाः = क्षणिक  
 कत्वस्वभावेन परस्परविलक्षणा इत्यर्थः ।

(५) संव्रियतेऽनया इति संवृतिरविद्या असत्प्रकाशनशक्तिस्तस्याः कार्यं सांवृतमाविद्या-  
 तस्य सांवृतस्याऽऽविद्यिकस्य प्रवाहस्य, स्वाभाविकस्येति वा ।

(६) स सर्व इति भाष्यं व्याचष्टे “सांवृत” इत्यादिना ।



भा०अथ<sup>(१)</sup> कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्याऽन्यः स्मर्ता भवेद्, अन्यप्रत्य-  
योपचितस्य च कर्माशयस्याऽन्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् ।

टी० मैत्रेणाऽधीतस्य शास्त्रस्य न चैत्रः स्मर्ता<sup>(२)</sup> यथाच मैत्रेणोपचितस्य पुण्यस्य  
पापस्य वा कर्माशयस्य फलं तदसंबन्धी चैत्रो न भोक्ता,<sup>(३)</sup> एवं प्रत्ययान्तर-  
दृष्टस्य प्रत्ययान्तरं न स्मरेत्, प्रत्ययान्तरोपचितस्य वा कर्माशयस्य फलं न  
प्रत्यायन्तरमुपभुञ्जीतेत्यर्थः । ननु नाऽतिप्रसज्यते,<sup>(४)</sup> कार्य्यकारणभावे सती-  
तिविशेषणात् । श्राद्ध<sup>(५)</sup> वैश्वानरीयेष्ट्यादावकर्तृमातृपितृपुत्रादिगामिफलदर्श-  
नाद्, मधुररसभावितानां वाऽऽम्रबीजादीनां<sup>(६)</sup> परम्परया फलमाधुर्य्यनियमाद्

टि० (१) अथ=शब्दस्तर्हीत्यर्थकः । यदि चेत्यनुरोधादिति बोध्यम् । कथमिति चाऽऽक्षेपे,  
अन्यज्ञानविषयीभूतस्थान्यः स्मर्ता कथं भवेन्न कथमपि । अनुभवसंस्कारस्मृतीनामेकाऽधिकरण-  
त्वनियमात् । अन्याऽर्जितस्य वाऽन्यो भोक्ता कथं भवेत् । कृतविप्रणाशाकृताऽऽभ्यागमदोषप्रस-  
ङ्गादिति भावः ।

(२) स्मरतीति पाठान्तरमप्यनाविष्टम् । (३) भुङ्क्ते इति पाठान्तरमप्यच्छमेव ।

(४) पूर्वोक्ताऽतिप्रसङ्गो नास्तीत्यर्थः । 'नाऽति प्रसज्यते' इति पाठे तु 'पूर्वोक्ते दूषणे' इत्य-  
ध्याहृत्य व्याख्येयम् ।

(५) यद्यपि श्राद्धकर्तुरेव फलं स्मर्य्यते तथाऽपि, पितृणां प्रीतिमावहन्नित्याद्युक्तेः पितृ-  
प्रीतिद्वारैव कर्तुः फलमित्यलं प्रकृताऽनुपयुक्तेन विचारेण । वैश्वानरीयेति—द्वादशश्लक्ष्ण्यां चतुर्थे  
निर्णीतमेतत् । यद् इदं "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते" इतीष्टिं विधाय "यस्मिञ्जात  
एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव स तेजस्यन्नाद् इन्द्रियावी पशुमान् भवति" इत्यादि फलमाप्नायते  
तदिदं किमिष्टिकर्तुः पितुरुक्त पुत्रस्येति संशय्य कर्मानुष्ठानफलयोर्वैध्याधिकरण्यपरिहाराय  
पितुरेव फलमिति प्राप्ते, नैतदेवं येनैव वाक्यशेषेण फलमेतत् प्रकल्प्यते तेनैव पुत्रगामित्वप्रतिपात्ति-  
रपि स्फुटा । यस्मिञ्जाते निर्वपति स पूतो भवतीति वाक्यशेषे स्पष्टं पुत्रगामित्वश्रवणात्पुत्रस्यैव  
पूतत्वादिकमिति सिद्धान्तः । फलसंयोगस्त्वचोदिते न स्यादशेषभूतत्वादिति अ० ४ पा० ३ सू० ३८

(६) आम्रबीजादीनामित्यादिपदेन यथा लाक्षारसाऽवसिक्तानां कार्पासबीजबीजपूरादीना-  
मङ्कुरादिपारम्पर्येण कार्पासादौ रक्तिमनियम इति ग्राह्यम् । तथोक्तं "यस्मिन्नेव हि सन्तान आहिता  
कर्मवासना । फलं तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तता यथा । कुसुमे बीजपूरादेर्यल्लाक्षाद्यपसिच्यते  
शक्तिराधीयते तत्र काचित्तां किं न पश्यति" इति ।



भा० कथञ्चित् समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्याय-  
माक्षिपति ।

टी० इत्यत आह “कथञ्चित् समाधीयमानमप्येतद्” इति । अयमभि-  
सन्धिः । कः खल्वेकसन्तानवर्तिनां प्रत्ययानां सन्तानान्तरवर्तिभ्यः प्र-  
त्ययेभ्यो विशेषो येनैकसन्तानवर्तिना प्रत्ययेनाऽनुभूतस्योपचितस्य क-  
र्माशयस्य वा तत्सन्तानवर्त्येव प्रत्ययः स्मर्त्ता भोक्ता च स्याद्, नाऽन्य-  
सन्तानवर्त्ती । न हि सन्तानो नामाऽस्ति कश्चिद्वस्तुसन् य एनं सन्ता-  
न्नितं सन्तानान्तरवर्त्तिभ्यो भिन्धात् । न च काल्पनिको भेदः क्रियाया-  
मुपपद्यते । न खलु कल्पिताऽग्निभावो माणवकः पचति । न च कार्य-  
कारणसंबन्धोऽपि वास्तवः । सहभुवोः संव्येतरविषाणयोरिवाऽभावाद्,  
असहभुवोरपि प्रत्युत्पन्नाऽऽश्रयत्वाऽयोगात् । न ह्यतीताऽनागतौ व्या-  
सज्ज्य प्रत्युत्पन्नं वर्त्तितुमर्हतः<sup>(१)</sup> । तस्मात्सन्तानेन वा कार्यकारणभा-  
वेन वा स्वाभाविकेनाऽनुपहिताः परमार्थसन्तः प्रत्ययाः परस्पराऽसंस्प-  
र्शित्वेन स्वसन्तानवर्त्तिभ्यः परसन्तानवर्त्तिभ्यो वा प्रत्ययान्तरेभ्यो न  
भिद्यन्ते । सोऽयं गोमयं पायसं चाऽधिकृत्य प्रवृत्तो न्यायो = “गोमयं  
पायसं गव्यत्वादुभयसिद्धपायसवद्” इति । तमाक्षिपति = न्यायाऽऽभास-  
त्वेन ततोऽप्यधिकत्वादिति । नचाऽत्र<sup>२</sup> कृतनाशाऽकृताऽभ्यागमं चोद्यं,  
यतश्चिच्चमेव कर्मणां कर्तृ, तदेव तज्जनिताभ्यां सुखदुःखाभ्यां युज्यते,  
सुखदुःखे च चित्तिच्छायाऽऽपन्नं चित्तं भुङ्क्ते इति पुरुषे भोगाऽभिमान-  
श्चित्तिचित्तयोरभेदग्रहादिति । स्वप्रत्ययं<sup>३</sup> प्रतीत्य समुत्पन्नानां स्वभाव

टि० (१) क्षणिकत्वेनोभयोः समानकालिकत्वाऽभावादिति भावः । एतेनाऽतीताऽनागतवर्त-  
मानासु सदृशप्रत्ययव्यक्तिषु त्रित्वादिवद् व्यासज्ज्यवृत्तिरेकाप्रताऽस्त्वित्यपास्तम् । अन्योऽन्या-  
ऽसमानकालिकेषु व्यासज्ज्यवृत्तित्वाऽसम्भवात्, क्षणिकत्ववादिनां नये सर्वस्य स्वलक्षणत्वा-  
ऽङ्गीकारेण सामान्यधर्माऽभावेन सादृश्यस्य दुरुपपादत्वाच्च । [२] नमु यथा, ताथागतनये  
वैय्यधिकरण्येन कृतनाशाऽकृताऽभ्यागमौ प्रसज्जेतौ तथा भवतामपि तौ सगानौ, बुद्धिः  
कर्त्रीपुरुषो भोक्तेत्यभ्युपगमादित्याशङ्क्याह “नचाऽत्रेति” अत्र = अस्मन्नये इत्यर्थः ।

[३] स्वप्रत्ययम् = आलम्बनादिचतुर्विधं प्रत्ययं, प्रतीत्य = आभिमुख्येन प्राप्येति, आल-  
म्बनप्रत्ययो—नीलादिविषयः, समन्तरप्रत्ययो—मनः, गोलकस्थानाऽऽपन्नानिन्द्रियाणि अधि-  
पतिप्रत्ययः, आलोकश्चेति चतुर्विधान् प्रत्ययान् प्रतीत्य चैत्ताः सुखादयो जायन्त इति हि  
सौगतसरणिः ।



भा० किञ्च स्वाऽऽत्माऽनुभवाऽपह्नवश्चित्तस्याऽन्यत्वे<sup>[१]</sup> प्राप्नो-  
ति । कथं, यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि यच्चाऽस्प्राक्षं तत् पश्यामी-  
त्यहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेन  
उपस्थितः । एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः  
कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिन-  
माश्रयेत् । स्वाऽनुभवग्राह्यश्चाऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः ।  
न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाऽभिभूयते । प्रमाणा-  
न्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते । तस्मादेकमनेकार्थ-  
मवस्थितं च चित्तम् ॥ ३२ ॥

टी० एवैषां तादृशो यत्त एव स्मरन्ति फलं चोपभुञ्जते, न त्वन्ये । न च  
स्वभावा नियोगपर्यनुयोगावर्हन्ति, एवं भवतु मैवं भूदिति वा, कस्मान्नै-  
वमिति वा इति । यः पूर्वोक्ते न परितुष्यति तं प्रत्याह—

“किञ्च स्वात्मे”ति । उदयव्ययधर्माणामनुभवानामनुभवस्मृतीनां च  
नानात्वेऽपि तदाश्रयमभिन्नं चित्तमहमिति प्रत्ययः प्रतिसंदधानः कथमत्य-  
न्तभिन्नान् प्रत्ययानाऽऽलम्बेत् । ननु ग्रहणस्मरणरूपकारणभेदात् पारो-  
क्ष्याऽऽपरोक्ष्यरूपविरुद्धधर्मसंसर्गाद्वा<sup>[२]</sup>, न प्रत्यभिज्ञानं नामैकः प्रत्ययो  
यतः प्रत्ययिनश्चित्तस्यैकता स्यादित्यत आह “स्वानुभवे”ति । ननु कार-  
णभेदविरुद्धधर्मसंसर्गावत्र बाधकावुक्तावित्यत आह “न च प्रत्यक्षस्य”

टि० [१] चित्तस्य प्रतिक्षणमन्यत्वे सति स्वस्य = बौद्धस्य य आत्माविषयकोऽनुभवः = अह-  
महमित्याकाराऽनुगतप्रतीतिस्तस्याऽपलापः प्रसज्येतेत्यर्थः । पृच्छति “कथम्” इति । उत्तर-  
माह “यद्” इत्यादिना । यत् तद् इत्यव्ययं यः स इत्यर्थकम्, अहमित्यस्य विशेषणम् । तथाच  
योऽहमाद्राक्षं सोऽहं स्पृशामीत्यादिप्रत्यये योऽहमित्याकारः प्रत्ययांशः स सर्वस्य प्रत्ययस्य  
= दर्शनस्पर्शनादिरूपस्याऽन्योन्यभेदे सत्यपि अभेदेनैवाऽनुगतत्वेनैवोपस्थितो भवतीति हि  
सर्वाऽनुभवसिद्ध इत्यर्थः । एतेनाऽनुभव उक्तः । तन्मते तदपह्नवमाह “एकप्रत्यय” इत्यादिना  
योऽयम् अभेदाऽऽत्मा = अनुगताऽऽकारोऽहमिति प्रत्ययः स भवन्मते एकप्रत्ययव्याक्तिमात्र-  
गोचरः प्रत्यर्थनियतश्चेत्तदा कथमत्यन्तभिन्नेषु क्षणिकेषु चित्तेषु विषयत्वेन वर्तमानः सामान्य-  
मेकं विषयीकुर्यात् सर्वप्रत्ययाऽनुगतधर्मिणः स्थिरचित्तस्याऽनन्युपगमादित्यर्थः ।

[२] स इत्यंशे संस्कारादिव सामग्री, अयमित्यंशे च संप्रयोगादिरिति सामग्रीभेदात्,  
तथा स इत्यंशे पारोक्ष्यमयमित्यंशे चाऽऽपरोक्ष्यमिति विरुद्धधर्माऽऽसङ्गाच्च न प्रत्यभिज्ञानं  
ज्ञानमेकं किन्तु बालुकावद् विशकलितमित्यर्थः ।



टी० इति । प्रत्यक्षाऽनुसारत एव सामग्र्यभेदः । पारोक्ष्याऽपरोक्षधर्माऽवि-  
रुद्धश्चोपपादितो<sup>(१)</sup> न्यायकणिकायाम् । अक्षणिकस्य<sup>(२)</sup> चाऽर्थक्रिया  
न्यायकणिकाब्रह्मतत्त्वसमीक्षाभ्यामुपपादितेति सर्वमवदातम् ॥ ३२ ॥

टि० (१) यदुक्तं सामग्रीभेदाद्विरुद्धधर्मसंसर्गाच्च न प्रत्यभिज्ञानं नामैकं ज्ञानमिति, तद्वा-  
च्यम् । संप्रयोगसंस्काराभ्यां मिलिताभ्यामेकस्यैव ज्ञानस्योत्पादेन प्रत्यभिज्ञानस्यैकत्वाऽभ्युप-  
गमात् । नचान्यत्रान्योन्यनिरपेक्षयोः संप्रयोगसंस्कारयोः सामग्रीत्वादेकज्ञानकारण-  
ताऽनुपपात्तिरिति साम्प्रतं, अभिज्ञायां स्मृतौ चान्योन्यान्पेक्षयोरपि कार्यविशेषे तदपे-  
क्षोपपत्तेः । दृश्यते हि संप्रयोगाऽऽलोकयोर्ग्राह्यसंयोगे तमोनिवृत्तौ चाऽन्योन्याऽनपेक्षयोरपि  
रूपज्ञानेऽन्योन्याऽपेक्षा । यथा वा श्रूयमाणस्मर्यमाणलिङ्गाऽपेक्षयोरनुमितव्यवक्षे चाऽन्योऽ-  
न्यानपेक्षयोरपि सन्निकृष्टपक्षकानुमितावन्योऽन्यापेक्षा । एवञ्च यथा सत्यपि सामग्रीभेदे  
विरुद्धधर्मसंसर्गे चाऽयं पर्वतो वह्निमानिति अनुमानाख्यमेकं ज्ञानं तद्वत् प्रत्यभिज्ञानमप्येकमेव, न  
बालुकावद्विशकलितं ज्ञानद्वयमिति । यत्तु तत्तावैशिष्ट्येदन्तावैशिष्ट्यांशयोः संस्कारेन्द्रिययोः  
कारणत्वेऽपि तत्तावैशिष्ट्येपरक्ताऽभेदांश उभयोरपि सामर्थ्याऽभावेन न. प्रत्यभिज्ञाया ऐक्येन  
स्थैर्य्यसिद्धिस्तन्न, इन्द्रियसंबन्धविशेषणतया तत्ताऽभेदस्य भासमानत्वेन दोषाऽभावात् । तदेतद्  
ध्वनयन्नाह “उपपादितो न्यायकणिकायाम्” इति । “कुतः पुनः स्थिरसिद्धिः प्रत्यभिज्ञानाद्”  
इत्यादिना बहुशिक्षितोऽसौ सौगत आत्मतत्त्वविवेक इत्यलं तदुपन्यासेन ।

(२) ये तु—सत् स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरकालवृत्तिध्वंसप्रतियोगि ? न वेति ? विप्रतिपत्ति-  
मुपन्यस्य तत्र स्थैर्य्यं प्रसङ्गविपर्य्यायाभ्यामर्थक्रियाव्यापकक्रमयौगपद्याऽभावात्, तदभावेऽर्थक्रि-  
याकारित्वरूपसत्त्वाऽनुपपत्तौ, यत्सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरपटलं, सैश्च विवादास्पदीभूतो  
घटादिरित्यनुमिमाना अक्षणिकस्याऽर्थक्रियाकारित्वं प्रत्याचक्षते तान् प्रत्याह । “अक्षणिक-  
स्यचाऽर्थक्रिया” इत्यादि । ननु क्षणिकत्वप्रतिपक्षे स्थायिनि व्यापकाऽनुपलब्ध्या बाध्यमाना  
सत्ता क्षणिकत्वेन व्याप्यमाना सती क्षणिकत्वमेवाऽनुमापयति । तथाहि । अर्थक्रियाकारित्वैव  
सत्ता, नाऽन्या । न हि, व योऽर्थक्रियां काञ्चिदारभते स सन्निति व्यवहियते । सा च सत्ता  
क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, ते च क्रमयौगपद्ये स्थायिनि न संभवतः । न तावत् स्थायी पदार्थो-  
ऽर्थक्रिया युगपदेव सर्वाः कर्तुमर्हतीति वक्तुं साम्प्रतम् । तथा सति द्वितीयक्षणे कृत्याभावादर्थ-  
क्रियाकारित्वविरहादसत्त्वाऽऽपत्तेः क्षणिकत्वमेव स्यादिति स्थैर्य्यहानिः । नाऽपि क्रमः संभवति ।  
तथाहि वर्तमानाऽर्थक्रियाकरणेऽतीताऽनागतयोरर्थक्रिययोः सामर्थ्यमस्ति ? नो वा ? आद्ये तयो-  
रनिराकरणप्रसङ्गः । समर्थस्य क्षेपाऽयोगात् । यद् यदा करणसमर्थं तत्तदा करोत्येव । यथा  
सामग्री स्वकार्य्यसमर्थश्चायम् इति प्रसङ्गाऽनुमानाच्च । द्वितीये सदैव करणाऽभावप्रसङ्गः ।  
असमर्थस्याऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावात् । यद् यन्न करोति तत्तत्राऽसमर्थं, यथा शिलाशकलम-  
ङ्कुरे । न चैष वर्तमानाऽर्थक्रियाकरणसमयेऽतीताऽनागते ते करोतीति न तत्र समर्थमिति विपर्य्यया-



टि० नुमानाच्च । तस्मादेकस्मिन् वस्तुनि सामर्थ्याऽसामर्थ्यविरुद्धधर्मसंसर्गाऽयोगान्नाऽक्षणिकस्याऽ-  
र्थक्रियाकारित्वमिति चेद्, अत्राहुः—न तावदर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वं, स्वप्नस्त्रीदर्शनमिध्यासर्प-  
दंशादेरप्यर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वाऽऽपातात् । किञ्च, न सर्वस्य भावस्याऽर्थक्रियाकारिता-  
नियमः । अतत्कारिणोऽप्यतीताऽनागतस्य भावत्वसत्त्वात् । न च तस्याऽपि स्वज्ञानं प्रति कारण-  
त्वेनार्थक्रियाकारित्वम् । अतीताऽनागतानां तदसम्भवात् । तथाचाहुः पार्थसारथिमिश्राः—“न च  
सर्वेषां विज्ञानं प्रत्यालम्बनहेतुताऽतीताऽनागतानां संभवति । सम्प्रत्यविद्यमानानां हेतुत्वाऽनुप-  
पत्तेः । हेतुत्वे वा सर्वज्ञाननिष्पत्तौ सर्वेषां व्यावृत्तत्वात् क्रमाऽनभ्युपगमेन च पुनर्व्यापाराऽनुप-  
पत्तेस्तल्लक्षणत्वाच्च सत्तायाः सर्वज्ञानाऽनन्तरमेव समस्तस्य जगतः शून्यताप्रसङ्ग इति य-  
त्किञ्चिदेतद्” इति । क्रमयौगपद्ये स्थायिनि न संभवत इत्यपि नाच्छम् । क्रमेणार्थक्रियाकारि-  
त्वाऽभ्युपगमात्, सहकारिव्यपेक्षया च विलम्बोपपत्तेर्न कोऽपि दोषः । सहकारिणश्च भावाद्  
भिन्नमभिन्नं भिन्नाऽभिन्नं वाऽऽगन्तुकमतिशयं कुर्वन्त्येव । यथा पाथोऽवनि संयोगो बीजस्याऽति-  
क्षायाऽऽधायकः । अत एव तदलम्बे स्थायिनेऽपि बीजस्य प्रागङ्कुराऽनारम्भो, लम्बे त्वा-  
ऽऽरम्भ इति । यत्त्वेन सत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां संयोगस्यैव कारणत्वं स्यान्नतु बीजस्येति । तन्न ।  
संयोगमात्रात् तदुत्पत्त्यदर्शनात् । न हि क्षितिसलिलसंयोगमात्रमेवाऽङ्कुरं जनयति, किन्तर्हि  
बीजविशिष्टं, विशिष्टस्य च कारणत्वे विशेषणीभूतबीजस्याऽपि तदभ्युपेयम् । यस्तु—अन्त्यक्षण-  
प्राप्तोऽनपेक्ष एव भावो जनयितुं समर्थोऽनपेक्षोऽप्यसौ सहकारिभिर्विना नास्तीति तैर्विना न  
करोतीत्याद्याह । स पृष्ठो व्याचष्टाम् । यदिदमन्त्यक्षणप्राप्तं क्षितिसलिलसंयुक्तमङ्कुरजनकं तद्  
यदि कृषीवलप्रयत्नविरहात् कुशूलस्थमेव स्यात् तदाऽपि किमङ्कुरं जनयति ? ओमिति चेत्,  
कुशूलनिहितबीज एव स्यात् कृती कृषीवलः, कृतमस्य दुःखबहुलेन कृषिकर्मणा, इति तर्कपादे  
भामत्यां शास्त्रदीपिकायाञ्च प्रकारान्तरेणापि तथागतमतं निराकृतमिति तत एव द्रष्टव्यम् ।  
यत्त्वेकस्मिन् वस्तुनि जनकत्वाजनकत्वरूपविरुद्धधर्मसंसर्गाऽयोगान्नाऽक्षणिकत्वमिति, तत् तुच्छं,  
एकजनकस्याऽप्यन्याऽजनकत्वेन जनकत्वाजनकत्वयोरेकस्मिन्नधिकरणे सहभावात् । नन्वेकधर्मि-  
त्ववदेकविषयत्वमप्यपेक्षितं, तथाचैककार्यप्रतियोगिजनकत्वाऽजनकत्वयोरेकस्मिन् धर्मिणि न  
सहभाव इति चेन्न । स्थायिवादिनं प्रत्यसिद्धेः । कालभेदेनैकस्यैकं प्रत्येव जनकत्वाजनकत्वयोः सर्व-  
त्रैवाऽङ्गीकारात् । क्षणभङ्गवादिनयेऽपि यदिदमिदानीन्तनाऽङ्कुरजननसमर्थं बीजं तदन्यकालि-  
काऽङ्कुरं जनयेन्न वा, जनयेद् यदि क्षणभङ्गमङ्गः । ननु क्षणान्तरे तदेव नास्ति कथं तस्य जनकत्वं,  
माऽस्तु, स्वक्षण एव तं किमिति न जनयेत् । स्वाऽनन्तरक्षणवर्तिनं प्रत्येव समर्थं तदिति चेद्,  
एवं तर्ह्यसमर्थं तत्रेत्यायातम् । तथाच तस्यैव बीजस्य तत्कालिकाऽङ्कुरं प्रतिजनकत्वमन्यकालिकं  
तमेव प्रत्यजनकत्वं चेति न जनकत्वाऽजनकत्वयोर्विरोधः । तस्मात्प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधान्न क्षणि-  
कत्वमिति निरवयम् । न च सजातीयत्वेन निर्वाहः । तन्मते जातेरपि क्षणिकत्वेन पूर्वकालिकवृत्तिघट-  
त्वस्यैतत्कालिक घटेऽभावादिति । यथाच क्षणिकत्वनिर्वचनासम्भवस्तथोपपादितस्तत्त्वप्रदीपिकायाम्



भा० यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म<sup>(१)</sup> निर्दिश्यते तत्कथम्<sup>(२)</sup> ।

सू० मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख<sup>३)</sup> दुःखपुण्याऽपु-  
ण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्\* ॥३३॥

भा० तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापऽऽन्नेषु मैत्रीं भावयेद्, दुःखि-  
तेषु करुणां, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यात्मकेषूपेक्षाम् ।

टी० अपरिकर्मितमनसो<sup>(४)</sup> ऽसूयादिमतः समाधितदुपायसम्पत्त्यनुत्पादा-  
च्चित्तप्रसादनोपायान् असूयादिविरोधिनः प्रतिपादयितुमुपक्रमते “यस्ये  
दम्” इति । यस्य चित्तस्याऽवस्थितस्येदं परिकर्मैत्यर्थः ॥ ‘मैत्रीकरुणे-  
त्यादि, प्रसादनमित्यन्तं सूत्रम्’ ॥३३॥ ॥ सुखितेषु मैत्री=सौहार्दं  
भावयत इर्ष्या<sup>५)</sup> कालुष्यं निवर्त्तते चित्तस्य, दुःखितेषु च करुणाम्=आत्म-  
नीव परस्मिन् दुःखप्रहाणेच्छां भावयतः पराऽपकारचिकीर्षाकालुष्यं

टि० (१) परिकर्म=चित्तस्थैर्यहेतुचित्तप्रसादनसाधनं मैत्र्यादिभावनाचतुष्टयमित्यर्थः । यस्य  
चित्तस्य शास्त्रेण स्थित्युपायो निर्दिश्यते तच्चित्तमनेकार्थमिति पूर्वान्वयीदं भाष्यमिति,  
‘तत्कथम्’ इति चोत्तरसूत्राऽवतरणमिति केचित् ।

(२) तत्=चित्तप्रसादनं, कथं=कैर्भावनाप्रकारैः, काभिर्भावनाभिश्चित्तप्रसादनं कुर्या-  
दिति यावत् । (३) सुखादिशब्दा मत्वर्थीयाऽर्शआद्यन्तत्वेन सुखादिमत्परा इति बोध्यम् ।

(४) अपरिकर्मितमनसः = ईर्ष्यादिनिवर्त्तकचित्तप्रसादनसाधनमैत्र्यादिभावनाविधुर-  
स्येत्यर्थः ।

(५) इर्ष्या=अक्षान्तिः, पराऽभ्युदयासहनमिति यावत् । उपलक्षणं चैतद् रागकालु-  
ष्यस्याऽपि । तथाहि—स्नेहादनुभूयमानं सुखमनुशेते यः सुखजातं सर्वं मे भूयादिति  
राजसो धीवृत्तिविशेषः स राग इत्युच्यते । स च रागो दृष्टाऽदृष्टसुखसामग्र्यभावात्सर्व-  
सुखऽसम्पत्त्या चित्तं विक्षिप्य कलुषीकरोति । यदा चाऽयं सुखिषु प्राणिषु मैत्रीं भाव-

\* कुर्यादिति क्रियापदमध्याहाय्यमत्र ।

† मैत्री—द्वेषाऽभावो, नातु सुहृस्नेहस्तस्य बन्धाऽऽत्मकत्वात् । एवं मुक्ताऽपि शोकनिवृत्तिर्न

हर्षः । तस्य रागहेतुत्वादिति तु मनुभाष्यकारा मेधातिथिभट्टाः ।



भा० एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । ततश्च चित्तं प्रसीदति प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ ३३ ॥

सू० प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य<sup>(१)</sup> ॥३४॥

टी० चेतसो निवर्त्तते । पुण्यशीलेषु प्राणिषु मुदितां = हर्षं भावयतोऽसूया<sup>(२)</sup> कालुष्यं निवर्त्तते चेतसः । अपुण्यशीलेषु चोपेक्षां = माध्यस्थ्यं भावयतोऽमर्ष<sup>(३)</sup> कालुष्यं निवर्त्तते । ततश्चाऽस्य राजसतामसधर्मनिवृत्तौ सार्विकः शुक्लो धर्म उपजायते = सत्त्वोत्कर्षसम्पन्नः सम्भवति । वृत्तिनिरोधपक्षे तस्य प्रसादस्वाभाव्याच्चित्तं प्रसीदति । प्रसन्नं च वक्ष्यमाणेभ्य उपायेभ्य एकाग्रं स्थितिपदं लभते । असत्यां पुनर्मैत्र्यादिभावनायां न ते उपायाः<sup>(४)</sup> स्थित्यै कल्पन्त इति भावः ॥ ३३ ॥ ॥ तानिदानीं स्थित्युपायानाह “ प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य” ॥ ३४ ॥ वाशब्दो वक्ष्यमाणोपाया-

टि० येत्सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीया इति, तदा तत्सुखं स्वकीयमेव संपन्नमिति तत्र रागो निवर्त्तते । यथा स्वस्य राज्याऽभावेऽपि पुत्रादिराज्यमेव स्वकीयं तद्वत् । निवृत्ते च रागे वर्षाऽपाये जलमिव चित्तं प्रसीदति इति । एवं यदा मैत्रीवशात्परकीयं सुखं स्वकीयमेव संपन्नं तदा परगुणाऽसहनाऽभावादीर्घ्याकालुष्यमपि निवर्त्तते । एवं करुणां भावयतो द्वेषकालुष्यनिवृत्तिरपि बोध्या । तथाहि दुःखमनुशंते य ईदृशं दुःखं सर्वदा मे मा भूदिति तमोऽनुगतो राजसो धीवृत्तिविशेषः स द्वेष इत्युच्यते । दुःखं च शत्रुव्याघ्रादिषु सत्सु न निवारयितुं शक्यं, न च सर्वे दुःखहेतवो हन्तुं शक्यन्तेऽतः स द्वेषः सदा हृदयं दहति, यदा चायं स्वस्येव परेषां सर्वेषां प्रतिकूलं दुःखं न भूयादित्यनेन प्रकारेण करुणा दुःखिषु प्राणिषु भावयेत् तदा वैर्यादिद्वेषनिवृत्तौ चित्तं प्रसीदति, एतदेव स्मर्यतेऽपि “प्राणा यथाऽऽत्मनोऽमीष्टा भूतानामपि ते तथा । आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधका इति” । (१) प्रच्छर्दन-शब्देन रेचनं, विधारणशब्देन च कुम्भकः । रेचनोत्तरं पूरणं विना विधारणाऽसम्भवात्पूरकोऽप्यर्थादायातः । तथाच प्राणस्य रेचनपूरणस्तम्भनैर्मनसः स्थितिं संपादयेदिति सूत्रार्थः सम्पन्न इति केचित् । अन्ये तु बाह्याऽऽभ्यन्तरकेवलभेदेन कुम्भकस्य त्रैविध्येनात्र विधारणशब्देन रेचनोत्तरकालिकः कुम्भको गृह्यत इति न पूरकस्याऽर्थादाक्षेपोऽतं एव वायोर्बाहिरेव स्थापनं विधारणमिति वाचस्पतिमिश्रैर्व्याख्यातमित्याहुः । (२) परगुणेषु दोषाऽऽविष्करणमसूया । (३) अमर्षः=रुषा क्रोध इत्यर्थः । (४) उपायाः=वक्ष्यमाणाः प्रच्छर्दनादयः ।



भा० कोष्ठयस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं  
प्रच्छर्दनं, विधारणं = प्राणायामः, ताभ्यां वा मनसः स्थितिं  
सम्पादयेत् ॥ ३४ ॥

सू० विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-  
निबन्धनी ॥ ३५ ॥

टी० उत्तराऽपेक्षो विकल्पार्थो<sup>(१)</sup> न मैत्र्यादिभावनाऽपेक्षया । तथा सह  
समुच्चयात् । प्रच्छर्दनं विवृणोति  
“कोष्ठयस्य” इति । प्रयत्नविशेषाद् = योगशास्त्रोक्तात् । येन  
कोष्ठयो वायुर्नासिकापुटाभ्यां शनै रेच्यते । विधारणं विवृणोति “विधारणं  
प्राणायाम” इति । रेचितस्य प्राणस्य कोष्ठयस्य वायोर्यदायामो = बहिरेव  
स्थापनं न तु सहसा प्रवेशनम् । तदेताभ्यां प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वायो-  
र्लघूकृतशरीरस्य मनः स्थितिपदं लभते । अत्र चोत्तरसूत्रगतात् स्थिति-  
निबन्धनीतिपदात् स्थितिग्रहणमाकृष्य संपादयेदित्यर्थप्राप्तेन संबन्धनीय-  
म् ॥ ३४ ॥ स्थित्युपायान्तरमाह “विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः  
स्थितिनिबन्धनी” ॥ ३५ ॥ व्याचष्टे “नासिकाग्रे धारयत” इति धारणा-

टि० (१) यत्तु-वाशब्दोऽप्यर्थे, आभ्यामपि चित्तप्रसादनं कुर्याद् इति विज्ञानभिक्षुणा व्या-  
ख्यातं, तन्न स्थाने । प्रच्छर्दनविधारणयोः प्रसादनहेतुत्वाऽभावात् । अत एव ‘ताभ्यां वा मनसः  
स्थितिं संपादयेद्’ इत्येतत् सूत्रे भाष्यकारैः प्रच्छर्दनविधारणयोः स्थितिसम्पादकत्वमुक्तं, न तु  
प्रसादनसाधनत्वम् । अत्रेदं बोध्यम् । ‘प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठत’ इति भगवदुक्तेः  
‘प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते’ इति पूर्वसूत्रस्थभाष्याच्च चित्तप्रसादनं विना चित्तस्थैर्य  
दुःसम्पादमिति स्पष्टमवगम्यते । एवञ्च मैत्र्यादिभावनया चित्तप्रसत्तौ सत्यां प्रच्छर्दनादयश्चि-  
त्तस्थैर्योपायाः सूत्रकृता विकल्प्यन्ते, न तु चित्तप्रसादनोपायाः । साध्यसाधनयोर्विकल्पाऽस-  
म्भवात् । चित्तप्रसादनसाधनीभूतानां मैत्र्यादिभावनानान्तु सर्वत्र समुच्चय एवेति न तदपेक्षया  
विकल्पः । तदेतदाऽऽह ‘न मैत्र्यादिभावनाऽपेक्षया विकल्पः । तथा सह समुच्चयाद्’ इति ।



भा० नासिकाऽग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंविद् सा गन्ध-  
प्रवृत्तिः, जिह्वाग्रे दिव्यरससंविद्, तालुनि रूपसंविद्, जिह्वा-  
मध्ये स्पर्शसंविद्, जिह्वामूले शब्दसंविद्, इत्येताः प्रवृत्तय  
उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधि-  
प्रज्ञायाश्च द्वारीभवन्ति इति । एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीप-  
रत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या । यद्यपि हि  
तत्तच्छास्त्रानुमनाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्रूपमेव भवति,  
एतेषां\* यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात् । तथापि यावदेकेद-  
शोऽपि कश्चिन्न स्वकरणासंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमि-  
वापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति ।

टी० ध्यानसमाधीन् कुर्वतस्तज्जयाद् या दिव्यगन्धसंविद् तत्साक्षात्कारः ।  
एवमन्यास्वपि प्रवृत्तिषु योज्यम् । एतच्चागमात्<sup>(१)</sup> प्रत्येतव्यं, नोपपत्तितः ।  
स्यादेतत् । किमेतादृग्भिर्वृत्तिभिः कैवल्यं प्रत्यनुपयोगिनीभिरित्यत आह  
“एता” इति । एता वृत्तयोऽल्पेनैव कालेनोत्पन्नाश्चित्तमीश्वरविषयायां  
वा विवेकख्यातिविषयायां वा स्थितौ निबध्नन्ति । नन्वन्याविषया  
वृत्तिः कथमन्यत्र स्थितिं निबध्नातीत्यत आह । “संशयं विधमन्ति”  
इति । विधमन्ति = अपसारयन्ति । अत एव “समाधिप्रज्ञायाम्” इति ।  
वृत्त्यन्तराणामप्यागमसिद्धानां विषयवत्त्वमतिदिशति “एतेन” इति ।  
नन्वागमादिभिरवगतेष्वर्थेषु कुतः संशय इत्यत आह “यद्यपि हि” इति

टि० (१) आगमात् = “अतः पराऽस्य धारणा तालुरसनाग्रनिपीडनाद् वाङ्मनःप्राणनिरो-  
धनाद्” इत्यादिमैत्र्युपनिषदादिवेदादित्यर्थः । “ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवती परा ।  
गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तयः” इत्याद्यागमाद्वेत्यर्थः ।

\* एतेषां = शास्त्राऽनुमानाऽऽचार्योपदेशानामित्यर्थः ।



भा० तस्मान्छास्त्राऽनुमानाऽऽचार्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवाऽव-  
श्यं कश्चिद्विशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः । तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्र-  
त्यक्षत्वे सति सर्वं सुसूक्ष्मविषयमप्यापवर्गात्सुश्रद्धीयते\* एत-  
दर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते । अनियतासु वृत्तिषु त-  
द्विषयायां वशीकारसंज्ञायामुपजातायां समर्थं स्यात्तस्य त-  
स्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति । तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृति-  
समाधयोऽस्याऽप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति ॥ ३५ ॥

सू० विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

भा० प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्त्तते ।

हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्—

टी० श्रद्धामूलो हि योगः, उपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षीकरणे च श्रद्धाऽतिशयो  
जायते तन्मूलाश्च ध्यानादयोऽस्याऽप्रत्यूहं भवन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

“विशोका वा ज्योतिष्मती” विगतशोका=दुःखरहिता ज्योति-  
ष्मती=ज्योतिरस्या अस्तीति ज्योतिष्मती प्रकाशरूपा । “हृदयपुण्डरीक”  
इति । उदरोरसोर्मध्ये यत्पद्मम्<sup>(१)</sup> अधोमुखं तिष्ठति अष्टदलं, रेचकप्राणा-  
यामेन तद्दूर्ध्वमुखं कृत्वा तत्र चित्तं धारयेत् । तन्मध्ये सूर्यमण्डल-  
मकारो जागरितस्थानम् । तस्योपरि चन्द्रमण्डलमुकारः स्वप्नस्थानम् ।

\* आ अपवर्गात्=कैवल्यपर्यन्तं सर्वमपि सूक्ष्मं सुश्रद्धीयते=इदमित्यमेवेति विश्व-  
स्यत इत्यर्थः । द्वारीभवतीत्युक्तं विवृणोति “अनियतासु” इत्यादिना ।

† या बुद्धिसंविच्चित्तसाक्षात्कारः, यच्चाऽस्मितासमापन्नं चित्तमेवा द्वयी विशोका  
ज्योतिष्मतीत्युच्यत इत्यग्निमेणाऽन्वयः ॥ शौत्राद्यभिहितार्थविषयकसंशयाऽपनोदनार्थम् ।

टि० (१) पद्ममधोमुखम्=उपलक्षणं चैतद्, वितस्तिमात्रं पञ्चच्छिद्रं च “अतिरम्यं हि भूतानां  
पञ्चच्छिद्रमधोमुखम् । वितस्तिमात्रतो देशे नामेच्छिद्रमवस्थितम् । यथैवाऽष्टदलं पद्मं सुरक्तं  
मुकुलीकृतम् । एवं हृदयपद्मं तच्छब्दे हृदयस्य के । सोमाऽग्निरविनक्षत्रविशुद्धतेजसा युतम् ।  
भाति विश्वस्य कृत्स्नस्य ह्याश्रयो योगिनां सदा” इत्यादिस्मृतिभ्यः ।



भा० बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाऽऽकारेण विकल्पते, तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मि-

टी० तस्योपरि वह्निमण्डलं मकारः सुषुप्तिस्थानम् । यस्योपरि परं व्योमात्मकं ब्रह्मनादं तुरीयस्थानमर्द्धमात्रमुदाहरन्ति ब्रह्मवादिनः । तत्र=कौणिकायामूर्द्धमुखी सूर्यादिमण्डलमध्यगा ब्रह्मनाडी, ततोऽप्यूर्द्धं प्रवृत्ता (१) सुषुम्नानामनाडी, तथा खलु बाह्यान्यपि सूर्यादीनि मण्डलानि प्रोतानि । सा हि चित्तस्थानं, तस्यां धारयतो योगिनश्चित्तसंविदुपजायते । उपपत्तिपूर्वकं बुद्धिसंविद आकारमादर्शयति “बुद्धिसत्त्वं हि” इति । आकाशकल्पमिति व्यापितामाह, (२) सूर्यादीनां प्रभास्तासां रूपं तदाकारेण विकल्पते=नानारूपा भवति । मनश्चाऽत्र बुद्धिरभिमतं, न तु महत्तत्त्वम् । तस्य च सुषुम्नास्थस्य वैकारिकाऽहङ्कारजन्मनः सत्त्वबहुलतया ज्योतीरूपता विवक्षिता, तत्तद्विषयगोचरतया च व्यापित्वमपि सिद्धम् । अस्मिताकार्ये मनसि सम्पत्तिं दर्शयित्वाऽस्मितासमापत्तेः स्वरूपमाह “तथाऽस्मितायाम्” इति ।

टी० (१) ऊर्द्धं प्रवृत्ता=मूर्द्धपर्यन्तं गता ‘कन्दस्थ मध्यमे भागे सुषुम्ना संप्रतिष्ठिता । पृष्ठमध्यस्थिते तन्मस्थन सह मूर्ध्नि समागता’ इत्यादि स्मृतेः । कौणिका=पद्मबीजकोषः । (२) ‘आकाशकल्पम्’ इत्यनेन तत्तदनेकविषयगोचरत्वेनैव मनसो व्यापकत्वमुक्तं, न तु मनसो विभुत्वमेव साङ्ख्यकृतान्तः । “न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा” अ० ५ । सू० ६९ इति साङ्ख्यसूत्रात् । “हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्” अ० प्र० १ सू० १२४ इति सूत्रेण महत्तत्त्वादिनिखिलकार्यस्याऽव्यापित्वकथनाच्च । तदेतत्समनन्तरं चक्ष्यत्यपि “तत्तद्विषयगोचरतया व्यापित्वमपि सिद्धम्” इति । एतेन नेत्रे निमील्य यद्विज्ञानभिक्षुणोक्तमन्तःकरणस्य विभुत्वमाचार्य्यसिद्धान्त इति तद् हेयमेव । किञ्च, न केवलं साङ्ख्यनय एव मनसो विभुत्वाऽभावोऽपि तु सर्वतन्त्रसिद्धान्तोऽयम् । तथाच वेदान्तवैशेषिकन्यायसूत्राणि “नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा” व्या० अ० २ । पा० ३ । सू० ३२ । आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्” वै० अ० ३ । आ० १ सू० १ । “युगपज्ज्ञानाऽनुत्पत्तिमर्नसो लिङ्गम्” न्या० अ० १ । सू० १६ । यद्यप्येतानि सूत्राणि मनःसाधकानि, तथाऽपि तस्य विभुत्वाऽभावमपि साधयन्ति । अन्यथा स्वीकृतेऽपि मनसि तस्य विभुत्वेन सर्वदा सन्निधानसद्भावाद-



भा० तामात्रं भवति । यत्रेदमुक्तं “तमणुमात्रमात्मानमनुविद्या-  
ऽस्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते” इति । एषा द्वयी विशोका विषयवती  
अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिज्योतिष्मतीत्युच्यते, यया योगिन-  
श्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३६ ॥

सू० वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥३७॥

भा० वीतरागचित्ताऽऽलम्बनोपरक्त वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं  
लभत इति ॥ ३७ ॥

सू० स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

टी० शान्तम् = अपगतरजस्तमस्तरङ्गम्, अनन्तं = व्यापि, अस्मितामात्रं  
= न पुनर्नानाप्रभारूपम् । आगमान्तरेण<sup>(१)</sup> स्वमतं समीकरोति “यत्र” इति  
यत्रेदमुक्तं पञ्चशिखेन, तमणुं दुरधिगमत्वाद, आत्मानम् = अहङ्काररूपदं,  
अनुविद्य = अनुचिन्त्य, अस्मीत्येवं तावज्जानीत इति ॥ स्यादेतत् ॥ नानाप्र-  
भारूपा भवतु ज्योतिष्मती, कथमस्मितामात्ररूपा ज्योतिष्मतीत्यत आह  
“एषा द्वयी” इति । विधूतरजस्तमोमलाऽस्मितैव सत्त्वमयी ज्योतिरिति  
भावः । द्विविधाया अपि ज्योतिष्मत्याः फलमाह “यथा” इति ॥ ३६ ॥  
“वीतरागविषयं वा चित्तम्” ॥ वीतरागाः = कृष्णद्वैपायनप्रभृतयस्तोषां  
चित्तं तदेवाऽऽलम्बनं तेनोपरक्तमिति ॥ ३७ ॥ ॥ “स्वप्ननिद्राज्ञाना-  
लम्बनंऽऽवा” ॥ यदा खल्वयं स्वप्ने विविक्तवनसन्निवेशवार्त्तिनीम्<sup>(२)</sup>  
उत्कीर्णामिव चन्द्रमण्डलात्, कोमलमुणालशकलानुकारिभिरङ्गप्रत्यङ्गै-  
रुपेताम्, अभिजातचन्द्रकान्तमणिमयीम्, अतिसुरभिमालतीमल्लिका-

टि० नित्योपलब्धेर्युगपज्ज्ञानोत्पत्तेश्चदुर्वारत्वेन सूत्राऽसङ्गतिः स्पष्टैव । मीमांसकसम्मतान्तः-  
करणस्य विभुत्वमपि युक्तिविरुद्धमेवेत्यन्यत्र विस्तरः । स्वयम्भूमतेन विज्ञानोक्तिरित्येके ।

(१) यत्तु विज्ञानभिक्षुणोक्तम् आत्ममदेन पुरुषो गृह्यते, नाऽहङ्कार इति । तन्न पेशलम् ।  
आत्मसाक्षात्कारस्य साध्यत्वेन साधनभूताऽनात्मप्रवृत्तिमभ्य उपन्यासाऽयोगात् ।

(२) विविक्तः = शुद्धः जनाऽसङ्कीर्णो वा यो वनसन्निवेशस्तत्र वार्त्तिनीमित्यर्थः ।  
उत्कीर्णाम् = निःसृताम् । षड्भिमानिः प्रतिमाविशेषणानि ।



भा० स्वप्नज्ञानालम्बनं निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिन-  
श्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३८ ॥

सू० यथाऽभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

भा० यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत् । तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि  
स्थितिपदं लभत इति ॥ ३९ ॥

सू० परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

भा० सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति ।  
स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य ।  
एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याऽप्रतिघातः स परो  
वशीकारः, तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं  
परिकर्माऽपेक्षत इति ॥ ४० ॥ ॥ अथ लब्धस्थितिकस्य

टी० मालाहारिणी, मनोहरां, भगवतो महेश्वरस्य प्रतिमामाराधयन्नेव प्रबुद्धः  
प्रसन्नमनास्तदा तामेव स्वप्नज्ञानाऽवलम्बनीभूतामनुचिन्तयतस्तस्य  
तदेकाकारमनसस्तत्रैव चित्तं स्थितिपदं लभते । निद्रा चेह सात्त्विकी  
ग्रहीतव्या, यस्याः प्रबुद्धस्य— सुखमहमस्वाप्समिति प्रत्यवमर्शी भवति,  
एकाग्रं हि तस्यां मनो भवति । तावन्मात्रेण चोक्तम्<sup>(१)</sup> एतदेव ब्रह्मविदो  
ब्रह्मणो रूपमुदाहरन्ति सषुप्तावस्थेति । ज्ञानं च ज्ञेयरहितं न शक्यं  
गोचरयितुमिति ज्ञेयमपि गोचरीक्रियते ॥ ३८ ॥ “यथाभिमतध्यानाद्वा”  
किं बहुना यदेवाभिमतं तत्तद्देवतारूपमिति ॥ ३९ ॥ ॥ कथं पुनः  
स्थितिपदमात्मीभावोऽवगन्तव्य इत्यत आह ॥ “परमाणुपरममहत्त्वा-  
न्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥ व्याचष्टे “सूक्ष्म” इति । उक्तमर्थं पिण्डीकृत्य  
वशीकारपदार्थमाह “एवं तामुभयीम्” इति । वशीकारस्यावान्तरफलमाह  
“तद्वशीकाराद्” इति ॥ ४० ॥ तदेवं चित्तस्थितेरुपाया दर्शिताः,  
लब्धस्थितिकस्य वशीकारोऽपि दर्शितः । सम्प्रति लब्धस्थितिकस्य चेतसः  
किंविषयः, किंरूपश्च संप्रज्ञातो भवतीति पृच्छति, “अथ” इति ।

टि० (१) सात्त्विक्यां निद्रायां मन एकाग्रं भवतीत्येतावन्मात्रेण सूत्रकृता निद्राज्ञानस्याऽऽ-



भा० चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति । तदुच्यते

सू० क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेरग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु  
तत्स्थितदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

भा० क्षीणवृत्तेरिति = प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः । अभिजात-  
स्येव<sup>(१)</sup> मणोरिति दृष्टान्तोपादानम् । यथा स्फटिक उपाश्रयभेदा-  
त्तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते तथा ग्राह्याल-  
म्बनोपरक्तं<sup>(२)</sup> चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते ।  
भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भव-  
ति । तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं

टी० अत्रोत्तरसूत्रमवतारयति “तदुच्यते” इति । सूत्रं पठति “क्षीणवृत्तेरित्या-  
दि-समापत्त्यन्तम्” ४१ ॥ तद्व्याचष्टे “क्षीण” इति । अभ्यासवैराग्याभ्यां  
क्षीणराजसतामसप्रमाणादिवृत्तेश्चित्तस्य । तस्यव्याख्यानं ‘प्रत्यस्तमितप्रत्यय-  
स्य’ इति । तदनेन चित्तसत्त्वस्य स्वभावस्वच्छस्य जस्त मोभ्यामभिभव उक्तः ।  
दृष्टान्तं स्पष्टयति ‘यथा’ इति । उपाश्रय = उपाधिः, जपाकुसुमादिः । उप-  
रक्तः = तच्छायापन्नः । उपाश्रयस्य यदात्मीयं रूपं लोहितनीलादि तदे-  
वाकारस्तेन लक्षितो निर्भासते । दार्ष्टान्तिके योजयति “तथा ग्राह्य” इति  
ग्राह्यञ्च तदालम्बनञ्च तेनोपरक्तं तदनुविद्धम् । तदनेन ग्रहीतृग्रहणाभ्यां  
व्यवच्छिन्नत्ति । आत्मीयमन्तःकरणरूपमपिधाय ग्राह्यसमापन्नं = ग्राह्यता-  
मिव प्राप्तमिति यावत् । अतो ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते । ग्राह्योपराग-

टि० लम्बनत्वमुक्तम् । न केवलं निद्राज्ञानमात्रमालम्बनं येनाऽपुरुषार्थत्वमपि तु सौषुप्तं नैजं  
रूपमत्राऽऽलम्बनं विवक्षितमित्याशयेनाऽऽह “ज्ञानञ्च” इति ॥ (१) अभिजातस्य =  
निर्मलस्य । (२) यद्यपि सूत्रकृता ग्रहीतृग्रहणग्राह्येति पठितं तथाऽपि भूमि-  
काक्रममादाय प्रथमं ग्राह्यनिष्ठां समापत्तिमाह “तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तम्” इति ।



भा० भवति । तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपा-  
भासं भवति । तथा ग्रहणेष्वपि=इन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम् । ग्रहणा-  
लम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते ।  
तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृ-  
पुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं  
मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते । तदेव-  
मभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु = पुरुषे-  
न्द्रियभूतेषु, या तत्स्थितदञ्जनता = तेषु स्थितस्य तदाकारा-  
पत्तिः, सा समापत्तिरित्युच्यते ॥ ४१ ॥

टी० मेव सूक्ष्मस्थूलताभ्यां विभजते “भूतसूक्ष्म” इति । विश्वभेदश्चेतना-  
चेतनस्वभावो गवादिर्घटादिश्च द्रष्टव्यः । तदनेन वितर्कविचारानुगतौ  
समाधी दर्शितौ । “तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेषु” इति “गृह्यन्ते एभिरर्था इति  
ग्रहणानीन्द्रियाणि । एतदेव स्पष्टयति “ग्रहणालम्बने”ति । ग्रहणं चालम्बनं  
चतदिति ग्रहणालम्बनं तेनोपरक्तम् = अनुविद्धम्, आत्मीयमन्तः करण-  
रूपमपिधाय, ग्रहणमिव = बहिःकरणमिवापन्नमिति । तदनेनाऽऽनन्दा-  
ऽनुगतमुक्त्वाऽस्मिताऽनुगतमाह । “तथा ग्रहीतृपुरुष” इति । अस्मिता-  
ऽऽस्पदं हि ग्रहीता पुरुष इति भावः । पुरुषत्वाविशेषादनेनैवमुक्तोऽपि  
पुरुषः शुकप्रह्लादादिः समाधिविषयतया संग्रहीतव्य इत्याह “तथा  
मुक्त” इति । उपसंहरन् तत्स्थितदञ्जनतापदं व्याचष्टे “तदेवम्” इति ।  
तेषु = ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु, स्थितस्य = धारितस्य ध्यानपरिपाकवशाद-  
पहतरजस्तमोमलस्य चित्तसत्त्वस्य, या तदञ्जनता = तदाकारता, सा  
समापत्तिः = सम्प्रज्ञातलक्षणो योग उच्यते । तत्र च ग्रहीतृग्रहणग्रा-  
ह्येष्विति सौत्रः पाठक्रमोऽर्थक्रमविरोधान्नादर्त्तव्यः । एवम्भाष्येऽपि प्रथमं  
भूतसूक्ष्मोपन्यासोऽप्यनादरणीय इति सर्वं रमणीयम् ॥ ४१ ॥ ॥ सामान्यतः  
समापत्तिरुक्ता, सेयमवान्तरभेदाच्चतुर्विधा भवति । तद्यथा, सवितर्का, निर्वि-  
तर्का, सविचारा, निर्विचारा चेति । तत्र सवितर्कायाः । समापत्तेर्लक्षण-



सू० तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का  
समापत्तिः ॥ ४२ ॥

भा० तद् यथा गौरितिशब्दो, गौरित्यर्थः, गौरिति ज्ञानमित्य-  
विभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम् । विभज्यमानाश्चान्ये  
शब्दधर्मा, अन्येऽर्थधर्मा, अन्ये विज्ञानधर्मा इत्येतेषां वि-  
भक्तः पन्थाः । तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाच्यर्थः समाधि-  
प्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्त्तते  
सा सङ्कीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ॥ ४२ ॥

टी० माह “तत्र, इत्यादि सामापत्यन्तं” सूत्रम् । तत्र = तासु समाप्तिषु मध्ये<sup>१)</sup>  
सवितर्का समापत्तिः प्रत्येतव्या । कीदृशी, शब्दश्चार्थश्च ज्ञानं च तेषां विकल्पा  
वस्तुतो भिन्नानामपि शब्दादीनामितरेतराध्यासाद्, विकल्पोऽप्येकस्मिन्  
भेदमादर्शयति भिन्नेषु चाभेदम् । तेन शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा = मिश्रे-  
त्यर्थः । तद्यथा गौरिति शब्द इति—गौरित्युपात्तयोरर्थज्ञानयोः शब्दाभेदवि-  
कल्पो दर्शितः । गौरित्यर्थ इति—गौरित्युपात्तयोः शब्दज्ञानयोरर्थभेदविकल्पो  
दर्शितः । गौरितिज्ञानमिति—गौरित्युपात्तयोः शब्दार्थयोर्ज्ञानाभेदविकल्पो  
दर्शितः । तदेवमविभागेन विभक्तानामपि शब्दार्थज्ञानानां ग्रहणं लोके द्रष्टव्य-  
म् । यद्यविभागेन ग्रहणं कुतस्तर्हि विभाग इत्यत आह “विभज्यमानाश्च” इति  
विभज्यमानाश्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां परीक्षकैरन्ये शब्दधर्माः = ध्वनिपरि-  
णाममात्रस्य शब्दस्योदात्तादयो धर्माः, अन्येऽर्थस्य जडत्वमृत्तत्वादयः,  
अन्ये प्रकाशमूर्त्तिविरहादयो ज्ञानस्य धर्मा इति । तस्मादेतेषां विभक्तः  
पन्थाः = स्वरूपभेदोन्नयनमार्गः । तत्र = विकल्पते गवाच्यर्थे “समापन्नस्येति”  
तदनेन योगिनोऽपरं प्रत्यक्षमुक्तम् । शेषं सुगमम् ॥ ४२ ॥

टि० (१) तत्रेति सप्तम्या निर्धारणार्थत्वबोधनाय मध्ये-इतिपदं, न तु तत्र निविष्टं, षष्ठीप्रसङ्गात् ।



भा० यदा पुनः शब्दसङ्केतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानवि-  
कल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणाऽवस्थितोऽर्थस्त-  
त्स्वरूपाकारमात्रतयैवाऽवच्छिद्यते सा च निर्वितर्का समापत्तिः ।  
तत्परं प्रत्यक्षम् । तच्च श्रुताऽनुमानयोर्बीजं, ततः श्रुताऽनुमाने  
प्रभवतः । न च श्रुताऽनुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनं, तस्मादसङ्कीर्णं  
प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति, <sup>(१)</sup>  
निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते ।

टी० सूत्रं योजयितुं प्रथमतस्तावन्निर्वितर्का व्याचष्टे “यदा पुनरिति । परिशु-  
द्धिः = अपनयः, शब्दसङ्केतस्मरणपूर्वं खल्वागमानुमाने प्रवर्त्तेते। सङ्केतश्चा-  
यं गौरिति शब्दार्थज्ञानानामितरेतराध्यासात्मा, ततश्चागमानुमानज्ञानवि-  
कल्पौ भवतः । तेन तत्पूर्वां समाधिप्रज्ञा सवितर्का । यदा पुनरर्थमात्रप्रवणेन  
चेतसाऽर्थमात्राऽऽदृतेन तदभ्यासान्नान्तरीयकतामुपगता सङ्केतस्मृतिस्त्य-  
क्ता, तत्त्यागे च श्रुतानुमानज्ञानविकल्पौ तन्मूलौ त्यक्तौ, तदा तच्छून्यायां  
समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपमात्रतयैव, न तु विकल्प-  
तेनाकारेण परिच्छिद्यते सा निर्वितर्का समापत्तिरिति । तद् योगिनां परं प्रत्य-  
क्षम्, असदारोपगन्धस्याप्यभावात् । स्यादेतत्, परेण प्रत्यक्षेणार्थतत्त्वं गृहीत्वा  
योगिन उपपादयन्ति उपदिशन्ति च, कथंवाऽतद्विषयाभ्यामागमपरार्थानु-  
मानाभ्यां सोऽर्थ उपदिश्यते उपपाद्यते च । तस्मादागमानुमाने तद्विषये, ते  
च विकल्पाविति परमपि प्रत्यक्षं विकल्प एवेत्यत आह “तच्च श्रुते”ति ।  
यदि हि सवितर्कमिव श्रुताऽनुमानसहभूतं = तदनुषक्तं स्याद् भवेत्सङ्कीर्णं,  
तयोस्तु बीजमेवैतत्, ततो हि श्रुताऽनुमाने प्रभवतः । न च यद् यस्य कारणं  
तत्तद्विषयं भवति । नहि धूमज्ञानं वह्निज्ञानकारणमिति वह्निविषयम् । तस्मा-  
दविकल्पेन प्रत्यक्षेण गृहीत्वा विकल्प्योपदिशन्ति चोपपादयन्ति च । उपसं-  
हरति “तस्माद्” इति । व्याख्येयं सूत्रं योजयति “निर्वितर्काया” इति ।

टि० (१) इति = इत्थम्भूताया अस्या निर्वितर्काया लक्षणमग्निमेण सूत्रेण द्योसत इत्येव  
मिति-शब्द उत्तरान्वयी वा बोध्यः ।



सू० स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवाऽर्थमात्रनिर्भासा  
निर्वितर्का <sup>(१)</sup> ॥४३॥

भा० या शब्दसङ्केतश्रुताऽनुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्रा-  
ह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञारूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा  
पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा निर्वितर्का स-  
मापत्तिः । तथा च व्याख्याता <sup>(२)</sup> । तस्या <sup>(३)</sup> एकबुद्ध्युपक्रमो  
ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषाऽऽत्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः । स च

टी० स्मृतिपरिशुद्धावित्यादि सूत्रम् । शब्दसङ्केतश्च श्रुतं चाऽनुमानञ्च तेषां  
ज्ञानमेव विकल्पः, तस्मात् स्मृतिस्तस्याः परिशुद्धिः=अपगमः, तस्याम्  
अत्र च सङ्केतस्मृतिपरिशुद्धिर्हेतुः । श्रुतादिज्ञानस्मृतिपरिशुद्धिश्च हेतुमती ।  
अनुमान-शब्दश्च कर्मसाधनोऽनुमेयवाचकः । स्वमिवेतीवकारो भिन्नक्रमः,  
त्यक्त्वेतिपदाऽनन्तरं द्रष्टव्यः । विषयविप्रतिपत्तिं निराकरोति “तस्या  
एक” इति । एकां बुद्धिमुपक्रमते=आरभत इत्येकबुद्ध्युपक्रमः । तदनेन  
परमाणवो नानाऽऽत्मानो न निर्वितर्कविषया त्युक्तं भवति ।

योग्यत्वेऽपि तेषां परमसूक्ष्माणां नानाभूतानां महत्त्वैकार्थसमवेतै-  
कत्वनिर्भासप्रत्ययविषयत्वाऽयोगात् । अस्तु तर्हि परमार्थसत्सु परमाणुषु  
सांवृतः <sup>(१)</sup> प्रतिभासधर्मः स्थौल्यमित्यत आह “अर्थात्मा” इति । न स्थूल-

टि० [१] स्मृतिपरिशुद्धौ=शब्दार्थज्ञानविकल्पाऽपगमे सति, या स्वरूपशून्येवाऽत एवाऽर्थ-  
मात्रनिर्भासा स्वान्तःस्थितिः सा निर्वितर्का समापत्तिः, निर्विकल्पसमाधिरिति यावत् ।

(२) तथा च व्याख्याता—एतत्सूत्रपातनिकायामस्माभिरिति शेषः । पूर्वाचार्यैरिति  
शेष इति विज्ञानभिक्षुक्तिस्त्वनवधानप्रयुक्तैवेति हेया ।

[३] तस्याः=निर्वितर्कायाः समापत्तेः, गवादिर्घटादिर्वा लोकः=विषय इत्यन्वयः,  
एकबुद्ध्युपक्रम इत्यादीनि त्रीणि विशेषणानि तु मतान्तरनिराकरणपराणीति ध्येयम् । तथाहि  
एकबुद्ध्युपक्रम=इत्यनेन वैभाषिकसौत्रान्तिकाऽभिमतपरमाणुपुञ्जनिरासः । अर्थात्मा=इत्यनेन



भा० संस्थानविशेषोभूतसूक्ष्माणांसाधारणो धर्मआत्मभूतः फलेन व्यक्तेनाऽनुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः<sup>(१)</sup> प्रादुर्भवति, धर्मान्तरोदये च तिरोभवति । स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते । योऽसावेकश्च<sup>(१)</sup>

टी० मनुभवसिद्धमसति बाधके शक्यापह्नवमिति भावः । तत्र ये पश्यन्ति अणुकादिक्रमेण गोघटादय उपजायन्त इति तान् प्रत्याह “अणुप्रचय” इति । अणूनां प्रचयः=स्थूलरूपः परिणामः स च विशिष्यतेऽन्यस्मात् परिणामान्तरात्, स एवाऽऽत्मा=स्वरूपं यस्य स तथोक्तः । गवादिर्भोगायतनं, घटादिर्विषयः, तच्चैतदुभयमपि लोक्यत इति लोकः ॥ नन्वेषसूक्ष्मभूतेभ्यो भिन्नोऽभिन्नो वा स्याद्, भिन्नश्चेत् कथन्तदाश्रयः, कथञ्च तदाकारः । न हि घटः पटादन्यस्तदाऽऽकारस्तदाऽऽश्रयो वा । अभिन्नश्चेत्तद्वदेव सूक्ष्मोऽसाधारणश्च स्यादत आह—

‘स च’ इति । अयमभिप्रायः । नैकान्ततः परमाणुभ्यो भिन्नो घटादिरभिन्नोऽपि योगाचाराऽभिमतविज्ञानाऽऽकारतानिराकृतिः । अणूनां स्थूलः परिणाम इत्यर्थकेन, अणुप्रचयविशेषाऽऽत्मा—इत्यनेन कणादाद्यभिमताऽऽरम्भवादपक्षप्रतिक्षेप इति ।

(१) सांवृतः=विशकलितपरमाणुतत्त्वाऽऽच्छादिका बुद्धिः संवृत्, तथा भासमान इत्यर्थः । प्रतिभासधर्मः=प्रतिभासकाले अर्थस्य धर्म इत्यर्थः । विज्ञानवादिन इयमाशङ्केति मते तु ज्ञानधर्म इत्यर्थो बोध्यः ।

(२) स्वव्यञ्जकाञ्जनः=स्वाऽभिव्यक्तिहेतुसामग्र्याऽभिव्यज्यमानः सन् प्रादुर्भवति=वर्तमानाऽवस्थां प्राप्नोति, मुद्गरप्रहारादिना च धर्मान्तरोदये तिरोभवति=अतीताऽवस्थां प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेन सत्कार्यवाद उक्तः । तत्र प्रमाणमाह “फलेन व्यक्तेनाऽनुमितः=अभिव्यक्तिलक्षणेन कार्येणाऽनुमितः । असदभिव्यक्तौ तु सर्वत्र सर्वाऽभिव्यक्तिप्रसङ्ग इति भावः । तथा च सांख्यसूत्रं “सर्वत्र सर्वदा सर्वाऽसम्भवादिति” अ० १ सू० ११६ ।

(३) “योऽसावेकश्च” इत्यादिनाऽयमेको महान् स्थूलो घट इति प्रत्यक्षमेवाऽवयविनिष्पन्नाप्रमित्युक्तम् । तथाहि, किमेकबुद्धिरभिन्नाऽर्थविषया ? आहोस्विन्नानाऽर्थविषया ? आद्ये अवयविसिद्ध्याऽर्थान्तराऽनुज्ञानम् । द्वितीये भिन्नेष्वेकदर्शनाऽनुपपत्तिः । न च यथा सेनाङ्गेषु चनाङ्गेषु च दूरादगृह्यमाणपृथक्त्वेण, एकमिदमिति बुद्धिरुत्पद्यत एवं परमाणुषु सञ्चितेष्वगृह्यमाणपृथक्त्वेणैकोऽयमिति बुद्धिरुत्पत्स्यत इति साम्प्रतम् । तथा सति परमाणूनामतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वात्प्रत्यक्षाऽनुपपत्तेः । तथाच न्यायसूत्रं “सेनावनादिवदिति चेन्नाऽतीन्द्रियत्वादणूनाम्” इति । अधिकमात्मतत्त्वविवेके निरीक्ष्यम् ।



भा० महौश्राणीयाँश्च स्पर्शवाँश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च, तेनाऽवय-  
विना व्यवहाराः क्रियन्ते । यस्य पुनस्त्वस्तुकः स प्रचयविशेषः<sup>(१)</sup>

टी० वा । भिन्नत्वे गवाश्चवद् धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः । अभिन्नत्वे धर्मिरूपवत्तदनु-  
पपत्तेः । तस्मात्कथञ्चिद् भिन्नः कथञ्चिदभिन्नश्चास्थेयस्तथा च सर्वमुपप-  
द्यते । “भूतसूक्ष्माणाम्” इति षष्ठ्या कथञ्चिद् भेदं सूचयति, “आत्मभूत”  
इति चाभेदम् । फलेन व्यक्तेन = तदनुभवलक्षणेन तद्व्यवहासलक्षणेन च व्य-  
क्तेन विप्रतिपन्नं प्रत्यनुमापितः कारणभेदेन च कारणाकारतोपपन्नेत्याह “स्व-  
व्यञ्जकाञ्जन” इति । स किं तदात्मभूतो धर्मो नित्यो ? नेत्याह “धर्मान्तर”  
इति । धर्मान्तरस्य = कपालादेरुदय इत्यर्थः । तस्यावयविनः परमाणुभ्यो  
व्यावृत्तं रूपमादर्शयति “स एष” इति । परमाणुसाध्यायाः क्रियाया अन्या  
क्रिया मधूदकादिधारणलक्षणा तद्धर्मक इति । न केवलमनुभवादपि तु व्यव-  
हारतोऽपि तन्निबन्धनत्वाल्लोकयात्राया इत्याह “तेन” इति । स्यादेतद्, असति  
बाधकेऽनुभवोऽवयविनं व्यवस्थापयेद्, अस्ति च बाधकं यत्सत् तत्सर्वमनव-  
यवं यथा विज्ञानं सच्च गोघटादि इति स्वभावहेतुः, <sup>(२)</sup> सत्त्वं हि <sup>(३)</sup> विरुद्धधर्मसं-  
सर्गरहितत्वेन व्याप्तं, तद्विरुद्धश्च विरुद्धधर्मसंसर्गः साऽवयव उपलभ्यमानो  
व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या <sup>(४)</sup> सत्त्वमपि निवर्त्तयति । अस्तिचावयविनि <sup>(५)</sup> तद्दे-

टि० (१) यस्य = सौगतस्य मते स प्रचयविशेषः = स्थूलरूपः परिणामोऽवयवी, अवस्तुकः =  
तुच्छस्तस्याऽवयव्यभावाद् हेतोः सर्वमेव मिथ्याज्ञानं प्राप्तमित्यन्वयः ।

(२) स्वभावहेतुः - अनौपाधिको हेतुः सद्धेतुरिति न अर्थान्तरम् । सदनुमानस्येयं प्राचां संज्ञा ॥

(३) ननु घटादिकं निरवयवं सत्त्वाद् विज्ञानवद् इत्यनुमानप्रयोजकं हेतुस्तु साध्यं  
मा भूदिति विपक्षे बाधकाऽभावादित्याशङ्क्य विपक्षे साऽवयवे सत्त्वनिवृत्तिमेव बाधकमाह,  
“सत्त्वं हीत्यादिना, निवर्त्तयतीत्यन्तेन” ।

(४) व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या = घटादयो न सन्तः । विरुद्धधर्मसंसर्गरहित्यवैधुष्यादित्येकं  
व्यापकाऽभावेन व्याप्याऽभावाऽनुमानेन विरुद्धधर्मसंसर्गः सत्त्वमपि निवर्त्तयति इत्यर्थः ।

(५) वृक्षे कासु चिच्छाखासु कम्पमानासु तदंशेऽवयवी कम्पते, इतरास्वकम्पमानासु  
तदंशे न कम्पते । न चैतदेकस्मिन् वृक्षाऽवयविनि संघटते । न हि सम्भवति — तदेव  
कम्पते न कम्पते चेति, तथा घटादिष्वप्यर्द्धमात्रियतेऽर्द्धेति, तथा पटादावप्यर्द्धं रक्तं  
दृश्यतेऽर्द्धं नेत्येवंलक्षणो विरुद्धधर्मसंसर्गोऽवयविन्यस्तीति नाऽसिद्धो हेतुरिति भावः ।



टी० शत्वाऽतद्देशत्वाऽऽवृतत्वाऽनावृतत्वरक्ताऽरक्तत्वचलाऽचलत्वलक्षणो वि-  
 रुद्धधर्मसंसर्ग इत्यत आह, “यस्य पुनः” इति । अयमभिप्रायः । अनुभवसिद्धं  
 सत्त्वं हेतुः क्रियते यत्किल पांशुलपादुको हालिकोऽपि प्रतिपद्यते अन्य-  
 द्वाऽनुभवसिद्धात् । तत्राऽन्यदसिद्धत्वादहेतुः । अनुभवसिद्धान्तु घटादीनां  
 सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वरूपं न स्थूलादन्यत् । सोऽयं हेतुः स्थूलत्वमपाकुर्वन्ना-  
 त्मानमेव व्याहन्ति । ननु न स्थूलत्वमेव सत्त्वम्, अपि त्वसतो व्यावृत्तिः,  
 अस्थौल्यव्यावृत्तिश्च स्थौल्यं, व्यावर्त्यभेदाच्च व्यावृत्तयो भिद्यन्ते, अतः  
 स्थौल्याऽभावेऽपि न सत्त्वव्याहतिरन्यत्वात् । भवतु वा व्यावृत्तिभेदादवसा-  
 यविषयभेदो यत्पूर्वकास्त्वंवसायास्तस्याऽनुभवस्याऽविकल्पस्य प्रमाणस्य  
 को विषय इति निरूपयतु भवान् । रूपपरमाणवो<sup>(१)</sup> हि निरन्तरोत्पादा अगृ-  
 हीतपरमसूक्ष्मतत्त्वा इति चेत् । हंतै<sup>(२)</sup> ते गन्धरसस्पर्शपरमाणुभिरन्तरिता न  
 निरन्तराः । तस्मादन्तरालाऽग्रहे एकघनवनप्रत्ययवत्परमाण्वालम्बनः स-  
 न्नयं विकल्पो मिथ्येति तत्प्रभवा विकल्पा न पारम्पर्येणापि वस्तुप्रतिबद्धा इति  
 कुतस्तदवसितस्य सत्त्वस्यानवयवत्वसाधकत्वम् । तस्मादविकल्पस्य प्रत्यक्षस्य  
 प्रामाण्यमिच्छता तदनुभूयमानस्थौल्यस्यैव सत्त्वमविकल्पावसेयमकामयता-

टि० (१) भवतु वेत्यादिना कल्पनाऽपोढाख्यस्य निर्विकल्पप्रमाणस्य को विषय इति सिद्धा-  
 न्तिना पृष्टे वैभाषिक आह—“रूपपरमाणवो हि” इति । एकविज्ञानोपारोहिणो निर-  
 न्तरमुत्पन्ना रूपपरमाणव एव स्थौल्यं, स एव प्रतिभासकालिकोऽर्थस्य धर्मो गोचरः ।  
 तेन मा नाम भूत्नीलत्वादिवत् परमाणुधर्मः स्थौल्यं, प्रत्येकं परमाणुष्वभावात् । प्रतिभास-  
 दशाऽऽपन्नानां तु तेषां भविष्यति बहुत्वादिव सांवृतं स्थौल्यम् । यथाहुः “ग्रहेऽनेकस्य  
 चैकेन किञ्चिद् रूपं हि गृह्यते । सांवृतं प्रतिभासस्थं तदेकात्मन्यसम्भवात् । न च तद्दर्शनं  
 भ्रान्तं नानावस्तुग्रहाद् यतः । सांवृतं ग्रहणं नाऽन्यन्न च वस्तुग्रहो भ्रम” इति । इति  
 वैभाषिकाऽऽकृतम् ।

(२) नैरन्तर्याऽवभासस्य भ्रमत्वमापादयन् पूर्वोक्तं निराकरोति सिद्धान्ती “हंतैते”  
 इति । यदि हि निरन्तरा रूपपरमाणव एवैकधीगोचरास्तर्हि रूपपदार्थे रसगन्धस्पर्श-  
 परमाणूनामपि सत्त्वेन रूपपरमाणूनां नैरन्तर्यमसिद्धम् । तैतश्च सान्तरेषु वृक्षेषु दूराद्  
 घनवनप्रत्ययवत् सान्तरेषु परमाणुषु भ्रान्त एव स्थौल्यप्रत्यय इति भावः । नचाऽऽरोप्यते  
 नैरन्तर्यमिति साम्प्रतम् । इतरतेराऽऽश्रयदोषप्रसङ्गात् । तदुक्तमुदयनाऽऽचार्यैरात्मतत्त्ववि-  
 वेके “नैरन्तर्याऽऽरोपे तेषां स्थूलानां ग्रहणं तद्ग्रहणे च सति नैरन्तर्यारोप” इति ।



भा० सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यमविकल्पस्य<sup>(१)</sup> तस्याऽवयव्यभा-  
वाद्दत्तद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मि-  
थ्याज्ञानमिति । तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्याद्विषयाऽभा-  
वाद्, यद् यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाघातं, \* तस्मादस्त्यवय-  
वी यो महत्त्वादिव्यवहाराऽऽपन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया विषयो  
भवति ॥४३॥

सू० एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया  
व्याख्याता ॥४४॥

टी० ऽभ्युपेयम् । तथाचतद्वाधमानं सत्त्वात्मानमेवाऽपवाधेत् । परमसूक्ष्माः पर-  
माणवो विजातीयपरमाण्वन्तरिता अनुभवविषया इति व्याहृतमङ्गीकरणम् ।  
तदिदमुक्तं 'यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषो निर्विकल्पस्य विषय इति ।  
सन्तु तर्हि सूक्ष्माः परमाणवो निर्विकल्पविषया इत्यत आह "सूक्ष्मं च  
कारणमनुपलभ्यमविकल्पस्य" इति । तस्याऽवयव्यभावाद् हेतोः 'अतद्-  
रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानम्' इति लक्षणेन सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानं = यत्  
स्थौल्याऽऽलम्बनं यच्च तदधिष्ठानसत्त्वाऽऽलम्बनमित्यर्थः । नन्वेताव-  
ताऽपि न ज्ञानमात्मनि मिथ्या भवति तस्याऽवयवित्वेनाऽप्रकाशादित्यत  
आह "प्रायेण" इति । ननु किमेतावताऽपीत्यत आह "तदा च" इति ।  
सत्त्वादिज्ञानं चेन्मिथ्या तदा सत्त्वादिहेतुकमनवयवित्वादिज्ञानमपि मि-  
थ्यैव । तस्याऽपि हि निर्विकल्पागोचराऽस्थूलमेवावसेयतया विषयः । स च  
नास्तीति तात्पर्यार्थः । विषयाऽभाव एव कुत इत्यत आह "यद् यद्"  
इति । विरोधश्च<sup>(२)</sup> परिणामवैचित्र्येण भेदाऽभेदेन चोक्तोपपत्त्यनुसारे-  
णोद्धर्तव्य इति सर्वं रमणीयम् ॥४३॥

सू० "एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता" ।  
अमिव्यक्तो घटादिधर्मो यैस्ते तथोक्ताः, घटादिधर्मोपगृहीता इति यावत् ।

टि० (१) अविकल्पस्येति न सार्वत्रिकः पाठः । सूक्ष्मं यदवयवाऽऽख्यं कारणं तद् अविकल्पस्या-  
ऽनुपलभ्यं निर्विकल्पप्रत्यक्षाऽप्राप्त्यमिति यावादिति योजना । \* आम्नातमिति पाठान्तरम् ।

(२) ननु ग्रहणाऽग्रहणतद्देशत्वाऽतद्देशत्वादिविरोधपरिहारः कथमत आह "विरोधश्च"  
इति । एतच्च पञ्चविधविरोधध्वंसनप्रस्ताव आत्मतत्त्वविवेके स्पष्टम् ।



भा० तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिर्व्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवाऽव-  
च्छिन्नेषु या समापत्तिरुता सविचारेत्युच्यते । तत्राऽप्येकबुद्धिनि-  
र्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बीभूतं समाधिप्रज्ञा-  
यामुपतिष्ठते । या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मा-  
ऽनवच्छिन्नेषु सर्वधर्माऽनुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः

देशः = उपर्य्यधःपार्श्वादिः, कालो = वर्त्तमानः, निमित्तम् = पार्थिव-  
स्य परमाणोर्गन्धतन्मात्रप्रधानेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्य उत्पत्तिः । एवमाप्यस्य  
परमाणोर्गन्धतन्मात्रवर्जितेभ्यो रसतन्मात्रप्रधानेभ्यश्चतुर्भ्यः, एवं तैज-  
सस्य परमाणोर्गन्धरसतन्मात्ररहितेभ्यो रूपतन्मात्रप्रधानेभ्यस्त्रिभ्यः, एवं  
वायवीयस्य परमाणोर्गन्धादि<sup>(१)</sup>तन्मात्रहीनाभ्यां स्पर्शप्रधानाभ्यां स्पर्श-  
शब्दतन्मात्राभ्याम्, एवं नाभसस्य शब्दतन्मात्रादेवैकस्मात् । तदिदं निमित्तं  
भूतसूक्ष्माणाम् । एतेषां देशकालनिमित्तानामनुभवस्तेनाऽवच्छिन्नेषु, नान-  
नुभूतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्य उपजायत इत्यर्थः । ननु सवितर्कया सह किं  
सारूप्यं सविचाराया इत्यत आह “तत्राऽपि” इति । पार्थिवो हि परमाणु-  
पञ्चतन्मात्रप्रचयाऽऽत्मा एकबुद्धिनिर्ग्राह्यः, एवमाप्यादयोऽपि चतुस्त्रि-  
द्वयेकतन्मात्राऽऽत्मान एकबुद्धिनिर्ग्राह्या वेदितव्याः । उदितो = वर्त्तमानो  
धर्मस्तेन विशिष्टम् । एतावता चात्र सङ्केतस्मृत्याऽऽगमानुमानविकल्पा-  
ऽनुबन्धः सूचितः । न हि प्रत्यक्षेण स्थूले दृश्यमाने परमाणवः प्रकाशन्तेऽपि  
त्वागमानुमानाभ्याम् । तस्मादुपपन्नमस्याः सङ्कीर्णत्वमिति । निर्विचारा-  
माह “या पुनरिति । सर्वथा = सर्वेण नीलपीतादिप्रकारेण । सर्वत इति  
सार्वविभक्तिकस्तसिः । सर्वैः = देशकालनिमित्ताऽनुभवैरित्यर्थः । तदनेन स्वरू-  
पेण कालाऽनवच्छेदः परमाणूनामिति दर्शितम् । नाऽपि तदाऽऽरब्धधर्म-  
द्वारेण<sup>(२)</sup> त्याह “शान्त” इति । शान्ताः = अतीताः, उदिताः = वर्त्त-  
माना, अव्यपदेश्याः = भाविष्यन्तो धर्मास्तैरनवच्छिन्नेषु । अनवच्छिन्ना  
धर्मैः परमाणवः किमसंबद्धा एव तैरित्यत आह “सर्वधर्मानुपातिषु<sup>(३)</sup>” इति ।

टि० \* अत्राऽपीति पाठान्तरम् । (१) गन्धादीत्यादिपदेन स्वरूपयोर्ग्रहणम् । (२) द्वारेण-  
त्यस्याऽग्रे कालाऽनवच्छेद इति शेषः । (३) सर्वधर्माऽनुपातिषु = सर्वधर्मानुगतेभ्यत्यर्थः ।



भा० सा निर्विचारेत्युच्यते । एवंस्वरूपं हि<sup>(१)</sup> तद् भूतसूक्ष्ममेतेनैव  
स्वरूपेणालम्बनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति । प्रज्ञा  
च स्वरूपशून्येवाऽर्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते,  
तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च, सूक्ष्मविषया सवि-  
चारा निर्विचारा च, एवमुभयोरेतयैव<sup>(२)</sup> निर्वितर्कया विकल्प-  
हानिर्व्याख्याता इति ॥ ४४ ॥

सू० सूक्ष्मविषयत्वं चाऽलिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

भा० पार्थिवस्याऽणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्य रसत-  
न्मात्रं, तैजसस्य रूपतन्मात्रं, वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्, आका-  
शस्य शब्दतन्मात्रमिति, तेषामहङ्कारः,<sup>(३)</sup> अस्याऽपि लिङ्ग-

टी० कतमेन सम्बन्धेन धर्माननुपतन्ति परमाणव इत्यत आह, “स-  
र्वधर्मात्मकेषु” \* इति । कथाञ्चिद् भेदः कथाञ्चिद्भेदो धर्माणां पर-  
माणुभ्य इत्यर्थः । कस्मात् पुनरियं समापत्तिरेतद्विषयेत्यत आह, “एवं  
स्वरूपं हि” इति । वस्तुतत्त्वग्राहिणी नाऽतत्त्वे प्रवर्तत इत्यर्थः ।

विषयमभिधायाऽस्याः स्वरूपमाह “प्रज्ञा च” इति । संकल्य स्व-  
रूपभेदोपयोगि विषयमाह “तत्र” इति । उपसंहरति “एवम्” इति ।  
उभयोः=आत्मनश्च † निर्विचारायाश्चेति ॥ ४४ ॥

किं भूतसूक्ष्म एव ग्राह्यविषया समापत्तिः समाप्यते ? न, किन्तु “सूक्ष्म-  
विषयत्वं चाऽलिङ्गपर्यवसानम्” ॥ पार्थिवस्य परमाणोः सम्बन्धिनी  
या गन्धतन्मात्रता सा समापत्तेः सूक्ष्मो विषयः । एवमुत्तरत्राऽपि योज्यम् ।

\* सर्वधर्मात्मकेषु=सर्वधर्माणामाश्रयेष्वित्यर्थः । † आत्मनश्च=निर्वितर्कायाश्चेत्यर्थः ।

टी० (१) हि-शब्दो हेत्वर्थे, यतस्तद् भूतसूक्ष्मम् एवंस्वरूपमत एतेनैव स्वरूपेणाऽऽलम्ब-  
नीभूतं सत् समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति=स्वसमानाऽऽकारं करोतीत्यर्थः ।

(२) एतया=पूर्वसूत्रोक्तया निर्वितर्कयैव, उभर्याः=निर्वितर्काया निविचारायाश्च, वि-  
कल्पहानिः=शब्दार्थविकल्पशून्यता, व्याख्यातेत्यर्थः । उभयोरित्यस्य सविचारनिर्विचारयो-  
रित्यर्थ इति विज्ञानभिक्षुव्याख्यानं तु महदसङ्गतम् । सविचाराया विकल्पशून्यत्वाभावात् ।  
(३) तेषाम्—पञ्चतन्मात्राणां कारणं येऽहङ्कारः स तेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्यः



भा० मात्रं सूक्ष्मो विषयः । लिङ्गमात्रस्याऽप्यलिङ्ग सूक्ष्मो विषयः ।  
 न चाऽलिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति । नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति<sup>(१)</sup>  
 सत्यम् । यथा लिङ्गात्परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं, न चैवं पुरुषस्य, किन्तु  
 लिङ्गस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति हेतुस्तु भवतीति<sup>(२)</sup> ।  
 अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥ ४५ ॥

लिङ्गमात्रं=महत्तत्त्वं, तद्धि लयं गच्छति प्रधान इति । अलिङ्गं = प्र-  
 धानं, तद्धि न क्वचिल्लयं गच्छति इत्यर्थः । अलिङ्गपर्यवसानत्वमा-  
 “नचाऽलिङ्गात्परम्” इति । चोदयति “ननु” इति । पुरुषोऽपि सूक्ष्म-  
 नाऽलिङ्गमेवेत्यर्थः । परिहरति “सत्यम्” इति । उपादानतया सौक्ष्म्य-  
 अलिङ्ग एव नाऽन्यत्रेत्यर्थः । तत्र पुरुषार्थनिमित्तत्वान्महदहङ्कारादेः पुरु-  
 षोऽपि कारणमलिङ्गवद्<sup>(३)</sup> इति । कुत एवंलक्षणम् अलिङ्गस्यैव सौक्ष्म-  
 मित्याशयवान् पृच्छति “किन्तु” इति । उत्तरमाह “लिङ्गस्य” इति  
 सत्यं कारणं, न तूपादानम् । यथा हि प्रधानं महदादिभावेन परिणामं

सूक्ष्मो विषयः समापत्तेरित्यर्थः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । यद्वा तेषामित्यादिषष्ठ्यन्ता-  
 पञ्चम्यन्ताऽर्थकानि ।

(१) ननु “अव्यक्तात्पुरुषः पर” इति श्रुत्या पुरुष एव निरतिशयं सौक्ष्म्यमाख्याय-  
 तत्कथं प्रधाने सौक्ष्म्यकाष्ठाकथनमित्याशयेन शङ्कते “नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म” इ-  
 अङ्गीकरोति “सत्यम्” इति । कथन्तर्हि अलिङ्गापर्यवसानमित्युक्तमत आह । “यथा-  
 इति । यथा-शब्दो यादृशार्थकः । तथा च यादृशं परिणामित्वेनोपादानतया महत्तत्त्वं  
 ऽपेक्षितं सौक्ष्म्यं प्रधानेऽस्ति, नैवं पुरुषस्य प्रधानाऽपेक्षितं सौक्ष्म्यम् । पुरुषस्याऽप-  
 णामित्वात् । परिणामित्वसमानाधिकरणसौक्ष्म्यस्य प्रधान एव विश्रान्तिरिति भावः ।

(२) इति = शब्दो हेत्वर्थः । यतः पुरुषो हेतुः = निमित्तकारणमेव लिङ्गादीनां, नाऽ-  
 यिकारणम् = उपादानकारणम्, अत उपादानतया विवक्षितं सौक्ष्म्यं प्रधान एव निरति-  
 व्याख्यातं सूत्रकृता । अन्वयिकारणत्वाऽविवक्षयान्तु पुरुषोऽपि सूक्ष्मोऽस्त्येवेति भावः ।

(३) अलिङ्गवत् प्रधानवदित्यर्थः । महदहङ्कारादेः पुरुषार्थनिमित्तत्वात्पुरुषोऽपि म-  
 दहङ्कारादेः कारणमेव प्रधानवद् इति = यतोऽतः कुत एवं लक्षणम् = उपादान-  
 लक्षणमलिङ्गस्यैव सौक्ष्म्यमित्यर्थः ।



सू० ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

भा० तादृचतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा<sup>(१)</sup> इति समाधिर-  
पि सबीजः । तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः, सूक्ष्मेऽर्थे स-  
विचारो निर्विचार इति चतुर्ध्वोपसंख्यातः समाधिरिति ॥४६॥

टी० न तथा पुरुषस्तद्धेतुरपीत्यर्थः<sup>(२)</sup> । उपसंहरति “अतः प्रधान एव  
सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम्” इति ॥४५॥

चतसृणामपि समापत्तीनां ग्राह्यविषयाणां सम्प्रज्ञातत्वमाह “ता एव  
सबीजः समाधिः” ॥४६॥ एव-कारो भिन्नक्रमः<sup>(३)</sup> सबीज इत्यस्या-  
ऽनन्तरं द्रष्टव्यः । ततश्चतस्रः समापत्तयो ग्राह्यविषयाः सबीजतया निय-  
म्यन्ते । सबीजता त्वनियता ग्रहीतृग्रहणगोचरायामपि समापत्तौ विकल्पा-  
ऽविकल्पभेदेनाऽनिषिद्धा व्यवतिष्ठते । तेन ग्राह्ये चतस्रः समापत्तयो  
ग्रहीतृग्रहणयोश्च चतस्र इत्यष्टौ ते \* भवन्तीति । निगदव्याख्यातं  
भाष्यम् ॥४६॥ \* समाधयः ।

टि० (१) बहिर्वस्तुबीजाः = अस्मिताद्यनात्मवस्त्वेवाऽऽलम्बनत्वेन बीजं यासां ता बहिर्वस्तु-  
बीजा इत्यर्थः । (२) तद्धेतुरपि = तेषां महदादीनां निमित्तकारणमपि पुरुषो, न  
तथा = न प्रधानवन्महदाद्याकारपरिणामीत्यर्थः ।

(३) ननु सूत्रे ता एव इत्यनेन पूर्वोक्तानां ग्राह्यविषयाणां चतसृणां समापत्तीनामेव  
परामर्शात्तासामेव सबीजत्वेन सम्प्रज्ञातत्वं स्यात्, तथाच ग्रहीतृग्रहणसमापत्तयोः सबीज-  
त्वाऽनुक्त्या न्यूनतापत्तिरित्यत आह “एवकारो भिन्नक्रमः” इति । तथा च नाऽनेन सूत्रेण  
चतसृणामेव समापत्तीनां सबीजत्वमुच्यते, किन्तुहि सबीजा एवेमे इति निर्बीजत्वं निषिद्ध्यते ।  
तथा चेतयोः समापत्तयोः सबीजत्वमक्षतमेवेति ॥ यच्चाहोपुरुषिकया मत्सरेण विज्ञानभिक्षु-  
णोद्धारि- न एवकारो भिन्नक्रमो, ग्रहीत्रादिसमापत्तेः सबीजत्वाऽनुक्त्याऽत्र सूत्रकारस्य  
न्यूनतापत्तेरित्यादि । तदसत्, ग्रहणग्रहीतृसमापत्त्योरपि सबीजत्वस्य सर्वसम्मतत्वेनोपायान्तरा-  
ऽभावाच्चन्यूनतापरिहारार्थैवं व्याख्यानस्याऽऽवश्यकत्वात् । किञ्च । यदि च सूत्रकृता  
ग्रहीतृग्रहणसमापत्तयोः सबीजत्वं नोक्तं, तत्कथं त्यक्ताऽपत्रपेन ता = ग्रहीतृग्रहणग्राह्य-  
समापत्तय एव सबीजः समाधिरित्येवं सूत्रार्थो वर्णितस्त्वयेत्येकं विस्तरेण । वस्तुतस्तु



सू० निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

भा० अशुद्ध्याऽऽवरणमलाऽपेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रबाहो वैशारद्यम् । यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादः = भूतार्थविषयः क्रमाऽननुरोधी स्फुटप्रज्ञालोकः<sup>[१]</sup> तथाचोक्तं, “प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् । भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति” ॥४७॥

टी० चतसृषु समापत्तिषु ग्राह्यविषयासु निर्विचारायाः शोभनत्वमाह “निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः” ॥४७॥ वैशारद्यपदार्थमाह “अशुद्धिः” इति । रजस्तमसोरुपचयोऽशुद्धिः सैवाऽऽवरणलक्षणो मलस्तस्मादपेतस्य, प्रकाशात्मनः = प्रकाशस्वभावस्य, बुद्धिसत्त्वस्य अत एवाऽनभिभूतः । स्यादेतद्, ग्राह्यविषया चेतु समापत्तिः कथमात्मविषयः प्रसाद इत्यत आह, “भूतार्थविषय” इति । नात्मविषयः किन्तु तदाधार इत्यर्थः । क्रमाऽननुरोधी = युगपदित्यर्थः । अत्रैव पारमर्षीङ्गाथामुदाहरति “तथाच” इति । ज्ञानाऽऽलोकप्रकर्षेणात्मानं सर्वेषामुपरि पश्यन् दुःखत्रयपरीतान् शोचतो जनान् जानातीत्यर्थः ॥४७॥

टि० ग्रहीतृग्रहणयोरपि चित्तवृत्तिदशायां ग्राह्यकोटौ निक्षेपाद्, ग्रहीतृग्रहणसमापत्तयोरपि ग्राह्यसमापत्तावन्तर्भाव इति ता एवेति वदतः सूत्रकारस्याशयः । तथा हि । इन्द्रियविषया हि वृत्तिर्ग्रहणसमापत्तिरस्मिताविषया च ग्रहीतृसमापत्तिरित्युच्यते । अस्मितेन्द्रिययोश्च सूक्ष्मविषयत्वं स्पष्टमेव । अतएव सूक्ष्मग्राह्यविषये सविचारनिर्विचारे समापत्तौ उक्त्या सूक्ष्मविषयः किम्पर्यन्त इत्याकांक्षायामलिङ्गपर्यन्तः सूक्ष्मो विषय इत्युक्तं सूत्रकृता । यद्यपि आप्यकृतेन्द्रियाणां सूक्ष्मत्वं नेक्तं । नथपि तन्मात्रैरिन्द्रियाण्यप्युपलक्षणीयानि । सविचारनिर्विचारभेदेव संप्रज्ञातस्य द्वैविध्येऽपि तदवान्तरभेदमादाय “क्षीणवृत्ते” इति सूत्रेण त्रैविध्यमभिहितम् । तत्राऽप्यवान्तरभेदेन “वितर्कविचार” इत्यनेन चातुर्विध्यमुक्तम् । तत्रापि च विकल्पाऽविकल्पभेदेनाष्टविधत्वमिति तत्त्वम् । एतेन षोढा सम्प्रज्ञात इति विज्ञानोक्तिर्नादरणीया ।

(१) भूतार्थविषयः = यथार्थवस्तुविषयः । क्रमाननुरोधी = युगपत्सर्वार्थग्राही, स्फुटः = प्रत्यक्षो ज्ञानालोको, न श्रुताऽनुमितरूप इत्यर्थः ।



सू० ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

भा० तस्मिन्<sup>(१)</sup> समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति सञ्ज्ञा भवति । अन्वर्था च सा । सत्यमेव विभर्ति, न तत्र विपर्ययास-  
गन्धोऽप्यस्तीति । तथाचोक्तम् “आगमेनाऽनुमानेन ध्यानाभ्यास-  
रसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्” इति ॥ ४८ ॥

भा० सा पुनः,—

सू० श्रुताऽनुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थ-  
त्वात् ॥ ४९ ॥

टी० अत्रैव योगिजनप्रसिद्धाऽन्वर्थसञ्ज्ञाकथनेन योगिसंमतिमाह । “ऋत-  
म्भरा तत्र प्रज्ञा” ॥ ४८ ॥ सुगमं भाष्यम् । ‘आगमेन’-इति वेदविहितं श्रवण-  
मुक्तम्, ‘अनुमानेन’-इति मननं, ध्यानं=चिन्ता, तस्याऽभ्यासः=पौनः  
पुन्येनाऽनुष्ठानं, तस्मिन् रस=आदरः । तदनेन निदिध्यासनमुक्तम् ॥ ४८ ॥  
स्यादेतद्, आगमाऽनुमानगृहीतार्थविषयभावनाप्रकर्षलब्धजन्मा निर्वि-  
चाराऽऽगमाऽनुमानविषयमेव गोचरयेत् । न खल्वन्यविषयाऽनुभवजन्मा  
संस्कारः शक्तोऽन्यत्र ज्ञानं जनयितुम् । अतिप्रसङ्गात् । तस्मान्निर्विचारा  
चेद् ऋतम्भराऽऽगमाऽनुमानयोरपि तत्प्रसङ्ग इत्यत आह “श्रुताऽनुमान-  
प्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वाद्” इति ॥ ४९ ॥ ॥ बुद्धिसत्त्वं  
हि प्रकाशस्वभावं सर्वार्थदर्शनसमर्थमपि तमसाऽऽवृतं यत्रैव रजसोद-  
घाट्यते तत्रैव गृह्णाति । यदा त्वभ्यासवैराग्याभ्यामपास्तरजस्तमोमल-  
मनवद्यवैशारद्यम् उद्द्योतते तदाऽस्याऽतिपतितसमस्तमानमेयसीम्नः<sup>(२)</sup>

टि० (१) सौत्रतत्रशब्दस्य व्याख्यानं-तस्मिन्निति । तस्मिन्=निर्विचारसमाधिवैशारद्यजन्ये-  
ऽध्यात्मप्रसादे सति, समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवती-  
त्यर्थः । तस्मिन्=सबीजयोगे समाहितचित्तस्येति विज्ञानीयविवरणं तु फलम् । व्यव-  
हितरामर्शस्यायुक्तत्वात् । (२) अतिपतिता=अतिक्रान्ता, समस्ता मानमेयसीमा=मर्यादा  
येन तस्य बुद्धिसत्त्वस्येत्यर्थः । मर्यादाऽतिक्रमणं च भूतभावप्यद्बुद्ध्यवहितसूक्ष्मवस्तु-  
ग्रहणेन बोध्यम् । तदेवाह “किन्नाम यन्न गोचर” इति । अपि त्वेतादृशबुद्धिसत्त्वस्य सर्वे  
एव गोचर इति भावः ।



भा० श्रुतम् = आगमविज्ञानम् । तत्सामान्यविषयम् । न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं, कस्माद्, न हि विशेषेण कृतसङ्केतः शब्द इति । तथाऽनुमानं सामान्यविषयमेव । यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिर्यत्रा-  
प्राप्तिस्तत्र न भवति गतिरित्युक्तम् । अनुमानेन च सामान्येनोप-  
संहारः । तस्माच्छ्रुताऽनुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति । न  
चाऽस्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणं,  
न चास्य विशेषस्याऽप्रामाणिकस्याऽभावोऽस्तीति 'समाधिप्रज्ञा-  
निर्ग्राह्य एवं स विशेषो भवति, भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा ।

टी० प्रकाशाऽऽनन्त्ये सति किञ्चाम यन्न गोचर इति भावः । व्याचष्टे “श्रुतमा-  
गमविज्ञानं तत्सामान्यविषयम्” इति । कस्माद् “न ह्यागमेन शक्यो  
विषयोऽभिधातुं” कुतः । यस्मादानन्त्याद्यभिचाराच्च न विशेषेण कृतसङ्केतः  
शब्दः । यस्मादस्य विशेषेण सह न वाच्यवाचकसम्बन्धः प्रतीयते, न च  
वाक्यार्थोऽपीदृशो विशेषः सम्भवति । अनुमानेऽपि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्ध-  
ग्रहणाऽधीनजन्मनि गतिरेषैवेत्याह “तथाऽनुमानम्” इति । यत्राऽप्राप्तिरि-  
त्यत्र, यत्रतत्रशब्दयोः स्थानपरिवर्त्तनेन व्याप्यव्यापकभावो गमयितव्यः<sup>(१)</sup>,  
अतोऽत्राऽनुमानेन सामान्येनोपसंहारः । उपसंहरति “तस्माद्” इति ।  
अस्तु तर्हि सम्बन्धग्रहाऽनपेक्षं लोकप्रत्यक्षं, न तत् सामान्यविषयमित्यत  
आह । “नचाऽस्य” इति । मा भूत् सम्बन्धग्रहाऽधीनं लोकप्रत्यक्षमि-  
न्द्रियाऽधीनं तु स्याद् । नचेन्द्रियाणामस्मिन्नस्ति योग्यतेत्यर्थः ।

ननु यद्यागमाऽनुमानप्रत्यक्षाऽगोचरो विशेषस्तर्हि नास्ति प्रमाणविरहादित्यत  
आह “नच” इति । न हि प्रमाणं व्यापकं कारणं वा प्रमेयस्य, येन तन्निवृत्तौ

- टि० (१) इति-शब्दो हेत्वर्थः । यतोऽप्रामाणिकस्य = लौकिकप्रत्यक्षाद्यगोचरस्याऽपि पुरुषादि-  
गतविशेषस्याऽभावो न शक्यते वक्तुमतः समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव सविशेष इति भावः ।  
(२) “नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशे मते । विपरीते प्रतीयेते ते एव तदभावयोः”  
इति भट्टपादवचनेनाऽभावयोर्वैपरीत्येन व्याप्यव्यापकभावाऽभ्युपगमाद्, यत्र गत्यभाव-  
स्तत्र प्राप्यभाव इति वैपरीत्येन व्याप्यव्यापकभावो गमयितव्य इत्यर्थः ।



भा० तस्माच्छ्रुताऽनुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थ-  
त्वाद् इति ॥ ४६ ॥ समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः  
संस्कारो नवो नवो जायते<sup>(१)</sup> ।

सू० तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥  
समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराऽऽशयं बाधते,

टी० निवर्त्तत । नो खलु<sup>(२)</sup> कलावतश्चन्द्रस्य परभागवर्त्तिहरिणसद्भावं प्रति  
नसन्दिहते प्रामाणिका इत्यर्थः । इति = तस्मात्समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एवेति ।  
अत्र च विवादाऽध्यासिताः परमाणव आत्मानश्च प्रातिस्विकविशेषशालिनः  
द्रव्यत्वे सति परस्परं व्यावर्त्तमानत्वाद्, ये द्रव्यत्वे सति परस्परं व्यावर्त्तन्ते  
ते प्रातिस्विकविशेषशालिनो यथा खण्डमुण्डादय इत्यनुमानेन, आगमेन च  
ऋतम्भरप्रज्ञोपदेशपरेण । यद्यपि विशेषो निरूप्यते, तदनिरूपणे संशयः स्याद् ।  
न्यायप्राप्तत्वात्, तथाऽप्यदूरविप्रकर्षेण तत्सत्त्वं कथञ्चिद्गोचरयतः श्रुता-  
ऽनुमाने, नतु साक्षाच्चार्थमिव समुच्चयादिपदानि लिङ्गसंख्यायोगितया ।  
तस्मात् सिद्धं श्रुताऽनुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयेति । स्यादेतद्, भवतु परमा-  
र्थविषयः सम्प्रज्ञातो यथोक्तोपायाऽभ्यासाद्, अनादिना तु व्युत्थानसंस्का-  
रेण निरूढनिबिडतया प्रतिबन्धनीया समाधिप्रज्ञा सा, \* वात्याऽऽवर्त्तमध्य-  
वर्त्तिप्रदीपपरमाणुरिव-इति शङ्कामपनेतुं सूत्रमवतारयति “समाधिप्रज्ञा”  
इति । सूत्रं पठति “तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी” ॥ ५० ॥ ‘तद्’ इति  
निर्विचारां समापत्तिं परामृशति ‘अन्य’ इति व्युत्थानमाह । भूतार्थपक्षपातो  
हि धियां स्वभावः । तावदेवेयमनवस्थिता भ्राम्यति नयावत् तत्त्वं प्रतिलभते  
तत्प्रतिलम्भे तत्रास्थितपदा सती संस्कारबुद्धिः संस्कारचक्रक्रमेणाऽऽवर्त्त-

टि० (१) निर्विचारसमाध्युत्कर्षजन्यऋतम्भरप्रज्ञालाभे सति यस्तत्समाधिजन्यः संस्कारो  
नवो नवो जायते स संस्कारोऽन्यसंस्काराणां = व्युत्थानसंस्काराणां प्रतिबन्धी भवतीत्येवं  
सूत्रणैकवाक्यतयाऽन्वयो बोध्यः ।

(२) प्रमाणनिवृत्तौ प्रमेयानिवृत्तिरित्यत्र दृष्टान्तमाह । “नो खलु” इति । कलावतः =  
द्वितीयाचन्द्रस्येत्यर्थः । हरिणसद्भावं = चन्द्रबाहनमृगसद्भावमित्यर्थः । \* वातसमूहः ।



भा० व्युत्थानसंस्काराऽभिभवात् तत्प्रभवा प्रत्यया न भवन्ति०  
 प्रत्ययानिरोधे समाधिरुपतिष्ठते, ततः समाधिप्रज्ञा, ततः प्रज्ञा०  
 कृताः संस्कारा इति नवो नवः संस्काराऽऽशयो जायते, ततः स  
 प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति । कथमसौ संस्काराऽऽतिशयश्चि  
 साऽधिकारं न करिष्यति इति, न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशा  
 ये हेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति । चित्तं हि ते स्वकार्या  
 वसादयन्ति । ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ॥५०॥

टी० मानमनादिमप्येतत्तत्त्वसंस्कारबुद्धिक्रमं बाधत एवेति । तथा च बाह्या  
 अप्याहुः “निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः । न बाधोऽनादिमत्त्वे  
 बुद्धेस्तत्पक्षपाततः<sup>(१)</sup>” इति । स्यादेतत्, समाधिप्रज्ञातोऽस्तु व्युत्थानजा  
 संस्कारस्य निरोधः, समाधिजस्तु संस्काराऽतिशयः समाधिप्रज्ञाप्रसवहेतु  
 स्यविकल इति तदवस्थैव चित्तस्य साऽधिकारतेति । चोदयति “कथमसौ  
 इति । परिहरति “न ते” इति । चित्तस्य हि कार्यद्वयं शब्दाद्युपभोगो वि  
 कख्यातिश्चेति । तत्र क्लेशकर्माशयसहितं शब्दाद्युपभोगे प्रवर्तते, प्रज्ञाप्र  
 संस्कारोन्मूलितनिखिलक्लेशकर्माशयस्य तु चेतसोऽवसितप्रायाऽधिकार  
 वस्य विवेकख्यातिमात्रमवशिष्यते कार्यम् । तस्मात्समाधिसंस्काराश्चित्त  
 न भोगाधिकारहेतवः, प्रत्युत तत्परिपन्थिन इति । स्वकार्याद् = भोगल  
 णाद्, अवसादयन्ति = असमर्थं कुर्वन्ति इत्यर्थः । कस्मात्, ख्यातिपर्यवसा  
 हि चित्तचेष्टितम् । तावद्धि भोगाय चित्तं चेष्टते न यावद्विवेकख्यातिम  
 भवति । संजातविवेकख्यातिनस्तु क्लेशनिवृत्तौ न भोगाऽधिकार इत्यर्थः  
 तदत्र भोगाऽधिकारप्रशान्तिः प्रयोजनं प्रज्ञासंस्काराणामित्युक्तम् ॥५१॥

टि० (१) बाह्याः = वेदबाह्यास्तथागतमताऽनुगता इत्यर्थः ।

(३) नीलपीतादिविपर्ययज्ञानानामनादिमत्त्वेऽपि न तैर्विपर्ययज्ञानैर्निरुपद्रवभू  
 तस्वभावस्य = चतुर्विधभावनाजन्यस्य नीलपीताद्युपप्लवशून्यविशुद्धविज्ञानसन्तानोद  
 बाध इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह — “बुद्धेस्तत्पक्षपाततः” = तत्त्वपक्षपातस्य ज्ञानस्वभा  
 दित्यर्थः । यत्तत्र योगवार्त्तिककारेणोक्तम् “अखिलसंस्कारबाधस्य योगफलवचनात्प्रक  
 कर्मणोऽप्यतिक्रमेणाशुतरमोक्षः केवलज्ञानाऽसाध्यो योगस्य फलम् । न हि भोगसंस्कृ  
 निःशेषतो दाहे प्रारब्धकर्माऽपि फलायाऽलम्” इति । तदेतद्यद्यपि न मन्दं त  
 मिनिवेशलक्षणसूत्रे सम्प्रज्ञातयोगिनोऽपि संस्कारवेशोऽभिनिवेशोऽस्तीत्येता  
 वदता कथं मन्दाक्षं त्यक्तमिति प्रष्टव्योऽसौ ।



निहा० किञ्चाऽस्य भवति ।

सू० तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धी भवति । कस्माद्, निरोधजः संस्कारः समाधिजान् संस्कारान् बाधत इति । निरोधस्थितिकालक्रमाऽनुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्काराऽस्तित्वमनुमेयम् ।

०॥ पृच्छति । “किञ्च” इति किञ्चाऽस्य भवति = प्रज्ञासंस्कारवच्चित्तं प्रज्ञाप्रवाहजनकतया तथैव साधिकारमित्यधिकारापनुत्तयेऽन्यदपि किञ्चिदपेक्षणीयमस्तीत्यर्थः<sup>(१)</sup> । सूत्रेणोत्तरमाह “तस्याऽपि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः” ॥ ५१ ॥

परेण वैराग्येण ज्ञानप्रसादमात्रलक्षणेन संस्कारोपजनद्वारा तस्याऽपि प्रज्ञाकृतस्य संस्कारस्य निरोधो, न केवलं प्रज्ञाया इत्यपिशब्दार्थः । सर्वस्योत्पद्यमानस्य संस्कारप्रवाहस्य निरोधात् कारणाभावेन कार्य्यानुत्पादनात्, सोऽयं निर्बीजः समाधिः । व्याचष्टे “स” इति । सः = निर्बीजः समाधिः । समाधिप्रज्ञाविरोधिनः परस्माद्वैराग्याज्जायमानः<sup>(२)</sup> स्वकारणद्वारेण<sup>(३)</sup> न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानामप्यसौ संस्काराणां परिपन्थी भवति । ननु वैराग्यजं विज्ञानं सद्विज्ञानं प्रज्ञामात्रं बाधतां, संस्कारं त्वविज्ञानरूपं कथं बाधते । दृष्टा हि जाग्रतोऽपि स्वप्नदृष्टार्थे स्मृतिरित्याशयवान् पृच्छति “कस्माद्” इति । उत्तरमाह । “निरोधज” इति । निरुद्धयते प्रज्ञाऽनेनेति निरोधः = परं वैराग्यं, ततो जातो निरोधजः संस्कारः । संस्कारादेव दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितपरवैराग्यजन्मनः प्रज्ञासंस्कारबाधो, न तु विज्ञानादित्यर्थः । स्यादेतद्, निरोधजसंस्कारसद्भावे किं प्रमाणं ? स हि प्रत्यक्षेण वाऽनुभूयेत, स्मृत्या वा कार्य्येणाऽनुमीयेत । न च सर्ववृत्तिनिरोधे प्रत्यक्षमस्ति योगिनो, नाऽपि स्मृतिः, तस्य वृत्तिमात्रनिरोधतया स्मृतिजनकत्वाऽसम्भवादित्यत आह, “निरोध” इति । निरोधस्थितिः = चित्तस्य

०॥ (१) समाधिप्रज्ञायास्तत्संस्काराणां च निरोधायाऽन्यदपि किंचिदपेक्षणीयमस्ति, न वेत्यर्थः । (२) उपजायमान इति पाठान्तरम् ।

(३) स्वकारणद्वारेण = विरामप्रत्ययाऽभ्यासकारणकज्ञानप्रसादलक्षणपरवैराग्यद्वारेणेत्यर्थः ।



भा० व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्याम्प्रकृताववस्थितायां प्रविलीयते, तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याऽधिकारविरोधिना न स्थितिहेतवो, यस्मादवस्थिताऽधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं विनिवर्तते तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपप्रतिष्ठोऽतः शुद्धमुक्त इत्युच्यते ॥ ५१ ॥  
इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने<sup>(१)</sup> योगशास्त्रे समाधिपादः प्रथमः ।

टी० निरुद्धाऽवस्था, तस्याः कालक्रमो = मुहूर्त्ताऽर्द्धयामयामाऽहोरात्रादि तदनुभवेन । एतदुक्तं भवति । वैराग्याभ्यासप्रकर्षानुरोधी निरोधप्रकर्षो मुहूर्त्ताऽर्द्धयामादिव्यापितयाऽनुभूयते योगिना । न च परवैराग्यक्षणाः क्रमव्यतिथयस्तया परस्परमसम्भवन्तस्तत्तत्कालव्यापितया साऽतिशयं निरोधं कर्तुमीशत इति तत्तद्वैराग्यक्षणप्रचयजन्यः स्थायी संस्कारप्रचय एषितव्य इति भावः । ननुच्छिद्यन्तां प्रज्ञासंस्कारा, निरोधसंस्कारस्तु कुतः समुच्छिद्यन्तः अनुच्छेदे वा साऽधिकारत्वमेवेत्यत आह “व्युत्थान” इति । व्युत्थानं तस्य निरोधसमाधिश्च = सम्प्रज्ञातः, तत्प्रभवा संस्काराः कैवल्यभागीयानि निरोधजाः संस्कारा इत्यर्थः । व्युत्थानप्रज्ञासंस्काराश्चित्ते प्रलीना इति स चित्तं व्युत्थानप्रज्ञासंस्कारवत् । निरोधसंस्कारस्तु प्रत्युदित एवाऽऽस्ते चित्तं निरोधसंस्कारे सत्यपि चित्तमनधिकारवत् । पुरुषार्थजनकं हि चित्तं साऽधिकारं, शब्दाद्युपभोगविवेकख्याती च तथा पुरुषार्थौ । संस्कारशेषतायान्तु बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इति नाऽसौ पुरुषार्थः । विदेहप्रकृतिलयानां न निरोधभागीतया साधिकारं चित्तम्, अपि तु क्लेशवासिततयेत्याशयवानाह तस्मादिति । शेषं सुगमम् । “योगस्यो<sup>(२)</sup> देशनिर्देशौ तदर्थं वृत्तिलक्षणम् । गोपात्ताः प्रभेदाश्च पादेऽस्मिन्नुपवर्णिताः” ॥ इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते पातञ्जलभाष्यव्याख्यायां (तत्त्ववैशारद्यां) प्रथमः समाधिपादः समाप्तः ॥

टि० (१) सांख्यप्रवचने = साङ्ख्यशास्त्रस्यैव प्रकर्षेण वचनं साङ्ख्यप्रवचनं साङ्ख्यगुणमवादेनेश्वरं प्रतिषिद्ध्यासम्प्रज्ञातयोगनिरपेक्षात् तत्त्वज्ञानान्मोक्ष उक्तोऽत्र तु निरुद्धाऽसन्दिग्धैच्छिकमुक्तिनियमाय परमेश्वरविद्याऽऽशुमोक्षहेतुरसम्प्रज्ञातयोगश्च प्रदर्शित इति विज्ञानभिक्षुः । (२) पादार्थसङ्ग्राहकं श्लोकमाह । “योगस्य” इति । उक्तं निर्देशौ = योगारम्भप्रतिज्ञायोगलक्षणं । योगोपायाः = अभ्यासवैराग्यादयः, तत्प्रभेदाः वितर्कविचारादय इत्यर्थः । इति श्रीमद्गुदासीनपूज्यपादसत्प्रकाशशिष्यबालरामकृतं टिप्पणम् ।



## पातञ्जलदर्शने साधनपादः ॥२॥

भा० उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः, कथं<sup>[१]</sup> व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्याद् इत्येतदाऽऽरभ्यते ।

सू० तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

टी० नूनं प्रथमपादेनैव सोपायः साऽवान्तरप्रभेदः सफलो योग उक्तस्तत्किमपरमवशिष्यते यदर्थं द्वितीयपादः प्रारभ्येतेत्यत आह “उद्दिष्ट” इति । अभ्यासवैराग्ये हि योगोपायौ प्रथमे पाद उक्तौ, न च तौ व्युत्थितस्य द्रागित्येव<sup>[२]</sup> संभवत इति<sup>[३]</sup> द्वितीयपादोपदेश्यानुपायानपेक्षते सत्त्वशुद्ध्यर्थमाततो हि विशुद्धसत्त्वः कृतरक्षासंविधानो<sup>[४]</sup> अभ्यासवैराग्ये प्रत्यहं भावयति । समाहितत्वम् = अविक्षिप्तत्वं, कथं व्युत्थितचित्तोऽप्युपदेक्ष्यमाणैरुपायैर्युक्तः सम् योगी स्यादित्यर्थः । तत्र वक्ष्यमाणेषु नियमेष्वकृष्य प्राथमिकं प्रत्युपयुक्ततरतया प्रथमतः क्रियायोगमुपदिशति<sup>[५]</sup> सूत्रकारः “तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः” ॥ १ ॥

टि० (१) उत्तरपादेन सङ्गतिमभिधातुं पूर्ववृत्तमनुवदति “उद्दिष्ट” इति । पूर्वपादे समाहितचित्तस्य = योगारूढस्योत्तमाधिकारिणो । योग उद्दिष्टः = कथितः, साम्प्रतं व्युत्थितचित्तो = योगमारुरुक्षुरपि, कथं नु नाम योगयुक्तः स्यादित्यनुकम्पयताऽऽचार्येण तदर्थमेतत्सूत्रज्ञातमारभ्यत इत्यर्थः । एकाग्रचित्तस्य सम्प्रज्ञातयोग उक्तो, निरुद्धचित्तस्य चाऽसम्प्रज्ञातयोगोऽभिहितो, विक्षिप्तचित्तस्य तु न काऽपि गतिरुक्ताऽतो विक्षिप्तचित्तोऽपि यैः साधनजातैर्विक्षेपमपनीयाऽभ्यासवैराग्ये भावयन् सम्प्रज्ञातसमाधिस्थः स्यात्तत्साधनजातं प्रतिपादयितुं द्वितीयः पाद आरभ्यत इति भावः । (२) द्रागित्येव = झटित्येवेत्यर्थः ।

[१] इति = अतः सत्त्वशुद्ध्यर्थं द्वितीयपादोपदेश्यान् तपःस्वाध्यायादीनपेक्षत इत्यर्थः ।

[४] कृतरक्षासंविधानः = अम्यस्ताऽभ्यासवैराग्याऽनुष्ठानौपायकक्रियायोग इत्यर्थः ।

[५] वक्ष्यमाणब्रह्मायाससाध्ययमाद्यष्टाऽङ्गानां मध्याद् अल्पायाससाध्यानि तपआदीनि त्रीणि पृथक्कृत्य प्रथमतः क्रियायोगमुपदिशति सूत्रकार इत्यर्थः । क्रियायोगस्य प्रथमोपदेशे हेतुमाह “प्राथमिकम्” इति । प्राथमिकं प्रति = योगमारुरुक्षुं मन्दाऽधिकारिणं प्रति, उपयुक्ततरतया = अल्पायाससाध्यत्वेन स्वान्तशोधकत्वेन चाऽत्युपादेयतया इत्यर्थः ।



भा० नाऽतपस्विनो योगः सिद्ध्यति, अनादिकर्मक्लेशवासना-  
चित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेणा तपः सम्भे-  
दमापद्यत इति तपस उपादानम् । तच्च<sup>[१]</sup> चित्तप्रसादनमबाध-  
मानमनेनाऽऽसेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः = प्रणवादिपवि-  
त्राणां जपः, मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं =  
सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं, तत्फलसंन्यासो वा ॥ १ ॥

टी० क्रियैव योगः क्रियायोगः योगसाधनत्वात्, अत एव विष्णुपुराणे  
खाण्डिक्यकेशिध्वजसंवादे “योगयुक्तं प्रथमं योगी युजमानोऽभिधीयत”  
इत्युपक्रम्य तपःस्वाध्यायादयो दर्शिताः । व्यतिरेकमुखेन तपस उपायत्व-  
माह “नातपस्विन” इति । तपसोऽवान्तरव्यापारमुपायतोपयोगि-  
दर्शयति “अनादि” इति । अनादिभ्यां कर्मक्लेशवासनाभ्यां चित्रा\*अत-  
एव प्रत्युपस्थितम् = उपनतं विषयजालं यस्यां सा तथोक्ता, अशुद्धिः-  
रजस्तमःसमुद्रेको, नाऽन्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते = सान्द्रस्य निता-  
न्तविरलता सम्भेदः । ननूपादीयमानमपि तपो धातुवैषम्यहेतुतया  
योगप्रतिषेध इति कथन्तदुपाय इत्यत आह “तच्च” इति । तावन्मा-  
त्रमेव तपश्चरणीयं, न यावता धातुवैषम्यमापद्येतेत्यर्थः । प्रणवादयः =  
पुरुषसूक्तरुद्रमण्डलब्राह्मणादयो वैदिकाः, पौराणिकाश्च ब्रह्मपारायणाद-  
यः । परमगुरुः = भगवानीश्वरः तस्मिन् । यत्रेदमुक्तं “कामतोऽकामतो  
वाऽपि श्रुत्करोमि शुभाऽशुभम् । तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तं करो-  
म्यहम्” इति । तत्फलसंन्यासो वा = फलाऽनभिसन्धानेन कार्यकरणं  
यत्रेदमुक्तं “कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफल-  
हेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि” इति ॥१॥

[१] तपःशब्देन चात्र काष्णानशनत्वं हितमितमेध्याशित्वं च गृह्यते, न तु “उपवास-  
पयकादिरुच्छ्रान्द्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्” इत्यादिस्मृत्युक्तम्  
उपवासाद्यभ्यासे मरणाऽऽपातात् । चान्द्रायणाद्याभ्यासे धातुवैषम्यापत्तेश्च । अत एव श्रुते  
“तपसाऽनाशकेन” इत्याम्नातम् । तदेतदाह “तच्च” इति । अनेन योगि-  
चित्तप्रसादाऽविरोधेव तपोऽनुष्ठेयमिति परमार्थमभिर्मन्यत इत्यर्थः । \* नानाविधा ।



भा० स हि क्रियायोगः<sup>(१)</sup> ।

सू० समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

स हि आसेव्यमानः समाधिम्भावयति, क्लेशांश्च प्रतनू-  
करोति, प्रतनूकृतान् क्लेशान् प्रसङ्ख्यानाऽग्निना दग्धबीज-  
कल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति, तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशै-  
रपरामृष्टा सत्त्वपुरुषाऽन्यताख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताऽधि-  
कारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति ॥ २ ॥

टी० तस्य प्रयोजनाऽभिधानाय सूत्रमवतारयति “स हि” इति । “समाधि-  
भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च” ॥ २ ॥ ननु क्रियायोग एव चेत् क्लेशान्  
प्रतनूकरोति कृतं तर्हि प्रसङ्ख्यानेनेत्यत आह “प्रतनूकृतान्” इति-  
क्रियायोगस्य प्रतनूकरणमात्रे व्यापारो, न तु वन्ध्यत्वे<sup>(२)</sup> क्लेशानाम् । प्रस-  
ङ्ख्यानस्य तु तद्वन्ध्यत्वे, दग्धबीजकल्पान्—इति वन्ध्यत्वेन दग्धकलमः  
बीजसारूप्यमुक्तम् । स्यादेतत्, प्रसङ्ख्यानमेव चेत् क्लेशान् अप्रसवधर्मिण-  
करिष्यति कृतमेषां प्रतनूकरणेनेत्यत आह “तेषाम्” इति । क्लेशानाम् ते  
अतानवे हि बलवद्विरोधिग्रस्ता सत्त्वपुरुषाऽन्यताख्यातिरुदेतुमेव नोत्सह-  
प्रागेव<sup>(३)</sup> तद्वन्ध्यभावं कर्तुम् । प्रविरलीकृतेषु तु क्लेशेषु दुर्बलेषु तद्वि-  
रोधिन्यपि वैराग्याऽभ्यासाभ्यामुपजायते । उपजाता चैतैरपरामृष्टा=अन-  
भिभूता नैव यावत्परामृश्यते, सत्त्वपुरुषाऽन्यतामात्रख्यातिः । सूक्ष्मा  
प्रज्ञा=अतीन्द्रियतया सूक्ष्माऽस्या विषय इति सूक्ष्मा प्रज्ञा, प्रतिप्र-  
सवाय=प्रविलयाय कल्पिष्यते । कुतः ? यतः समाप्ताऽधिकारा=  
समाप्तोऽधिकारः कार्य्याऽऽरम्भणं गुणानां यथाहेतुभूतया सा तथोक्तेति ॥ २ ॥

टि० (१) स हीति भाष्यं सूत्रेणैकवाक्यतया व्याख्येयम् । विज्ञानमिक्षुस्तु “ईश्वरप्रणिधान-  
मत्र पूर्वपादोक्तं भावनारूपमेव कथन्न भवतीत्याशङ्क्य, स हि क्रियायोग इत्यवतार्य,  
स हि फलसंन्यासः कर्मर्पणं च क्रियायोगो भवति कर्मशेषत्वात्, पूर्वोक्तं च भावना-  
रूपं प्रणिधानं ज्ञानमेव कर्मतच्छेषत्वयोरभावाद् इत्येवं पूर्वान्वयितया व्याचष्टे । परन्वेकं  
सति-अयं हि क्रियायोग इति, अयमेवेति वा वक्तुमुचितम् ।

(२) क्लेशानां वन्ध्यत्वे=अप्रसवधर्मित्वसंपादने न क्रियायोगस्य व्यापार इत्यर्थः ।

(३) प्रागेव=दूरत एवेत्यर्थः । क्लेशानामतनुत्वे विपक्षान्तर्गता विवेकख्यातिरुदेतु-  
मेव नोत्सहते तदप्रसवधर्मित्वकरणं तु दूरापास्तमिति भावः । प्रागेवेति निपातसमु-  
दायोऽतिशयार्थ इति वर्द्धमानोपाध्यायः । तन्मतेऽपि दमेव फलति इति बोध्यम् ।



भा० अथ के ते क्लेशाः, कियन्तो वेति ।

सू० अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च<sup>(१)</sup>  
क्लेशाः ॥ ३ ॥

भा० क्लेशा इति<sup>(२)</sup> पञ्च विपर्यया इत्यर्थः । ते स्यन्दमाना गुणाः  
ऽधिकारं द्रढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्रोत  
उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा कर्मविपाकं चाऽभिनि-  
र्हरन्ति इति ॥ ३ ॥

टी० पृच्छति “अथ” इति । “अविद्या” इति सूत्रेण परिहरति “अविद्या  
ऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः” ॥ ३ ॥ “क्लेशा” इति व्याचष्टे “पञ्च  
विपर्यया” इति । अविद्या तावद्विपर्यय एव । अस्मितादयो ऽप्यविद्योपा-  
दानास्तदविनाभाववर्तिन इति विपर्ययाः । ततश्चाविद्यासमुच्छेदे तेषामपि  
समुच्छेदो युक्त इति भावः । तेषामुच्छेत्तव्यताहेतुं संसारकारणत्वमाह “ते”  
इति । स्यन्दमानाः = समुदाचरन्तो<sup>(३)</sup> गुणानामधिकारं<sup>(४)</sup> द्रढयन्ति = बल-  
वन्तं कुर्वन्ति । अत एव परिणाममवस्थापयन्ति, <sup>(५)</sup> अव्यक्तमहदहङ्कारपरम्प-  
रया हि कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति = उद्भावयन्ति । यदर्थं सर्वमेतत्कुर्वन्ति  
तद्दर्शयति “परस्पर” इति । कर्मणां विपाकः = जात्यायुर्भोगलक्षणः पुरुषार्थः,  
तममी क्लेशा अभिनिर्हरन्ति = निष्पादयन्ति । किम्प्रत्येकं निष्पादयन्ति,  
नेत्याह “परस्परानुग्रह” इति । कर्मभिः क्लेशाः क्लेशैश्च कर्माणीति<sup>(६)</sup> ॥ ३ ॥

टि० (१) अत्र पञ्चेत्यर्थाल्लब्धं विपर्यया इति च भाष्यकृता पूरितमिति वदता विज्ञान-  
भिक्षुणा, पञ्चेति न सूत्रान्तर्गतमिति ध्वनितम् । अत एव कुत्र चिद् उपलभ्यते कुत्र  
चिन्नेति, वाचस्पतिमिश्रास्तूदासीना एवात्रेति ज्ञेयम् ।

(२) इति = शब्दो ऽविद्यादिपरामर्शी, तथा चाऽविद्यादयः पञ्च विपर्यया क्लेशा  
इति योजना । कियन्त इति प्रश्नस्योत्तरं पञ्चेत्यनेनोक्तम् । के ते इति प्रश्नस्योत्तरं  
विपर्यया इत्यनेनोक्तमिति विज्ञानभिक्षुः ।

(३) समुदाचरन्तः = लब्धप्रातिस्विकवृत्तयः सन्त इत्यर्थः ।

(४) गुणानामधिकारम् = सत्त्वादिगुणानां कार्यारम्भणसामर्थ्यम् इत्यर्थः ।

(५) परिणाममवस्थापयन्ति = गुणानां वैषम्यरूपं परिणामं सर्जननिदानं निर्वर्तयन्तीत्यर्थः ।

(६) इति = इत्येवं परस्पराऽनुग्रहतन्त्रीभूत्वा निष्पादयन्तीत्यर्थः । तन्त्रा इति पाठा-  
न्तरम् । अविद्यातो रागो रागाच्चाऽविद्येत्येवमादिरूपा ऽन्यो ऽन्याऽनुग्रहाऽधीना भूत्वा  
जात्यायुर्भोगं निष्पादयन्तीत्यर्थ इत्येके ।



सू० अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो-  
दाराणाम् ॥ ४ ॥

भा० अत्राऽविद्या क्षेत्रम् = प्रसवभूमिः, उत्तरेषाम् = अस्मितादीनां  
चतुर्विधकल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् । तत्र का प्रसुप्तिः  
चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः, (१) तस्य प्रबोध  
आलम्बने संमुखीभावः प्रसङ्ख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमु-  
खीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति ।

टी० हेयानां क्लेशानामविद्यामूलत्वं दर्शयति “अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त-  
तनुविच्छिन्नोदाराणाम्” ॥ ४ ॥ “तत्र का प्रसुप्तिरिति । स्वोचितामर्थक्रिया-  
मकुर्वतां क्लेशानां सद्भावे न प्रमाणमस्तीत्यभिप्रायः पृच्छतः । उत्तरमाह  
“चेतसि” इति । मा नामाऽर्थक्रियां कार्षुः क्लेशाः, विदेहप्रकृतिलयानां (२)  
बीजभावं प्राप्तास्तु ते शक्तिमात्रेण सन्ति क्षीर इव दधि । न हि विवेकख्यातेर-  
न्यदस्ति कारणं तद्वन्ध्यतायाम् । अतो विदेहप्रकृतिलया विवेकख्यातिविरहि-  
णः प्रसुप्तक्लेशा न यावदवधिकालं प्राप्नुवन्ति, तत्प्राप्तौ तु पुनरावृत्ताः सन्तः  
क्लेशास्तेषु तेषु विषयेषु संमुखीभवन्ति शक्तिमात्रेण प्रतिष्ठा येषां ते तथो-  
क्ताः, तदेनेनोत्पत्तिशक्तिरुक्ता, बीजभावोपगम = इति च कार्य्यशक्तिरिति ननु

टि० (१) विदेहानां प्रकृतिर्लीनानां च चेतसि शक्तिमात्रेण = अनागताऽवस्थयाऽत्रस्थि-  
तानां क्लेशानां यो बीजभावोपगमः = स्वकार्यजननसामर्थ्यं, सा प्रसुप्तिरित्यर्थः ।  
दग्धक्लेशेभ्यः सुप्तानां क्लेशानां वैलक्षण्यं बीजभावोपगम इत्यादिनोक्तं स्पष्टयति  
“तस्य प्रबोध” इति । आलम्बने = स्वस्वविषये, यः संमुखीभावः = सन्निकृष्टता, स  
एव तस्य = सुप्तक्लेशस्य प्रबोध इत्यर्थः । यथा प्राप्ताऽवधीनां प्रकृतिर्लीनानां क्लेशाः  
प्रबुध्यन्ते न तथा सन्निकृष्टेऽपि विषये ज्ञानिनां दग्धक्लेशानां ते प्रबुध्यन्त इत्याह ।  
“प्रसङ्ख्यान” इति । आलम्बनीभूतेऽपि विषये न प्रसङ्ख्यानवतोऽसौ = क्लेशप्रबोधो  
भवतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह “दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति” इति ।  
(२) विदेहप्रकृतिलयानामित्यत्र चेतसीति शेषो बोध्यः ।



भा० अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते, तत्रैव सा दग्ध-  
बीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति, <sup>(१)</sup> सतां क्लेशानां तदा  
बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सम्मुखीभावेऽपि सति न भव-  
त्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च तनुत्व-  
मुच्यते, प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति । तथा वि-  
च्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः समुदाचरन्ति <sup>(२)</sup> इति वि-  
च्छिन्नाः । कथं, रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् । न हि रागकाले क्रोधः  
समुदाचरति रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति

टी० विवेकख्यातिमतोऽपि क्लेशाः कस्मान्न प्रसुप्ता इत्यत आह “प्रसंख्याना-  
वत” इति । चरमदेहः = न तस्य देहान्तरमुत्पत्स्यते यदपेक्षयाऽस्य देहः  
पूर्व इत्यर्थः । नाऽन्यत्र = विदेहादिष्वित्यर्थः । ननु सतो नाऽत्यन्तविनाश  
इति किमिति तदीययोगर्द्धिबलेन विषयसंमुखीभावे न क्लेशाः प्रबुद्धयन्त  
इत्यत आह “सताम्” इति । सन्तु क्लेशाः, दग्धस्त्वेषां प्रसङ्ख्याना-  
ग्निना बीजभाव इत्यर्थः । क्लेशप्रतिपक्षः क्रियायोगस्तस्य भावनम् = अनु-  
ष्ठानं तेनोपहतास्तनवः । अथवा सम्यग् ज्ञानम् अविद्यायाः प्रतिपक्षः, भेद-  
दर्शनम् अस्मितायाः, माध्यस्थ्यं <sup>(३)</sup> रागद्वेषयोः, अनुबन्धबुद्धिनिवृत्ति-  
रभिनिवेशस्येति । विच्छितिमाह, “तथा” इति । क्लेशानामन्यतमे  
समुदाचरताऽभिभवाद्वाऽत्यन्तं विषयसेवया वा विच्छिद्य विच्छिद्य

टी० (१) “यस्येदं जन्म पाश्चात् तमेवाशु महामते । विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेप-  
मिवोत्तमम्” इति स्मृतिसिद्धे चरमदेह एव दग्धबीजभावाऽवस्था, नाऽन्यत्र = प्रकृतिर्ल-  
नादिष्वित्यर्थः ।

(२) तेन तेनाऽऽत्मना = पूर्ववदतनुभावेनैव, समुदाचरन्ति = लब्धवृत्तयो भवन्त-  
त्यर्थः ।

[३] माध्यस्थ्यम् = अहेयाऽनुपादेयज्ञानवैधुर्यम् ।

[४] अनुबन्धबुद्धिनिवृत्तिः = मा न भूवं, किन्तु भूयासमिति नैसर्गिकमरणत्रासा-  
वृत्तिरित्यर्थः । उपकरणाऽख्याऽनुबन्धबुद्धिनिवृत्तिरित्यन्ये ।



CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri



भा० नामैवैतेषां विच्छिन्नादित्वं<sup>(१)</sup> यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त<sup>(२)</sup> इति सर्व एवाऽमी क्लेशाविद्याभेदाः, कस्मात् ? सर्वेष्वविद्यैवाऽभिप्लवते<sup>(३)</sup> यदविद्ययवस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते<sup>(४)</sup> क्लेशाः, विपर्ययासप्रत्ययका उपलभ्यन्ते, क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति॥ ४ ॥ तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते

सू० अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः, तद्यथा, ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवसचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति ।

टी० कुविन्दनिवृत्तौ निवर्त्तत इत्यत आह “सर्व एव” इति । भेदा इव भेदास्तदविनिर्भागवर्त्तिन इति \* यावत् । पृच्छति “कस्माद्” इति । उत्तरमाह “सर्वेषु” इति । तदेव स्फुटयति “यद्” इति । आकार्यते = समारोप्यं शेषं सुगमम् । “प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम् । विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्” इति सङ्ग्रहः ॥ ४ ॥ “अनित्याऽशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥ अनित्यत्वोपयोगि विशेषणं “कार्ये” इति । केचित्किल भूतानि नित्यत्वेन भिमन्यमानास्तद्रूपमभीप्सवस्तान्येवोपासते, एवं धूमादिमार्गानुपासकचन्द्रसूर्यतारकाद्युलोकान्नित्यानभिमन्यमानास्तत्प्राप्तये, एवं दिवौकसः = देवानमृतानभिमन्यमानास्तद्भावाय सोमं पिबन्ति, आम्नायते । “अपाम सोमममृता अभूम” इति । सेयमनित्येषु नित्यख्यातिरविद्या ।

टि० [१] प्रसुप्तादिरूपेण चतुर्विधानां क्लेशानां वस्तुत एकत्वमित्येतत्सत्यमेव यद्यपि तत्तदवस्थवैशिष्ट्यमादाय चातुर्विध्येन विभागोऽभिहित इति भावः ।

[२] स्वव्यञ्जकाञ्जनेन = विषयचिन्तनादिना कारणेन, अभिव्यक्तः = लब्धवृत्तिसन्नुदायो भवति क्लेश इत्यर्थः । एतेन यथा प्रतिपक्षभावना क्लेशतानवहेतुरेवं विषयमिष्वङ्गत्यागोऽपीति ध्वनितम् ।

[३] सर्वेष्वेवाऽस्मितादिक्लेशेष्वविद्याऽन्वीय वर्त्तत इत्यर्थः ।

[४] अनुशेरते = अनुगता भवन्तीत्यर्थः, यद्वस्त्वविद्यया विषयीक्रियते तस्मिन् वस्तुनि क्लेशा अपि लब्धवृत्तयो भवन्तीति भावः । \* अविद्याऽन्वयव्यतिरकाऽनुविधायि



भा० तथाऽशुचौ = परमबीभत्से<sup>(१)</sup> काये<sup>(२)</sup> उक्तञ्च “स्थानाद्बीजा-  
दुपष्टम्भान्निस्पन्दान्निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिताह्य-  
शुचिं विदुः” इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते । नवेव शशाङ्कलेखा  
कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निः-  
सृतेव ज्ञायते नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां  
जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति। कस्य केनाऽभिसम्बन्धो, भवति चैव-  
मशुचौ शुचिविपर्ययासप्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथै-  
वाऽनर्थे चाऽर्थप्रत्ययो व्याख्यातः। तथा दुःखं सुखख्यातिं वक्ष्यति,  
परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्चदुःखमेव सर्वविवे-

टी० तथाऽशुचौ = परमबीभत्से काये, अर्द्धोक्त एव कायबीभत्सतायां  
वैयासिकीं गाथां पठति “स्थानाद्” इति । मातुरुदरं मूत्राद्युपहतं स्थानम्,  
पित्रोर्लोहितरेतसी बीजम्, आशितपीताऽऽहाररसादिभाव उपष्टम्भः, तेन हि  
शरीरं संधार्यते । निस्पन्दः = प्रस्वेदः । निधनञ्च-श्रोत्रियशरीरमप्यपवि-  
त्रयति । ततस्पर्शे स्नानविधानाद् । ननु यदि शरीरमशुचि कृतं<sup>(३)</sup> तर्हि  
मृज्जलादिक्षालनेनेत्यत आह “आधेयशौचत्वाद” इति । स्वभावेनाशुचे-  
रपि शरीरस्य शौचमाधेयं, सुगन्धितेव कामिनीनामङ्गरागादिति । अर्द्धोक्तं  
पूरयति “इत्यशुचौ” इति । इत्युक्तेभ्यो हेतुभ्योऽशुचौ शरीर इत्यर्थः ।  
शुचिख्यातिमाह “नवा” इति । हावः = शृङ्गारजा लीला, कस्य =  
स्त्रीकायस्य परमबीभत्सस्य, केन = मन्दतमसादृश्येन शशाङ्कलेखादिना  
सम्बन्धः । एतेन = अशुचिस्त्रीकाये शुचिख्यातिप्रदर्शनेन । अपुण्ये =

टि० (१) परमबीभत्से=अत्यन्तविकृते, क्रूरे, कुत्सितेऽपवित्र इति यावत्, कुत्सितत्वं च  
“शरीरमिदंमैथुनादेवोद्भूतं, संवृद्धयुपेतं निरये, अथ मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तम्, अस्थिभि-  
श्चितं, मासेनाऽनुलिप्तं, चर्मणाऽवनद्धम्” इत्यादिना मैत्रायणीयशाखायां स्पष्टम् ।  
(२) काये-इत्यस्याग्रे—शुचिख्यातिरिति पाठो यद्यपि सर्वत्रोपलभ्यते तथापि  
“अर्द्धोक्त एव कायबीभत्सतायाम्” इत्यादिवाचस्पत्याऽनुरोधेनोपैक्षि स इत्यवधेयम् ।  
(३) कृतमिति प्रतिषेधार्थकमव्ययं, गम्यमानसाधनक्रियाऽपेक्षया च क्षालनेनेति करणे  
तृतीया, तथाच तर्हि मृज्जलादिक्षालनेन न किमपि साध्यमिति मुधैव तदित्यर्थो बोध्यः ।



भा० किनः" इतितत्र सुखख्यातिरविद्या तथानात्मन्यात्मख्यातिः  
बाह्योपकरणेषु<sup>(१)</sup> चेतनाऽचेतनेषु, भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरु-  
षोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति । तथैतदत्रोक्तं,<sup>(२)</sup>  
व्यक्तमव्यक्तं वासत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्यतस्य सस्पदमनु नन्व-  
त्यात्मसस्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्य-  
मानः<sup>(३)</sup> स सर्वोऽप्रतिबुद्ध" इति । एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या  
मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्य इति ।

टी० हिंसादौ, संसारमोचकादीनां पुण्यप्रत्ययः' एवमर्जनरक्षणादिदुःख-  
हुलतयाऽनर्थे = धनादौ अर्थप्रत्ययो व्याख्यातः । सर्वेषां जुगुप्सितत्वेना-  
ऽशुचित्वात् । "तथा दुःख" इति । सुगमम् । "तथाऽनात्मनि" इति,  
सुगमम् । 'तथैतदत्रोक्तं'—पञ्चशिखेन, व्यक्तम् = चेतनं पुत्रदा-  
पश्वादि, अव्यक्तम् = अचेतनं शय्यासनाशनादि, स सर्वोऽप्रतिबुद्धः =  
मूढः । चत्वारि पदानि = स्थानान्यस्या इति चतुष्पदा । नन्वन्या अपि  
दिङ्मोहालातचक्रादिविषयाऽनन्तपदाऽविद्या, तत्किमुच्यते चतुष्पदेत्यत  
आह "मूलमस्य" इति । सन्तु नामाऽन्या अप्याविद्याः, संसारबीजं चतु-  
ष्पदैवेति । नन्वविद्येति नञ्समासः पूर्वपदार्थप्रधानो वा स्याद् यथा ऽमक्षिक-  
मिति, उत्तरपदार्थप्रधानो वा यथाऽराजपुरुष इति, अन्यपदार्थप्रधानो वा  
यथाऽमक्षिको देश इति,<sup>(४)</sup> तत्र पूर्वपदार्थप्रधानत्वे विद्यायाः प्रसज्यप्रति-  
षेधो गम्येत । नचाऽस्य क्लेशादिकारणत्वम्<sup>(५)</sup> उत्तरपदार्थप्रधानत्वे वा  
विद्यैव कस्य चिदभावेन विशिष्टा गम्येत । सा च क्लेशादिपरिपन्थिनी,  
न तु तद्बीजम् । न हि प्रधानोपघाती प्रधानगुणो युक्तस्तदनुपघाताय

टि०. (१) बाह्यस्य=देहस्य, उपकरणेषु=पुत्रपशुभृत्यशय्यासनादिष्वनात्मस्वित्यर्थः ।

(२) तथैतदत्रोक्तम्=यथा सयोक्तं तथा अत्र=चतुर्थेऽविद्याविषये पञ्चशिखेनाऽप्ये-  
तदुक्तमित्यर्थः । (३) मन्यमान इत्यस्याग्रे, य इति शेषो बोध्यः ।

(४) द्वन्द्ववत्स्वतन्त्रपदार्थद्वयाऽनवगमादुभयपदार्थप्रधानत्वं नाऽऽशङ्कितमिति माध-  
वाचार्यः । (५) उपलक्षणं चैतत् अविद्याशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाऽभावाऽऽपत्तेश्चेत्यस्याऽपि



भा० तस्याश्चाऽमित्राऽगोष्पदवद् वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम् । यथा  
नाऽमित्रो मित्राऽभावो, न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः,  
तथाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो, न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव  
ताभ्यामन्यद् वस्त्वन्तरम् । एवमविद्या नप्रमाणां, नप्रमाणा-  
भावः, किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥ ५ ॥

टी० गुणे त्वन्यास्यकल्पना<sup>(१)</sup>, तस्माद्विद्यास्वरूपाऽनुपघाताय नञोऽन्यथा-  
करणम् अध्याहारो वा निषेधस्येति, अन्यपदार्थप्राधान्ये त्वविद्यमानविद्या  
बुद्धिर्वक्तव्या, नचाऽसौ विद्याया अभावमात्रेण क्लेशादिबीजं, विवेकख्या-  
तिपूर्वकनिरोधसम्पन्नाया अपि तथात्वप्रसङ्गात् । तस्मात्सर्वथैवाऽविद्याया  
न क्लेशादिमूलतेत्यत आह । “तस्याश्च” इति । वस्तुनो भावो वस्तुस-  
तत्त्वं वस्तुत्वमित्यर्थः । तदनेन न प्रसज्यप्रतिषेधो, नाऽपि विद्यैवाऽविद्या  
नाऽपि तदभावविशिष्टा बुद्धिरपि तु विद्याविरुद्धं विपर्ययज्ञानमविद्येत्युक्तं,  
लोकाधीनाऽवधारणो हि शब्दार्थसंबन्धः<sup>(२)</sup> । लोके चोत्तरपदार्थप्रधानस्याऽपि  
नञ उत्तरपदाऽभिधेयोपमर्दकस्य तल्लक्षिततद्विरुद्धपस्तया तत्र तत्रोपलब्धे<sup>(३)</sup>  
रिहाऽपि तद्विरुद्धे वृत्तिरिति भावः । दृष्टान्तं विभजते “यथा नाऽमित्र” इति ।  
न मित्राऽभावो नाऽपि मित्रमात्रमित्यस्यानेन्तरं वस्त्वन्तरं किन्तु तद्विरुद्धः  
सपत्न इति वक्तव्यम् । तथाऽगोष्पदमिति = न गोष्पदाभावो, न गोष्पदमात्रं  
किन्तु देश एव विपुलो गोष्पदविरुद्धः, ताभ्याम् = अभावगोष्पदाभ्यामन्य\*  
इति, अर्थाद्वस्त्वन्तरम् । दाष्टान्तिके योजयति “एवम्” इति ॥ ५ ॥

टि० ( १ ) हि = यतः प्रधानस्य = उत्तरपदार्थस्याऽविद्याशब्दाऽभिधेयस्य, उपघाती = उप-  
मर्दकः, प्रधानगुणो = नञर्थो, न युक्तोऽतस्तदनुपघाताय गुणः एवान्यास्यकल्पना युक्त्यर्थः ।  
एवं च न विद्याविरुद्धमविद्यापदवाच्यमपि त्वभावविशिष्टा विद्या सा च न क्लेशमूलमिति भावः ।  
( २ ) स्पष्टं चैतल्लोकवेदशब्दार्थैक्याऽधिकरणे, यथाहुः “वृद्धप्रयोगगम्यो हि शब्दार्थः  
सर्व एव नः । तेन यत्र प्रयुक्तो यो न तस्मादपनीयते” इति ।

( ३ ) अब्राह्मणाऽधर्मादिपदेषूपलब्धेरित्यर्थः, तदुक्तं “नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ्  
प्रतिषेधकः । वदत्यब्राह्मणाऽधर्माविन्यमात्रविरोधिनो” इति । \* अन्यादिति पाठान्तरम्



सू० दृग्दर्शनशक्तयोरेकात्मतेवाऽस्मिता ॥ ६ ॥

भा० पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरि-  
वाऽस्मिताक्लेश उच्यते । भोक्तृभोग्यशक्तयोरत्यन्तविभक्तयोर-  
त्यन्ताऽसङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते, स्वरू-  
पप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति, कुतो भोग इति ।  
तथाचोक्तं “बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलं विद्यादिभिर्विभक्तमप-  
श्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन” इति ॥ ६ ॥

टी० अविद्यामुक्त्वा तस्याः कार्यमस्मितां<sup>(१)</sup> रागादिवरिष्ठामाह । “दृग्-  
दर्शनशक्तयोरेकात्मतेवाऽस्मिता” इति ॥ ६ ॥ दृक् च दर्शनं च ते एव शक्ती  
तयोरात्मानात्मनोः, अनात्मन्यात्मज्ञानलक्षणाऽविद्यापादिता या एकात्मते-  
व = एकार्थतेव, न तु परमार्थत एकात्मता साऽस्मिता । दृग्दर्शनयोरिति  
वक्तव्ये तयोर्भोक्तृभोग्ययोग्यतालक्षणं सम्बन्धं दर्शयितुं शक्तिग्रहणम् । सूत्रं  
विवृणोति “पुरुष” इति । नन्वनयोरभेदप्रतीतेरभेद एव कस्मान्न भवति कुत-  
श्चैकत्वं क्लिप्णाति पुरुषमित्यत आह “भोक्तृभोग्यशक्तयोः” इति । भोक्तृशक्तिः  
पुरुषः, भोग्यशक्तिः = बुद्धिः, तयोरत्यन्तविभक्तयोः, कुतोऽत्यन्तविभक्त-  
त्वमित्यत आह “अत्यन्ताऽसंकीर्णयोः” इति । अपरिणामित्वादिधर्मकः  
पुरुषः, परिणामित्वादिधर्मिका बुद्धिरित्यसंकीर्णता, तदनेन प्रतीयमानो-  
ऽप्यभेदो न पारमार्थिक इत्युक्तम् । अविभागेति क्लेशत्वमुक्तम् । अन्वयं  
दर्शयित्वा व्यतिरेकमाह “स्वरूप” इति । प्रतिलम्भः = विवेकख्यातिः,  
परस्याप्येतत्संमतमित्याह “तथाचोक्तं पञ्चशिखेन बुद्धित” इति । आ-  
कारः = स्वरूपं, सदा विशुद्धिः, शीलम् = औदासीन्यं, विद्या = चैतन्यं,  
बुद्धिरविशुद्धा अनुदासीना जडा चेति । तत्रात्मबुद्धिरविद्या, मोहः = पूर्वा-  
ऽविद्याजनितः संस्कारः, तमो वा । अविद्यायास्तामसत्वादिति ॥ ६ ॥

टि० (१) अतस्मिन्तदबुद्धिरूपाया अविद्यायाः कार्यभूतां बुद्धिपुरुषयोरभेदाऽभिमानरूपा-  
मित्यर्थः । असत्याममस्मितायां रागाद्यनुत्पत्तेरस्मितायां रागादिहेतुत्वेन वरिष्ठत्वमिति भावः ।



सू० सुखानुशयी रागः<sup>(१)</sup> ॥ ७ ॥

भा० सुखाऽभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो  
गर्हस्तृष्णा लोभः स राग इति ॥ ७ ॥

सू० दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

भा० दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः  
प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति ॥ ८ ॥

टी० विवेकदर्शने रागादीनां विनिवृत्तेरविद्यापादितास्मिता रागादीनां  
निदानमित्यस्मिताऽनन्तरं रागादीन् लक्षयति “सुखानुशयी रागः ॥७॥  
सुखाऽभिज्ञस्य स्मृतेरभावात्सुखाभिज्ञस्येत्युक्तम् । स्मर्यमाणे सुखे रागः  
सुखानुस्मृतिपूर्वकः, अनुभूयमाने तु सुखे नानुस्मृतिमपेक्षते, तत्साधने  
तु स्मर्यमाणे दृश्यमाने वा सुखानुस्मृतिपूर्व एव रागः, दृश्यमानमपि  
हि सुखसाधनं तज्जातीयस्य सुखहेतुतां स्मृत्वा तज्जातीयतया चास्य  
सुखहेतुमनुमायेच्छति । अनुशयीति पदार्थमाह “य” इति ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥ दुःखाभिज्ञस्येति पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

अनुशयिपदार्थमाह “यः प्रतिघ” इति । प्रतिहन्तीति प्रतिघः । एतदेव  
पर्यायैर्विवृणोति “मन्युः” इति ॥ ८ ॥

टि० (१) सुखमनुशेते यः कश्चिद् धीवृत्तिविशेषोऽभिलाषाऽपरपर्यायः स राग इत्यर्थः ।  
अनुशयीत्यत्र प्रह्लादिस्वाणिनिप्रत्यये विषयिविशयिशब्दवन्निपातनाद् वृद्धभावो बोध्यः । साधवा-  
ऽऽचार्यास्तु सर्वदर्शनसंग्रहे मत्त्वर्थीयेनिप्रत्ययान्तोऽपमित्याह । न च “एकाक्षरात्कृतो  
जातेः सप्तम्याञ्च न तौ स्मृतौ” इति निषेधात् कथमिनेप्रत्यय इति रेकणीयम् । कार्थ्यात्या-  
दिप्रयोगाऽनुरोधेन स्ववानित्यादिप्रयोगाणामनाभिधानमाश्रित्य तस्य वचनस्य महाभाष्ये  
प्रत्याख्यातत्वात् । प्रायिकाऽभिप्रायमिदं वचनमिति साधवीर्यं समाधानं तु वृत्तिकाररीत्येत्यलं  
बहुना ।



सू० स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः<sup>(१)</sup> ॥९॥  
 भा० सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयास-  
 मिति, <sup>(२)</sup> नचाऽननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्याऽऽत्माऽऽशीः  
 एतया च पूर्वजन्माऽनुभवः प्रतीयते । स चाऽयमभिनिवेशः क्लेशः  
 स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षाऽनुमानागमैरसम्भा-

टी० “स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः” ॥९॥ अभिनिवेश-  
 पदार्थं व्याचष्टे “सर्वस्य प्राणिन” इति । इयमात्माऽऽशीः = आत्मनि  
 प्रार्थना मा न भूवं = मा अभावी भूवं, भूयासं = जीव्यासमिति । नचाननु-  
 भूतमरणधर्मकस्य = अननुभूतो मरणधर्मो येन जन्तुना तस्यैवं भव-  
 त्यात्माशीः = अभिनिवेशो मरणभयं, प्रसङ्गतो जन्मान्तरं प्रत्याचक्षाणं  
 नास्तिकं निराकरोति “एतया” इति । प्रत्युदितस्य शरीरस्य ध्रियमा-  
 णत्वात् पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते = निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रिय-  
 वेदनाभिरभिसम्बन्धो जन्म तस्याऽनुभवः = प्राप्तिः सा प्रतीयते,  
 कथमित्यत आह “स चायमभिनिवेशः” इति । अर्द्धोक्तावेवास्य क्लेशत्वमाह  
 “क्लेशः” इति । अयमहितकर्मादिना जन्तून् क्लेशनाति = दुःखा-  
 करोति इति क्लेशः । वक्तुमुपक्रान्तं परिसमापयति “स्वरसवाही” इति ।  
 स्वभावेन = वासनारूपेण वहनशीलो, न पुनरागन्तुकः ।

टि० (१) तथेति तच्छब्देनाऽपि—शब्दसमुच्चितोऽविद्वान् परामृश्यते । तथा च यथाऽविदुषो  
 नैसर्गिको मरणत्रासस्तथा विदुषोऽपि = श्रुताऽनुमितविवेकिनोऽपि, यो रूढो मरणत्रासः  
 सोऽभिनिवेशाऽख्यः क्लेश इत्यर्थः । अत्र च शास्त्रज्ञ एव विद्वच्छब्देनोच्यते, न तत्त्वज्ञः ।  
 प्रसंख्यानाऽग्निनाऽविद्याया दग्धत्वात् तन्मूलस्याऽभिनिवेशस्य तस्मिन्नसम्भवात् । एतेन  
 तत्त्वज्ञ एवाऽत्र विद्वच्छब्दार्थ इति विज्ञानभिक्षुक्तिर्निर्दिष्टा ।

(२) अहमभावशीलो मा भूवं, किन्तु भूयासमेवेति प्रार्थना सर्वस्याऽस्तीति भावः ।



भा० वितो<sup>(१)</sup> मरणात्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मर-  
णादुखः मनुमापयति । यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा  
विदुषोऽपि = विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः । कस्मात् । समाना हि  
तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादिषु वासनेति ॥ १ ॥

टी० कृमेरपि जातमात्रस्य = दुःखः बहुलस्य निकृष्टतमचैतन्यस्य, अनागन्तु-  
कत्वे हेतुमाह “प्रत्यक्ष” इति प्रत्यक्षाऽनुमानागमैः प्रत्युदिते<sup>(२)</sup> जन्मन्यस-  
म्भावितः = असम्पादितः पूर्वजन्माऽनुभूतं मरणदुःखमनुमापयति । अयम-  
भिसन्धिः । जातमात्र एव हि बालको मारकवस्तुदर्शनाद् वेपमानः कम्पवि-  
शेषादनुमितमरणप्रत्ययासत्तिस्ततो बिभ्यदुपलभ्यते । दुःखाद् दुःखहेतोश्च  
भयं दृष्टं, न चाऽस्मिन् जन्मन्यनेन मरणमनुभूतमनुमितं श्रुतं वा प्रागेवा-  
स्य दुःखत्वं तद्धेतुत्वं वाऽवगम्यते । तस्मात्तस्य तथाभूतस्य स्मृतिः परिशि-  
ष्यते । नचैयं संस्कारादृते । न चायं संस्काराऽनुभवं विना । न चास्मिन्  
जन्मन्यनुभव इति प्राग्भवीयः परिशिष्यत इत्यासीत्पूर्वजन्मसंबन्ध इति ।  
तथा—पदं यथा—पदमाक्राङ्कत इत्यर्थप्राप्ते यथा—पदे सति यादृशो वाक्या-  
र्थो भवति तादृशं दर्शयति “यथा चायम्” इति । अत्यन्तमूढेषु = मन्दतम-  
चैतन्येषु, विद्वत्तां दर्शयति “विज्ञातपूर्वापरान्तस्य” इति । अन्तः = कोटिः  
पुरुषस्य हि पूर्वा कोटिः संसार, उत्तरा कैवल्यं, सैव विज्ञाता श्रुताऽनुमानाभ्यां  
येन स तथोक्तः । सोऽयं मरणत्रास आ कृमेरा च विदुषो रूढः = प्रसिद्ध  
इति । नन्वविदुषो भवतु मरणत्रासो, विदुषस्तु न संभवति विद्ययोन्मूलि-  
त्वाद् । अनुन्मूलने वाऽस्य मरणत्रासस्य स्यादत्यन्तसत्त्वमित्याशयवान्  
पृच्छति “कस्माद्” इति । उत्तरं “समानाहि” इति । न संप्रज्ञातवान्  
विद्वान् अपि तु श्रुताऽनुमानविवेकी<sup>(३)</sup> इति भावः ॥ १ ॥

टि० (१) प्रत्यक्षादिनेह जन्मन्यनुभूत इत्यर्थः । यतो जातमात्रस्य कृमेरपि प्रत्यक्षादिनेह जन्म-  
न्यनुभूत उच्छेददृष्ट्यात्मको मरणत्रासः पूर्वानुभूतं मरणदुःखमनुमापयत्यतो योऽयमभिवेशाख्यः  
क्लेशः स स्वरस्राही = नैसर्गिकः सर्वजन्तुसाधारणः, पूर्वजन्मसद्भावज्ञापकश्चेति फलितार्थः

( २ ) प्रत्युदिते = वर्तमाने जन्मनीत्यर्थः

( ३ ) श्रुतानुमानविवेक इति पाठे तु श्रुताऽनुमानाभ्यां निष्पन्नो विवेको यस्येत्यर्थो  
बोध्यः । यत्तु विज्ञानभिक्षुणा—सम्प्रज्ञातयोगिनोऽपि मरणभयमस्ति इति जल्पितं, तद् ‘न बिभेति  
कुतश्चन’ इति श्रुतिविरोधाद् हेयम् । “तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी” इति सूत्रादन्य-  
संस्काराणां प्रतिबद्धत्वासंस्कारस्योत्पन्नत्वात्तत्त्वज्ञस्याऽप्यभिवेश इत्यपि मन्दमित्यलं बहुना ।



सू० ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः<sup>(१)</sup> ॥१०॥

भा० ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताऽधिको  
चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥ १० ॥ स्थितानान्तु  
बीजभावोपगतानां<sup>(२)</sup>—

सू० ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

भा० क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः  
सत्यः प्रसङ्ख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्  
दग्धबीजकल्पा इति-

टी० तदेवं क्लेशा लक्षितास्तेषां च हेयानां, प्रसुप्तनुविच्छिन्नोदाररूपतया  
चतस्रोऽवस्था दर्शिताः। कस्मात्पुनः पञ्चमी क्लेशाऽवस्था दग्धबीजभाव-  
तया सूक्ष्मा न सूत्रकारेण कथितेत्यत आह “ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः”  
॥१०॥ यत्किल पुरुषप्रयत्नगोचरस्तदुपदिश्यते, न च सूक्ष्माऽवस्था हान-  
प्रयत्नगोचरः, किन्तु प्रतिप्रसेवेन=कार्यस्य चित्तस्याऽस्मितालक्षणकार-  
णभावापत्त्या हातव्येति । व्याचष्टे “ते” इति । सुगमम् ॥१०॥ अथ क्रि-  
यायोगतनूकृतानां क्लेशानां किंविषयात् पुरुषप्रयत्नाद् हानमित्यत आह  
“स्थितानान्तु बीजभावोपगतानाम्” इति । अनेन वन्ध्येभ्यो व्यवच्छिनात्ति ।  
सूत्रं पठति “ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः” इति ॥११॥ व्याचष्टे “क्लेशानाम्” इति ।  
क्रियायोगतनूकृता अपि हि प्रतिप्रसवहेतुभावेन कार्यतः स्वरूपतश्च  
शक्या उच्छेत्तुमिति स्थूला उक्ताः । पुरुषप्रयत्नस्य प्रसङ्ख्यानगोचरस्य  
अवधिमाह “यावद्” इति । सूक्ष्मीकृता इति विवृणोति “दग्ध” इति ।

टि० (१) क्रियायोगतनूकृतास्तदनु प्रसङ्ख्यानानिना दग्धबीजभावकल्पा ये सूक्ष्माः  
क्लेशास्ते प्रतिप्रसेवेन = प्रसवाद्विरुद्धः प्रतिप्रसवः प्रलयश्चित्तस्य स्वकारणे लयः, असम्प्र-  
ज्ञातसमाधिरिति यावत् । तेन हेया इत्यर्थः ।

(२) स्थितानाम् = अदग्धानाम् । अत एव बीजभावोपगतानां क्लेशानां या वृत्तयस्तद्वृ-  
त्तयः क्रियायोगेन पूर्वं तनूकृत्य ध्यानेन = प्रसङ्ख्यानाऽग्निना हेयाः = दग्धबीजभावकल्पाः  
कर्तव्या इत्येवं सूत्रेण सहैकवाक्यतयं भाष्यं व्याख्येयम् । स्थितानामित्यस्य तद्वृत्तय इति-  
समासाऽन्तर्गततच्छब्दस्यार्थः क्लेशैः सहान्वय इति विज्ञानार्थाविवरणे तु सूत्रः समास  
आश्रणीय इति बोध्यम् ।



भा० यथा च वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते<sup>[१]</sup> पश्चात्सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन चाऽपनीयते, तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां, सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति ॥११॥

सू० क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टाऽदृष्टजन्मवेदनीयः ॥१२॥

भा० तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रसवः । स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च । तत्र<sup>[२]</sup> तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपः

टी० अत्रैव दृष्टान्तमाह “यथा च वस्त्राणाम्” इति । यत्नेन = तत्क्षालनादिना, उपायेन = क्षारसंयोगादिना, स्थूलसूक्ष्मतामात्रतया दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्येन पुनः प्रयत्नापनेयतया, प्रतिप्रसवहेयेषु तदसम्भवात् । स्वल्पः प्रतिपक्षः = उच्छेदहेतुर्यासां तास्तथोक्ताः । महान् प्रतिपक्ष = उच्छेदहेतुर्यासां तास्तथोक्ताः । प्रतिप्रसवस्य चाऽधस्तात् क्लेशोच्छेदसाधकं स्यात्प्रसंख्यानमित्यवरतया स्वल्पत्वमुक्तम्<sup>[३]</sup> ॥११॥ स्यादेतद्, जात्यायुर्भोगहेतवः क्लेशाः, कर्माशयश्च तथा, न त्वविद्यादयः । तत्कथमविद्यादयः क्लेशा इत्यत आह “क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टाऽदृष्टजन्मवेदनीयः” ॥१२॥ क्लेशो मूलं यस्योत्पादे च कार्यकरणे च स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति, अविद्यादिमूलः कर्माशयो जात्यायुर्भोगहेतुरित्यविद्यादयोऽपि तच्चेतवोऽतः क्लेशा इति । व्याचष्टे “तत्र” इति । आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः, कर्माणामाशयौ = धमाधर्मौ, कामात्काम्यकर्मप्रवृत्तौ स्वर्गादिहेतुर्धर्मो भवति,

टि० (१) निर्धूयते = प्रक्षालनं विनैव वस्त्रविधूनादिना निरस्यत इत्यर्थः ।

(२) अदृष्टजन्मवेदनीयं प्रसिद्धत्वादनुदाहृत्य दृष्टजन्मवेदनीयं पुण्यमुदाहरति, “तत्र तीव्रेति ।

(३) प्रतिप्रसवात्पूर्वभावितया प्रसंख्यानस्य स्वल्पत्वमुक्तमित्यर्थः । अत्र चायं क्रमः—यथा स्थूलो मलो विधूनेन, सूक्ष्मस्तु प्रक्षालनेन, सूक्ष्मतरस्तु क्षारसंयोगेन निरस्यते, तथा स्थूला = उदाराऽवस्थापन्नाः क्लेशाः क्रियायोगेन तनूकर्तव्याः, तनूकृतास्तु प्रसंख्यानेन दग्धबीजभावकल्पाः कर्तव्या, दग्धबीजभावकल्पाश्च प्रतिप्रसवेन ह्येता इति ।



भ० समाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराध-  
नाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिच्यते पुण्यकर्माशय इति ।  
तथा<sup>[१]</sup> तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा  
महानुभावेषु वा तपास्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः<sup>[२]</sup> स चाऽपि  
पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते \* । यथा नन्दीश्वरः कुमारो  
मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः, तथा नहुषोऽपि देवा-  
नामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्य्यक्त्वेन परिणत इति । तत्र  
नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः, क्षीणक्लेशाना-  
मपि नास्ति अदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति ॥ १२ ॥

टी० एवं लोभात्परद्रव्यापहारादावधर्मः । एवं मोहादधर्मे हिंसादौ धर्मबुद्धेः  
प्रवर्त्तमानस्याऽधर्म एव, न त्वस्ति मोहजो धर्मः । अस्ति क्रोधजो धर्मः  
तद्वयथा ध्रुवस्य जनकाऽवमानजन्मनः क्रोधात् तज्जिगीषयाऽऽहितेन<sup>[३]</sup>  
कर्माशयेन पुण्येनान्तरिक्षलोकवासिनामुपरि स्थानम् । अधर्मस्तु क्रोधजो ब्र-  
ह्मवधादिजन्मा प्रसिद्ध एव भूतानाम् । तस्य द्वैविध्यमाह “स दृष्टजन्मवेद-  
नीयश्च” इति । दृष्टजन्मवेदनीयमाह “तीव्रसंवेगेन” इति । यथासंख्येन  
दृष्टान्तावाह<sup>[४]</sup> “यथा नन्दीश्वर” इति । तत्र नारकाणामिति” = येन  
कर्माशयेन कुम्भीपाकादयो नकरभेदाः प्राप्यन्ते तत्कारिणो नारकाः,  
तेषां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः । न हि मनुष्यशरीरेण तत्परि-  
णामभेदेन वा सा तादृशी वत्सरसहस्रादिनिरन्तरोपभोग्या वेदना संभ-  
वति<sup>[५]</sup> इति । शेषं सुगमम् ॥ १२ ॥

टि० (१) दृष्टजन्मवेदनीयं पापमुदाहरति—तथेत्यादिना ।

(२) अपकार इत्यस्याऽग्रे य इत्यनुषज्जनीयम् । \* इहैव जन्मानि फलोन्मुखीभवति ।

(३) तज्जिगीषया=स्वतातोत्तानपादैश्वर्याऽधिकैश्वर्य्यलिप्सयाऽऽहितेन=सम्पादितेनाऽनु-  
ष्ठितेनेत्यर्थः । (४) उक्तयोः पुण्यपापयोर्यथाक्रममुदाहरणमाहेत्यर्थः ।

(५) विज्ञानमिक्षुस्तु नारकिपुरुषाणां धर्माद्यनुत्पत्तेर्न दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः, स्वर्गिणां  
तु भारतवर्षमागत्य लीलामानुषविग्रहेण प्रयागादौ कर्माऽनुष्ठानस्य तत्फलस्य च श्रवणादस्त्येव  
दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति नारकिमात्रवचनम् इत्येवं व्याचक्षे ।



सू० सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः<sup>(१)</sup> ॥१३॥  
 भा० सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकाऽऽरम्भीभवति, नोच्छिन्नक्लेश-  
 मूलः । यथा तुषाऽवनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः<sup>(२)</sup> प्ररो-  
 हसमर्था भवन्ति, नाऽपनीततुषा दग्धबीजभावा वा । तथा क्लेशा-  
 ऽवनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नाऽपनीतक्लेशो न प्र-

टी० स्यादेतद् । अविद्यामूलत्वे कर्माशयस्य विद्योत्पादे सत्यविद्याविना-  
 शान्मा नाम कर्माशयान्तरं चैषीत्, प्राक्तनकर्माशयानामनादिभवपर-  
 म्परासंचितानामसंख्यातानामनियतविपाककालानां भोगेन क्षपयितुमश-  
 क्यत्वादशक्योच्छेदः संसारः स्यादित्यत आह “सति मूले तद्विपाको  
 जात्यायुर्भोगा” इति ॥१३॥

एतदुक्तं भवति । सुखदुःखफलो हि कर्माशयस्तादर्थ्येन तन्नान्त-  
 रीयंकतया जन्माऽऽयुषी अपि प्रसूते, सुखदुःखे च रागद्वेषाऽनुषक्ते  
 तदविनिर्भागवर्तिनी<sup>(३)</sup> तदभावे न भवतः, न चास्ति संभवो, न च तत्र  
 यस्तुष्यति बोद्धिजते वा तच्च तस्य सुखं वा दुःखं वेति<sup>(४)</sup> । तदियमा-  
 त्मभूमिः क्लेशसलिलावसिक्ता कर्मफलप्रसवक्षेत्रमित्यस्ति क्लेशानां  
 फलोपजननेऽपि कर्माशयसहकारितेति, क्लेशसमुच्छेदे सहकारिवैकल्यात्  
 सन्नप्यनन्तोऽप्यनियतविपाककालोऽपि प्रसंख्यानदग्धबीजभावो न फलाय  
 कल्पत इति । उक्तमर्थं भाष्यमेव द्योतयति “सत्सु” इति । अत्रैव दृष्टान्तमा-  
 ह “यथातुषा” इति । सतुषा अपि दग्धबीजभावाः स्वेदादिभिः । दार्ष्टान्तिके  
 योजयति “तथा” इति । ननु न क्लेशाः शक्या अपनेतुम् । न हि सतामपनय

टि० (१) मूले सेति = धर्माऽधर्मयोर्मूलभूते रागद्वेषादिक्लेशे सति, तद्विपाकः = तस्य कर्मा-  
 शयस्य फलं भवतीत्यर्थः । स चायं विपाकस्त्रिविध इत्याह “जात्यायुर्भोगा” इति । जातिः =  
 जन्म, आयुः = जीवनकालः, भोगः = ह्लादपरितापफला सुखदुःखात्मिका चित्तवृत्तिरित्यर्थः ।

(२) दग्धबीजभावा वा इत्युत्तरभाष्यादत्र वा—शब्दो निक्षेपणीयः ।

(३) तदविनिर्भागवर्तिनी = रागद्वेषाऽविनाभाववर्तिनी ।

(४) यत्र यस्तुष्यति तत्तस्य सुखं न, यस्माच्चोद्धिजते तत्तस्य दुःखं नेति यतो न च  
 सम्भवत्यतः सुखदुःखे रागद्वेषाऽनुषक्ते इति भावः ।



भा० सङ्ख्यानदग्धकलेशबीजभावो वेति । स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति । तत्रेदं विचार्यते, किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्, अथैकं कर्मानेकं जन्माक्षिपतीति । द्वितीया विचारणा किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयति, अथाऽनेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयतीति । न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणं, कस्माद् अनादिकालप्रचितस्या<sup>(१)</sup>ऽसङ्ख्येयस्याऽवशिष्टकर्मणः साम्प्रतिकस्य<sup>(२)</sup> च फलक्रमाऽनियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चाऽनिष्ट इति । न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणं, कस्माद् अनेकेषु

टी० इत्यत आह “न प्रसङ्ख्यानदग्धबीजभावो वा” इति । विपाकस्य त्रैविध्यमाह “स च” इति । विपच्यते = साध्यते कर्मभिरिति विपाकः । कर्मैकत्वं ध्रुवं कृत्वा जन्मैकत्वानेकत्वगोचरा प्रथमा विचारणा, द्वितीया तु कर्माऽनेकत्वं ध्रुवं कृत्वा जन्मैकत्वाऽनेकत्वगोचरा । तदेवं चत्वारो विकल्पाः । तत्र प्रथमं विकल्पमपाकरोति “न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्” इति । पृच्छति “कस्माद्” इति । उत्तरमाह “अनादि” इति । अनादिकाले एकैकजन्मप्रचितस्य, अत एवासङ्ख्येयस्य, एकैकजन्मक्षपितादेकैकस्मात्कर्मणोऽवशिष्टस्य कर्मणः, साम्प्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चाऽनिष्ट इति । एतदुक्तं भवति, कर्मक्षयस्य विरलत्वात् तदुत्पत्तिबाहुल्याच्चाऽन्योन्यसंपीडिताश्च कर्माशया निरन्तरोत्पत्तयो निरुच्छासाः स्वविपाकं प्रतीति न फलक्रमः शक्योऽवधारयितुं प्रेक्षावतेत्यऽनाश्वासः पुण्यानुष्ठानं प्रति प्रसक्त<sup>(३)</sup> इति । द्वितीयं विकल्पमपाकरोति । “न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्” इति । पृच्छति “कस्माद्” इति । उत्तरमाह “अनेकेषु” इति । अनेकस्मिन् जन्मन्याहितमेकमेव कर्मानेकस्य जन्म-

टि० (१) प्रचितस्य = सञ्चितस्य । अनादिकालैकैकप्रचितस्येति क्वाचित्कः पाठः ।

(२) साम्प्रतिकस्य = वर्तमानजन्मन्यनुष्ठितस्य । (३) भाविपापादिनाऽनुष्ठायमानं पुण्यानाशसंभवात्पुण्याऽनुष्ठानं प्रत्यनाश्वासो लोकानां स्यादिति भावः ।



भा० कर्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य  
विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति । न चानेकं  
कर्माऽनेकस्य जन्मनः कारणम् । कस्मात् । तदनेकं जन्म युग-  
पन्न सम्भवतीति क्रमेणा वाच्यम् । तथाच पूर्वदोषाऽनुषङ्गः,  
तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे<sup>(१)</sup> कृतः पुण्याऽपुण्यकर्माशयप्रचयो  
विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाऽभिव्यक्त<sup>(२)</sup>  
एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरणां प्रसाध्य संसृष्टित एकमेव जन्म

टी० लक्षणस्य विपाकस्य निमित्तमित्यवशिष्टस्य विपाककालाऽभावः प्रसक्तः,  
स चाप्यनिष्ट इति कर्मवैफल्यात् तदनुष्ठानप्रसङ्गाद्, यदैकजन्मसमु-  
च्छेद्ये कर्मण्येकस्मिन्, फलक्रमानियमादनाश्वासस्तदा कैव कथा बहुजन्म-  
समुच्छेद्ये कर्मण्येकस्मिन् । तत्र ह्यवसराऽभावाद् विपाककालाभाव एव सा-  
म्प्रतिकस्येति भावः । तृतीयं विकल्पमपाकरोति “न चाऽनेकं कर्मानेकस्य  
जन्मनः कारणम्” इति । तत्र हेतुमाह “तद्” इति । तदनेकं जन्म युगपन्न  
सम्भवत्ययोगिन इति क्रमेण वाच्यम् । यदि हि कर्मसहस्रं युगपज्जन्मसहस्रं  
प्रसुवीत तत एव कर्मसहस्रप्रक्षयादवशिष्टस्य विपाककालः फलक्रमानिय-  
मश्च स्यातां, न त्वस्ति जन्मनां यौगपद्यम् । एवमेव प्रथमपक्ष एवोक्तं दूष-  
णमित्यर्थः । तदेवं पक्षत्रये निराकृते पारिशेष्यादनेकं कर्मैकस्य जन्मनः कार-  
णमिति पक्षो व्यवतिष्ठत इत्याह “तस्माज्जन्म” इति । जन्म च प्रायणं च ज-  
न्मप्रायणे, तयोरन्तरं=मध्यं, तस्मिन् विचित्रसुखदुःखफलोपहारेण विचित्रः,  
यद्यत्यन्तमुद्धतमनन्तरमेव फलं दास्यति तत्प्रधानं, यत्तु विलम्बेन तदुपसर्जन-  
म् । प्रायणं=मरणं, तेनाऽभिव्यक्तः=स्वकार्यारम्भणाऽऽभिमुख्यमुपनीत एक-

टि० (१) जन्माऽऽरभ्य मरणपर्यन्तं यो धर्माऽधर्मसमूहो गुणप्रधानभावाऽऽपन्नः शुभाऽशु-  
भकर्मभिर्निष्पादितः स मरणकाल आरब्धकर्मभोगसमाप्त्या लब्धाऽवसरः सन् एकप्रयत्नेन  
स्वफलदानाय मरणं प्रसाध्य संसृष्टितः=एकीभूत एकमेव जन्म करोति, नाऽनेकमित्यर्थः ।

(२) प्रायणाऽभिव्यक्त इत्यनेनाऽभिव्यज्यमानतया फलोन्मुखत्वं सूचयति । अत्रेदमा-  
कृतम् । मरणकाले हि यावन्त्यनारब्धफलानि सञ्चितानि तानि निखिलान्येवाऽभिव्यक्तानि  
भवन्ति प्राक् तु मरणकालादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धानां न तेषामभिव्यक्तिः । तच्च



भा० करोति । तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति । तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यत इति असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति । अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति ।

टी० प्रघट्टकेन = युगपत्, संमूर्छितः = जन्मादिलक्षणे कार्य्ये कर्त्तव्य एकलोलीभावमापन्न एकमेव जन्म करोति, नाऽनेकम् । तच्च जन्म = मनुष्यादिभावः, तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं = कालभेदान्नियतजीवनं च भवतीति, तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः = सुखदुःखसाक्षात्कारः स्वसंबन्धितया संपद्यत इति । तस्मादसौ कर्माशयो जात्यायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयते । औत्सर्गिकमुपसंहरति “अत एकभविकः कर्माशय उक्त” इति । एको भव एकभवः । “पूर्वकालैक” इत्यादिना समासः । एकभवोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयष्ठन् । कचित्पाठ “एकभविक” इति तत्रैकभवशब्दाद् भवार्थे ठक् प्रत्ययः । एकजन्मावच्छिन्नमस्य भवनमित्यर्थः । तदेवमौत्सर्गिकैकभविकस्य त्रिविपाकत्वमुक्त्वा दृष्टजन्मवेदनीयस्यैहिकस्य कर्मणस्त्रिविपाकत्वं व्यवच्छि

टि० मरणमविशेषाद् अखिलऽभुक्तकर्माऽभिव्यञ्जकम् । न हि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हति । न हि समाने प्रदीपाऽभ्यासे घटोऽभिव्यज्यते, न पट इति साम्प्रतमनविष्टादिकारिणां धूमादिवर्त्मना चन्द्रमण्डलमाच्छादनां भुक्तभोगानां ततः प्रत्यवरोहणं छान्दोग्य आम्नायते “यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाऽध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते” इत्यादिना । आवर्त्तमानानां च तेषां “तद् य इह रमणीयचरणा” इत्यादिना जन्माऽऽम्नायते । तदेतदुभयमैकभविकत्वं कर्माशयस्य न सङ्गच्छेत । मरणस्य निखिलकर्माऽभिव्यञ्जकत्वेन निखिलकर्मसन्निधाने एकप्रघट्टकेन मिलित्वा दैवशरीरोपजनोपभोगम्प्रदाय कर्मणां क्षीणत्वाज्जन्मान्तरनिमित्तकर्मशेषाऽभावाद् “वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपाऽऽयुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते” इत्यापस्तम्बेन स्पष्टमेव शेषकर्मसद्भावाऽभिधानाच्चैति चेन्नैव दोषः । नियतविपाकस्थल एवैकभविकत्वस्वीकाराद् ऐकभविकत्वस्य क्वाचित्कत्वात् एतच्च त्रैवाऽनुपदं विस्पष्टयिष्यते भाष्यकारैः । यत्तु विज्ञानभिक्षुणा-स्वर्गादिशरीरे धर्मानुत्पत्ते प्राचीनसर्वकर्मणां च तत्रैव समापनात्स्वर्गनारकिणां पुनर्जन्मादि न स्याद् इत्याऽऽशङ्क्य स्वर्गादिजनककर्मणां ब्राह्मणस्थावरादिपोनिलमपर्य्यन्तं फलश्रवणाद् - इति समाहिततच्छरीरकीयरंहतिपादशाङ्करभाष्याऽनध्ययनविजृम्भितमेव । यतस्तत्र “यदि हि स्वर्गेहो कर्मशेषादवरोहः स्यात्तदा रमणीय एवैकोऽनुशयः स्यान्न कपूय इति । एवं चाऽवरोहकपूयचरणात् कपूययोन्यापादकं शाल्वं कदर्थितं स्याद्” इत्यादिनैतन्मतस्योन्मूलितत्वात् ।



भा० दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वाद्, द्विवि-  
पाकारम्भी वाऽऽयुर्भोगहेतुत्वाद्, नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वा इति ।  
क्लेशकर्मविपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु वासनाभिरनादिकाल-  
संमूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थि-  
भिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः । यस्त्वयं क-  
र्माशय एष एवैकभविक उक्त इति । ये संस्काराः स्मृतिहेत-  
वस्ता वासनास्ताश्चाऽनादिकालीना इति । यस्त्वसावैकभविकः  
कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च । तत्र दृष्टजन्म-  
वेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवाऽयं नियमो, न त्वदृष्टजन्मवेदनी-  
यस्यानियतविपाकस्य । कस्माद्, यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियत-  
विपाकस्तस्य त्रयी गतिः-कृतस्याऽविपक्वस्य\* नाशः, प्रधानक-  
र्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा  
टी० नत्ति। “दृष्ट” इति। नन्दीश्वरस्य खल्वष्टवर्षाऽवच्छिन्नायुषो मनुष्यजन्मन-  
स्तीव्रसंवेगाधिमात्रेपायजन्मा पुण्यभेद आयुर्भोगहेतुत्वाद् द्विविपाको,  
नहुषस्यतुपाणिप्रहारविरोधिनाऽगस्त्यस्येन्द्रपदप्राप्तिहेतुनैव कर्मणाऽऽयुषो  
विहितत्वादपुण्यभेदो भोगमात्रहेतुः । ननु यथैकभविकः कर्माशयस्तथा  
किं क्लेशवासना, भोगानुकूलाश्च कर्मविपाकाऽनुभववासनाः । तथा च  
मनुष्यस्तिर्यग्योनिमापन्नो न तज्जातीयोचितं भुञ्जीतेत्यत आह “क्लेश-  
कर्म” इति । संमूर्च्छितम् = एकलोलीभावमापन्नम् । धर्माधर्माभ्यां व्यव-  
च्छेत्तुं वासनायाः स्वरूपमाह “ये संस्कारा” इति । औत्सर्गिकमै-  
कभविकत्वं क्वचिदपवदितुं भूमिकामारचयति “यस्त्वसौ” इति । तु—  
शब्देन वासनातो व्यवच्छिन्नत्ति । दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यै-  
वाऽयम् = एकभविकत्वनियमो, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्य । किम्भूतस्य  
अनियतविपाकस्येति । हेतुं पृच्छति । “कस्माद्” इति । हेतुमाह “यो  
हि” इति । एकां तावद् गतिमाह “कृतस्य” इति । द्वितीयामाह “प्र-  
धान” इति । तृतीयामाह “नियत” इति । तत्र प्रथमां विभजते “तत्र  
कृतस्य” इति । संन्यासिकर्मभ्योऽशुक्लाऽकृष्णेभ्योऽन्यानि त्रीण्येव कर्माणि

\*अदत्तफलस्य ।



भा० चिरमवस्थानमिति । तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य । यत्रेदमुक्तं, “ द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति । तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ति”

टी० कृष्णशुक्लकृष्णाशुक्लानि । तदिह तपःस्वाध्यायादिसाध्यः शुक्लकर्मशय उदित एवाऽदत्तफलस्य कृष्णस्य नाशकः । आविशेषाच्च शबलस्यापि<sup>[१]</sup> कृष्णभागयोगादिति मन्तव्यम् । तत्रैव भगवानाम्नायमुदाहरति “यत्रेदम्” इति । द्वे द्वे ह वै कर्मणी = कृष्णकृष्णशुक्ले<sup>[२]</sup>, अपहन्तीति सम्बन्धः । विप्लवस्य भूयिष्ठता सूचिता । कस्येत्यत आह “पापकस्य” इति । पापकस्य पुंस इत्यर्थः । कोऽसावपहन्तीत्यत आह “एकै राशिः पुण्यकृतः” इति । समूहस्य समूहिसाध्यत्वात् । तदनेन शुक्लः कर्मशयस्तृतीय उक्तः । एतदुक्तं भवति । ईदृशो नामाऽयं परपीडादिरहितसाधनसाध्यः शुक्लः कर्मशयः । यदेकोऽपि सन् कृष्णान् कृष्णशुक्लान् श्चात्यन्तविरोधिनः कर्मशयान् भूयसोऽपि हन्ति । तत् = तस्माद् इच्छस्वेति छान्दसत्वादात्मनेपदम् । शेषं सुगमम् । अत्र च शुक्लकर्मोदयस्यैव स कोऽपि महिमा यत इतरेषामभावो, न तु स्वाध्यायादिजन्मन दुःखात् । न हि दुःखमात्रविरोध्यधर्मोऽपि तु स्वकार्यदुःखविरोधी<sup>[३]</sup>, न च स्वाध्यायादिजन्यं दुःखं तत्कार्यं, तत्कार्यत्वे स्वाध्यायादिविधानानर्थक्यात् । तद्वलादेव<sup>[४]</sup> तदुत्पत्तेः । अनुत्पत्तौ वा कुम्भीपाकाद्यपि विधीयते अविधाने तदनुत्पत्तेरिति सर्वं चतुरस्रम्<sup>[५]</sup> । द्वितीयां गार्ति विभजते

टि० (१) शबलस्य=यागीयहिंसादक्षिणादिजन्यः पुण्यपापात्मकः शुक्लकृष्णः कर्मशयः शबल इत्युच्यते । तस्याऽपि स्वाध्यायादिजन्यः शुक्लः कर्मशयो नाशक इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह=‘कृष्णभागयोगात्’=पापसंबलितत्वादित्यर्थः ।

(२) कृष्णशुक्ले इति कर्मकारकम् । एवं च पापकस्य पुरुषस्य ये कृष्णकृष्णशुक्लकर्मणी ते स्वाध्यायादिजन्यपुण्यसमूहोऽपहन्तीत्यर्थो बोध्यः ।

(३) हि यतो न दुःखभोगमात्रनाशोऽधर्मोऽपि त्वधर्मजनितदुःखभोगनाशोऽतो स्वाध्यायादिजन्यदुःखाद् अधर्मनाशः किन्तु स्वाध्यायजन्यशुक्लकर्मोदयादेव तन्नाश इति भावः ।

(४) तद्वलादेव=अधर्मबलादेव ब्रह्मोत्पत्तेः=स्वाध्यायानुत्पत्तेरित्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह अनुत्पत्तौ वेति ।

(५) विज्ञानभिक्षुस्तु ‘द्वे द्वे ह वै’ इतीमां श्रुतिमन्यथैव व्याचष्ट । तथा हि पुण्यपा



भा० प्रधानकर्मण्यावापगमनम् = यत्रेदमुक्तं-“स्यात्स्वल्पः सङ्करः  
सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः । कुशलस्य नाऽपकर्षायाऽलं, कस्मात्,  
कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्राऽयमवापं गतः स्वर्गेऽपि अप-  
कर्षमल्पं करिष्यति” इति ।

टी० “प्रधान” इति । प्रधाने कर्मणि ज्योतिष्टोमादिके तदङ्गस्य पशुहिंसादेरा-  
वापगमनम्, (१) द्वे खलु हिंसादेः कार्ये, प्राधानाङ्गत्वेन विधानात् तदुपकारः,  
“न हिंस्यात्सर्वा भूतानि” इति हिंसायाः निषिद्धत्वादनर्थश्च । तत्र प्रधानाङ्ग-  
त्वेनाऽनुष्ठानादप्रधानेतैवेत्यतो न द्रागित्येव प्रधाननिरपेक्षा सती स्वफलम-  
नर्थं प्रसोतुमर्हति, किन्त्वारब्धविपाके प्रधाने साहायकमाचरन्ती व्यवतिष्ठते,  
प्रधानसाहायकमाचरन्त्याश्च स्वकार्ये बीजमात्रतयाऽवस्थानं प्रधाने कर्म-  
ण्यावापगमनम् । “यत्रेदमुक्तं” पञ्चशिखेन-स्वल्पः सङ्करः = ज्योतिष्टो-  
मादिजन्मनः प्रधानाऽपूर्वस्य पशुहिंसादिजन्मनाऽनर्थहेतुनाऽपूर्वेण । सपरि-  
हारः = शक्यो हि कियता प्रायश्चित्तेन परिहर्तुम् । अथ प्रमादतः प्रायश्चित्त-  
मपि नाऽऽचरितं प्रधानकर्मविपाकसमये विपच्यते, तथाऽपि यावन्तमसाव-  
नर्थं प्रसूते तावान् सप्रत्यवमर्षः । मृष्यन्ते हि पुण्यसंभारोपनीतसुखसुधामहा-  
हृदाऽवगाहिनः कुशलाः वापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम् । अतः कुश-  
लस्य = महतः पुण्यस्य, नाऽपकर्षाय = प्रक्षयाय, अलं = पर्याप्तः । पृच्छति “क-  
स्माद्” इति । उत्तरं “कुशलम्” इति । कुशलं हि मे = पुण्यवतो बह्वन्यदस्ति = प्र-  
धानकर्मविपाकतया व्यवस्थितं दीक्षणीयादि दक्षिणान्तं, यत्राऽयं = संकरः स्व-  
ल्पः, स्वर्गेऽपि = अस्य फले, सङ्कीर्णपुण्यलब्धजन्मनः स्वर्गात् सर्वथा  
दुःखेनापरामृष्टादपकर्षम् अल्पम् = अल्पदुःखसंभेदं करिष्यतीति । तृतीयां  
टि० रूपे द्वे कर्मणो वेदितव्ये = अवधारयितव्यं इत्यर्थः । यतः पुण्यकृतः = पुण्यनिर्मितः, एको =  
मुख्यो राशिः, पापकृत्य = पापराशेरपहन्ति, चौरस्य निहन्तीति वत्कर्मणि षष्ठी । तस्मात्सुकृतानि  
कर्माणि कर्तुमिच्छस्व, तच्च कर्म इह लोक एव ते = तुभ्यं, कवयो वेदयन्ति = प्रतिपादयन्ति,  
न तु लोकान्तर इति श्रुत्यर्थः इति । परन्तु कृष्णशुक्लकृष्णशुक्लमेदेन कर्मणां त्रैविध्येन द्वैवि-  
ध्याऽवधारणमसमञ्जसमिवाभाति, अत एवाऽस्वरसाद् वाचस्पतिभिः कर्मणी इति कर्मका-  
रकमाश्रित्य व्याख्यातमिति प्रतिपद्ये । (१) यथा भ्रान्त्यबीजैः सहोत्पन्नानां तृणबीजानां तैः सहैव  
कुसुलमध्यस्थापिनां भ्रान्त्यबीजैः सहैव वपनप्राप्तिर्न स्वातन्त्र्येण तद्वत्प्रधानयागाङ्गतयाऽनुष्ठितानां  
पशुहिंसादीनां यत् स्वातन्त्र्येण फलदानासामर्थ्यम्, प्रधानकर्मविपाकसमये च फलेन्मुखत्वं  
तदाऽऽवापगमनम् । तदेव विशदयति-द्वे इत्यादिनाऽऽवापगमनमित्यन्तेन ।



भा० “नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिऽभूतस्य वा चिरमवस्थानम्,  
= कथमिति, अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणाः  
समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तं, नत्वदृष्टजन्मवेदनीयस्या-  
ऽनियतविपाकस्य। यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकतन्त्र-  
इयेद्, आवापं वा गच्छेद्, अभिभूतं वा चिरमप्युपासीत<sup>(१)</sup> याव-  
त्समानं कर्माऽभिव्यज्जकं निमित्तस्य न विपाकाऽभिमुखं करोति  
इति । तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्ताऽनवधारणादियं कर्मग-  
तिर्विचित्रा दुर्विज्ञाना चेति । नचोत्सर्गस्याऽपवादान्निवृत्तिरिति  
एकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत<sup>(२)</sup> इति ॥ १३ ॥

टी० गतिं विभजते “नियत” इति । बलीयस्त्वेनेह प्राधान्यमभिमतं, नत्वङ्गि-  
तया॥ बलीयस्त्वं च नियतविपाकत्वेनाऽन्यदाऽनवकाशत्वाद्, अनियतवि-  
पाकस्य तु दौर्बल्यमन्यदा साऽवकाशत्वात् । चिरमवस्थानं बीजभावमात्रेण  
न पुनः प्रधानोपकारितया । तस्य स्वतन्त्रत्वाद् । ननु प्रायणेनैकदैव कर्मा-  
शयोऽभिव्यज्यते इत्युक्तमिदानीं च चिराऽवस्थानमुच्यते तत्कथं परं पूर्वेण  
न विरुध्यत इत्याशयवान् पृच्छति “कथम्” इति । उत्तरम् “अदृष्ट”  
इति । जाल्यभिप्रायमेकवचनम् । तदितरस्य गतिमुक्तामवधारयति “यत्त्व-  
दृष्ट” इति । शेषं सुगमम् ॥ १३ ॥

टि० (१) नियतविपाकेन बलीयसा कर्मान्तरेण प्रतिबद्धं बहुकालमवतिष्ठेत् इत्यर्थः । अव-  
स्थानस्याऽवधिमाह-यावत्समानमिति । समानम् = एतद्विरुद्धं, कर्माभिव्यक्तिनिमित्तं यावन्न  
फलोन्मुखीकरोति । तावदित्यर्थः, उपलक्षणं चैतद्, बलीयः कर्मभोगपर्यन्तं वेत्यस्याऽपि । तथा  
च स्मर्यते “कदम्वित्समुक्तं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति । मज्जमानस्य संसारे यावद् दुःखाद्भि-  
मुच्यते” इति । एतादृशकर्मविपाकाऽभिप्रायेणैव, विचित्रा कर्मगतिरित्यादिवचनानीत्याह  
“तद्विपाकस्य” = अभिभूतकर्मविपाकस्येत्यर्थः ।

(२) एतेन ‘यदि च कृत्स्नमारब्धफलं कर्मैकस्मिन् प्रायणेऽभिव्यक्तं सदेकामुत्तरां जाति-  
मारमेत तदा स्वर्गनरकतिर्भ्यग्योनिगतानां जन्तूनां तस्मिन् जन्मनि कर्मस्वनधिकारान्नाऽपूर्व-  
कर्मोपजनः, पूर्वकृतस्य कर्मणः प्रायणाऽभिव्यक्ततया फलोपभोगेन प्रक्षयान्नास्ति कर्माशय,  
इति न ते संसरेयुः, न च ते मुच्येरन्नात्मज्ञानाऽभावाद् इति कष्टान्त आविष्टा दशाम्’ इत्यादि-  
दोषाणां नात्र प्रसर इति ध्वन्यते । पूर्वोक्तदोषादेव नियतविपाकस्थल एवैकभविकत्वाऽभ्युपगमेनै-  
तस्य मतस्योत्सर्गिकत्वाऽभ्यनुज्ञानेनाऽसार्वत्रिकत्वेन दोषाऽभावादिति विदां कुर्वन्त्वन्तर्वाणयः ।



सू० ते ह्लादपरितापफलाः पुण्याऽपुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

भा० ते = जन्मायुर्भोगाः, पुण्यहेतुकाः सुखफला, अपुण्यहेतुका दुःखफला इति । यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषय-  
सुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः<sup>[१]</sup> ॥ १४ ॥

कथन्तदुपपद्यते<sup>[२]</sup> ।

सू० परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च \*  
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

टी० उक्तं क्लेशमूलत्वं कर्मणः, कर्ममूलत्वञ्च विपाकानाम् । अथ वि-  
पाकाः कस्य मूलं येनाऽमी त्यक्तव्या इत्यत आह “ते ह्लादपरितापफलाः  
पुण्याऽपुण्यहेतुत्वाद्” इति ॥ १४ ॥ सूत्रं व्याचष्टे “ते जन्मायुर्भोगा”  
इति । यद्यपि जन्माऽऽयुषोरेव ह्लादपरितापपर्वभावितयाः तत्फलत्वं, न  
तु भोगस्य ह्लादपरितापोदयाऽनन्तरभाविनस्तदनुभवात्मनः, तथाप्यनु-  
भाव्यतया भोगतया भोगकर्मतामात्रेण भोगफलत्वमिति मन्तव्यम् ।  
नन्वपुण्यहेतुका जात्यायुर्भोगाः परितापफला भवन्तु हेयाः प्रतिकूलवे-  
दनीयत्वात्, कस्मात्पुनः पुण्यहेतवस्त्यज्यन्ते सुखफला अनुकूलवेदनी-  
यत्वात् । नचैषां प्रत्यात्मवेदनीयाऽनुकूलता शक्या सहस्रेणाप्यनुमाना-  
गमैरपाकर्तुम् । न च ह्लादपरितापौ परस्पराऽविनाभूतौ । यतो ह्लाद उपादीय-  
मानेऽवर्जनीयतया परितापोऽप्यापतेत् । तयोर्भिन्नहेतुकत्वाद्, भिन्नरूप-  
त्वाच्चेत्यत आह “यथा चेदम्” इति । यद्यपि न पृथग्जनैः प्रतिकू-  
लात्मतया विषयसुखकाले संवेद्यते दुःखं, तथाऽपि योगिभिस्तत्संवेद्यत  
इति ॥ १४ ॥ प्रश्नपूर्वकं तदुपपादनाय सूत्रमवतारयति “कथन्तदुपप-  
द्यत” इति । “परिणामेत्यादि-विवेकिन” इत्यन्तं सूत्रम् ॥ १५ ॥ परिणा-

टि० [१] यथा चेदं = सर्वजनसंवेद्यमाध्यात्मिकादिदुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयजनितसुखा-  
ऽनुभवसमयेऽपि योगिनः प्रतिकूलात्मकं सूक्ष्मं दुःखमस्त्येवेत्यर्थः ।

[२] विषयसुखकालेऽपि योगिभिर्दुःखं संवेद्यत इति यदुक्तं तत्कथमुपपद्यते = कथोपप-  
त्त्याऽवधारयितुं शक्यत इत्यर्थः । \* इत्यंभूतलक्षणे तृतीया ।



भा० सर्वस्याऽयं रागानुविद्धश्चेतनाऽचेतनसाधनाऽधीनः<sup>[१]</sup> सुखा  
 नुभवइति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः । तथाच द्वेष्टि दुःखसाधनानि  
 मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः । तथाचोक्तम् । नाऽनु  
 पहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः

टी० मश्च तापश्च संस्कारश्च एतान्येव दुःखानि तैरिति । परिणामदुः  
 खतया विषयसुखस्य दुःखतामाह । “सर्वस्याऽयम्” इति । न खलु सुखं  
 रागाऽनुवेधमन्तरेण संभवति न ह्यस्ति सम्भवो न तत्र तुष्यति तच्च  
 तस्य सुखमिति । रागस्य च प्रवृत्तिहेतुत्वात्प्रवृत्तेश्च पुण्याऽपुण्योपचयका  
 रित्वात् तत्राऽस्ति रागजः कर्माशयः, असतोऽनुपजननात् । तदा च सुखं  
 म्भुञ्जानस्तत्र सक्तो विच्छिन्नाऽवस्थेन द्वेषेण द्वेष्टि दुःखसाधनानि, तां  
 परिहर्तुमशक्तो मुह्यति च इति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः । द्वेषव-  
 न्मोहस्यापि विपर्ययाऽपरनाम्नः कर्माशयहेतुत्वमविरुद्धम् । ननु कथं रक्तो  
 द्वेष्टि मुह्यति वा रागकाले द्वेषमोहयोरदर्शनादित्यत आह “तथाचोक्तम्”  
 इति । विच्छिन्नाऽवस्थान् क्लेशानुपपादयद्भिस्समाभिः<sup>(२)</sup> । तदनेन वाङ्-  
 मनसप्रवृत्तिजन्मनी पुण्याऽपुण्ये दर्शिते इति रागादिजन्मनः कर्तव्य-  
 मिदमिति मानसस्य संकल्पस्य साऽभिलाषत्वेन वाचनिकत्वस्याऽप्य-  
 विशेषाद् । यथाहुः “साऽभिलाषश्च सङ्कल्पो वाच्यार्थान्नाऽतिरिच्यत”  
 इति । शारीरमपि कर्माशयं दर्शयति “नाऽनुपहत्य” इति । अत एव धर्मशास्त्र-  
 काराः—“पञ्चसूना गृहस्थस्य<sup>(३)</sup>” इत्याहुः । स्यादेतत् । न प्रत्यात्मवेद-

टि० [१] कलत्रमित्रपुत्राऽर्थगृहक्षेत्रधनादिसाधनाऽधीनः इत्यर्थः ।

[२] यथा च रागकालेऽपि विच्छिन्नाऽवस्थापन्नौ द्वेषमौहौ स्तस्तथेः क्तमस्माभिरिति<sup>[४]</sup>  
 सूत्र इत्यर्थः । तथा चोक्तम् इत्यस्य “यथा सुखस्य रागाऽनुविद्धत्वं तथा संयोज-  
 “सुखाऽनुशयी राग” इति सूत्रे सुखाऽभिज्ञस्येत्यादिभाष्येणेत्यर्थ इति तु विज्ञानभिक्षु-  
 संभवेदयमप्यर्थो यदि नाम रागजः कर्माशय इत्युत्तरं तथा चोक्तमित्युच्येत  
 उच्यते तु द्वेषमोहकृतोऽपि कर्माशयोऽस्तीत्युत्तरम्, इति वाचस्पत्यार्थ एवान-  
 इति प्रतिभाति ।

[३] “पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः । कण्डनी चोदकुम्भश्च बद्धयते यावत्  
 बाहयन्” इति संपूर्णं मानवं वचनम् । मांसविक्रयार्थं पशुवधस्थानं सूना । चुल्यादयो  
 ऽपि हिंसागुणयोगात्सूना इव सूनाः । या बाहयन् = स्वकार्येण योजयन् पुरुषो बध्यते  
 = दुष्कृतेन संबध्यते ताश्चुल्यादयः पञ्च सूना इत्यर्थः ।



भा० कर्माशय इति, विषयसुखं चाऽविद्येत्युक्तम् । या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखं या लौल्यादनुपशान्तिस्तददुःखम् नचेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम् । कस्माद्, यतो भोगाऽभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः, कौशलानि चेन्द्रियाणामिति, तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाऽभ्यास इति । स खल्वयं वृश्चिकविप्र-भीत इवाऽऽशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न<sup>[१]</sup> इति । एषा परिणामदुःखतानाम् प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति<sup>[२]</sup> । अथ का तापदुःखता

टी० नीयस्य विषयसुखस्य प्रत्याख्यानमुचितं योगिना । अनुभवविरोधादित्यत आह । “विषयसुखं चाऽविद्येत्युक्तम्” इति । चतुर्विधविपर्ययास-लक्षणामविद्यां दर्शयद्भिः<sup>(३)</sup> इति । नाऽऽपातमात्रमा<sup>(४)</sup> द्वियन्ते वृद्धा, अस्ति खल्वापाततो मधुविषसम्पृक्ताऽन्नोपभोगेऽपि सुखाऽनुभवः प्रत्यात्मवेदनीयः, किन्त्वायत्याम<sup>(५)</sup> सुखम् । इत्थं च दर्शितं भगवतैव—“विषयेन्द्रिय-संयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् । परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्” इति । चोदयति “या भोगेषु” इति । न वयं विषयाऽऽह्लादं सुखमातिष्ठामेह, किन्त्वतृप्यतां पुसां तत्तद्विषयप्रार्थनया परिक्लिष्टचेतसां तृष्णैव महद्दुःखं, नचेयमुपभोगमन्तरेण शाम्यति, न चाऽस्याः प्रशमो रागाद्यनुविद्ध, इति नाऽस्य परिणामदुःखतेति भावः । तृप्तेः = तृष्णाक्षयाद् हेतोः,

टि० (१) विषयाऽनुवासितः = विषयवासनासंवलितः । यः खलु भोगाऽभ्यासेन वैतृष्ण्यं संपिपादयिषति स वृश्चिकभीत आशीविषेण दष्ट इव महति दुःखपङ्के निमग्न इति भाष्यार्थः ।

(२) या एषा परिणामदुःखताऽयोगिनं प्रति परिणामकाले प्रतिकूला, सा योगिनं तु सुखावस्थायामपि क्लिश्नाति = अनर्थहेतुदर्शनेन दुःखाकरोतीत्यर्थः । (३) उक्तमित्यनेनाऽऽकाङ्क्षितं पूरयति, “चतुर्विध” इत्यादिना । दर्शयद्भिरीत्यस्याग्रेऽस्माभिरिति पूरणीयम् ।

(४) आपातमात्रं = तात्कालिकरम्यम्, अविचारितरमणीयं विषयसुखं वृद्धा नाद्वियन्त इत्यर्थः । आदरणे बाधकमाह “अस्ति” इत्यादिना । (५) आयत्याम् = परिणामकाले ।



भा० सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाऽधीनस्तापाऽनुभवइति  
 तत्राऽस्ति द्वेषजः कर्माशयः, सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः काये  
 वाचा मनसा परिस्पन्दते<sup>१)</sup> । ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति च  
 इति पराऽनुग्रहपीडाभ्यां धर्माऽधर्मावुपचिनोति, स कर्माशयो<sup>२)</sup>  
 लोभान्मोहाच्च भवति, इत्येषा तापदुःखतोच्यते । का पुनः संस्कार  
 दुःखता । सुखाऽनुभवात् सुखसंस्काराऽऽशयो, दुःखाऽनुभवादिपि  
 दुःखसंस्काराशय इति । एवं<sup>३)</sup> कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे  
 दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति । एवमिदमनादि दुःखस्रोतो  
 विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति । कस्माद् अक्षि  
 पात्रकल्पो<sup>४)</sup> हि विद्वानिति । यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेऽटी०

टी० इन्द्रियाणामुपशान्तिः = अप्रवर्त्तनं विषयेष्वित्यर्थः । एतदेव व्यतिरे  
 कमुखेन स्पष्टयति “या लौल्याद्” इति । परिहरति “न चेन्द्रियाणाम्”  
 इति । हेतावनोः प्रयोगः सत्यं तृष्णाक्षयः सुखमनवद्यं, तस्य तु न भोगा  
 ऽभ्यासो हेतुरपि तु तृष्णाया एव ताद्विरोधिण्याः । यथाहुः “न जातु  
 कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाऽभि  
 वर्द्धत” इति । शेषमतिरोहितम् । तापदुःखतां पृच्छति—“अथ का  
 इति । उत्तरमाह—“सर्वस्य” इति । सर्वजनप्रसिद्धत्वेन तत्स्वरूपप्रपञ्चम  
 कृत्वा तापदुःखताऽपि परिणामदुःखतासमतया<sup>५)</sup> प्रपञ्चितेति । संस्कारदुः  
 खतां पृच्छति का इति । उत्तरं “सुखानुभव” इति । सुखानुभवो हि संस्कार-

टि० (१) चेष्टते इत्यर्थः । (२) स कर्माशयः = सन्तापकालिकः कर्माशय इत्यर्थः ।

(३) ज्ञानसंस्काराद् दुःखं प्रतिपाद्य धर्माऽधर्मरूपकर्मसंस्कारादपि दुःखं प्रतिपादयति  
 “एवं कर्मभ्य” इति । कर्मभ्यः सुखे दुःखे वा विपाकेऽनुभूयमाने सति पुनः कर्माशयप्रचय  
 इत्यन्वयः । (४) अक्षणः पात्रम् = आधारः, गोलकमिति यावत्, तस्मादीषदूनो विद्वान् इत्यर्थः  
 चक्षुर्गोलकतुल्यः सूक्ष्म इति फलितार्थः । (५) परिणामदुःखतासमतया = एतेन परिणामदुःखं  
 तावद्यप्यत्राऽपि समाना तथाऽपि पूर्वकाल उत्तरकाले च सर्वदैव दुःखत्वात् तापदुःखताया  
 परिणामदुःखतायाः पृथङ्निर्देश इति सूचितम् ।



भा० दुःखयति नाऽन्येषु गात्राऽवयवेषु एवमेतानि दुःखानि अक्षिपा-  
त्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम् । इतरं तु स्वकर्मो-  
पहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यज्यन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवास-  
नाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाऽविद्यया हातव्य ए-  
वाऽहङ्कारममकाराऽनुपातिनं जातं जातं बाह्याऽध्यात्मिकोभयनि-  
मित्तास्त्रिर्वाणास्तापा अनुप्लवन्ते । तदेवमनादिदुःखस्रोतसाव्यू-  
ह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्य-  
ग्दर्शनं शरणां प्रपद्यत इति । गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवे-  
किनः प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा  
शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवाऽऽरभन्ते चलं च गुणवृत्तमिति

टी० माधत्ते, स च सुखस्मरणं, तच्च रागं, स च मनःकायवचनचेष्टां, सा च पुण्या-  
ऽपुण्ये, ततो विपाकाऽनुभवस्ततो वासनेत्येवमनादिता इति । अत्र च सुखदुःख-  
संस्काराऽऽशयात्तत्स्मरणं, तस्माच्च रागद्वेषौ, ताभ्यां कर्माणि, कर्मभ्यां विपाक,  
इति योजना । तदेवं दुःखस्रोतः प्रसृतं योगिनमेव क्लिश्नाति नेतरं पृथग्जनमि-  
त्याह—“एवमिदमनादि” इति । इतरं तु त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्तः<sup>(१)</sup> इति स-  
म्बन्धः । आधिदैविकाधिभौतिकयोस्तापयोर्बाह्यत्वेनैकत्वं विवक्षितम् । चित्ते वृ-  
त्तिरस्या इत्यविद्या चित्तवृत्तिः । तथा हातव्ये एव—बुद्धीन्द्रियशरीरादौ दाराऽप-  
त्यादौ चाहङ्कारममकाराऽनुपातिनमिति । तदत्र न सम्यग्दर्शनादन्यत्परित्राणम-  
स्तीत्याह—“तदेवम्” इति । तदेवमौपाधिकं विषयसुखस्य परिणामतः संस्कारत-  
स्तापसंयोगाच्च दुःखत्वमभिधाय स्वाभाविकमादर्शयति “गुणवृत्तिविरोधाच्च  
इति । व्याचष्टे प्रख्या इति प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिरूपेण परिणता गुणाः=  
सत्त्वरजस्तमांसि परस्पराऽनुग्रहतन्त्राः शान्तं=सुखात्मकं, घोरं=दुखात्मकं, मू-  
ढं=विषादात्मकमेव प्रत्ययं=सुखोपभोगरूपमपि त्रिगुणमारभन्ते । न च सोऽपि

(१) इतरन्तु=योगिमिदं प्राकृतं जनन्तु, त्रिपर्वाणि=त्रीणि—आध्यात्मिकाऽऽधिभौतिका-  
ऽऽधिदैविकरूपाणि पर्वाणि येषां ते तापा, अनु = स्रोत्पत्त्यनन्तरं वर्तमानकाल एव, प्लवन्ते=  
व्याप्नुवन्ति, न तु योगिवत् परिणामदुःखदृष्ट्या ततः पूर्वमित्यर्थः । यथा योगिना विषयसु-  
खाऽनुभवकाले दुःखं संवेद्यते न तथाऽयोगिना तत्काले संवेद्यते, किन्तु दुःखप्राप्तिसमय एवेति  
भावः । भाष्ये स्वकर्मोपहृतमित्यादीनि जातमित्यन्तानि इतरमित्यस्य विशेषणानि ।



भा० क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । रूपाऽतिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेणा विरुद्धयन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते । एवमेव गुणादितरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययादितिसर्वसर्वरूपा भवन्ति गुणप्रधान भावकृतस्त्वेषांविशेषइति । तस्माद्दुःखमेव स विवेकिन इति । तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविवेकतस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः, यथा चिकित्सा शास्त्रं चतुर्व्यां रोगो रोगहेतुः-आरोग्यं-भेषज्यमिति । एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यां हमेव । तद्यथा, संसारः-संसारहेतुः-मोक्षः, मोक्षोपाय इति

टी० तादृशप्रत्ययरूपोऽस्य परिणामः स्थिर इत्याह “चलञ्चगुणवृत्तमिति प्रपरिणामिचित्तमुक्तम्” इति । नन्वेकः प्रत्ययः कथं परस्परविरुद्धशान्तघोरसुखान्येकदा प्रतिपद्यत इत्यत आह । “रूपाऽतिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परे विरुद्धयन्त” इति । रूपाणि = अष्टौ भावाधर्मादयः<sup>(१)</sup> वृत्तयः-सुखाद्याः । दिह धर्मेण विपच्यमानेनाऽधर्मस्तादृशो<sup>(२)</sup> विरुद्धयते । एवं ज्ञानवैराग्यैश्च सुखादिभिश्च तादृशान्येव तद्विपरीतानि<sup>(३)</sup> विरुद्धयन्ते, सामान्यानि तु आदाचरद्विरूपाण्यतिशयैः समुदाचराद्भिः सहाविरोधात्प्रवर्तन्त इति । ननु गृह्य एतत्, तथाऽपि विषयसुखस्य कुतः स्वाभाविकी दुःखतेत्याह “एवमेत” इति । उपादानाभेदादुपादानात्मकत्वाच्चोपादेयस्याप्यभेद इत्यर्थः । तत्किमिदानीं लयन्तिकमेव तादात्म्यं, तथा च बुद्धिव्यपदेशभेदौञ्जन कल्पेते इत्यत आह “गुणप्रधान” इति । सामान्यात्मना गुणभावोऽतिशयात्मना च प्राधान्यं, तस्मात्पाधितः स्वभावतश्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति दुःखं हेयं प्रज्ञावताम् । तद्विदानहानमन्तरेण तद्धेयं भवितुमर्हति, नचाऽपरिज्ञातं निदानं शक्यं इति मिति मूलनिदानमस्य दर्शयति “तदस्य” इति । दुःखसमुदायस्य प्रभवः = तत्पत्तिर्यतस्तद्बीजमित्यर्थः । तदुच्छेदहेतुं दर्शयति-“तस्याश्च” इति । इदानीं स्य शास्त्रस्य सर्वानुग्रहाय प्रवृत्तस्य तद्विधेनैव शास्त्रेण सादृश्यं दर्शयति “यथा” इति । चत्वारो व्यूहाः = संक्षिप्ता अवयवरचना यस्य तत्तथोक्तम्

टि० (१) धर्मादयः=धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याऽधर्माऽज्ञानाऽवैराग्यानैश्वर्याप्यष्टावित्यर्थः । (२) तादृशः=उत्कर्षत्वेन विपाकाऽभिमुख इत्यर्थः “समबलयोर्हि विरोध” इति न्यायेनोत्कृष्टस्यैवोत्कृष्टविरोधो, न त्वपकृष्टस्येति भावः । (३) तद्विपरीतानि=ज्ञानवैराग्यैश्वर्यसुखादिविपरीतानि अज्ञानाऽवैराग्यानैश्वर्यदुःखानां इत्यर्थः । \*इदं सत्त्वं सुखात्मकमिदं रजो दुःखात्मकमित्यादिव्यवहारभेदादि



भा० तत्र<sup>(१)</sup> दुःखबहुलः संसारो हेयः, प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेय-  
हेतुः, संयोगस्याऽऽत्यन्तिकी निवृत्तिर्हानं, हानोपायः सम्यग्दर्शनम् । तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं हेयं वा न भवितुमर्हतीति,  
हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः, उभयप्रत्याख्याने च शाश्वतवाद इत्येतत् सम्यग्दर्शनम् ॥ १५ ॥

टी० ननु दुःखं हेयमुक्त्वा<sup>(२)</sup> संसारं हेयमभिदधतः कुतो न विरोध इत्यत आह  
“तत्र दुःखबहुल” इति \* यत्कृत्वाऽविद्या संसारं करोति तदस्या अवान्तर-  
व्यापारं संसारहेतुमाह “प्रधानपुरुषयोः” इति । मोक्षस्वरूपमाह “संयोगस्य”  
इति । मोक्षोपायमाह “हानोपाय” इति । केचि<sup>(३)</sup> त्पश्यन्ति हातुः स्वरूपोच्छेद  
एव मोक्षः । तथाऽऽहुः “प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य तायिनः”† इति ।  
अन्ये<sup>(४)</sup> तु सवासनक्लेशसमुच्छेदाद्विशुद्धविज्ञानोत्पाद एव मोक्ष इत्याचक्षते,  
तान् प्रत्याह “तत्र” इति । तत्र हानं तावद् दूषयति “हाने तस्य” इति । न हि  
कश्चित्प्रेक्षावानात्मोच्छेदाय यतते । ननु दृश्यन्ते तीव्रगदो<sup>(५)</sup> न्मूलितसकल-  
सुखा दुःखमयीमिव मूर्त्तिमुद्बहन्तः स्वोच्छेदाय यतमानाः । सत्यं, केचिदेव  
ते<sup>(६)</sup>, न त्वेवं संसारिणां विविधविचित्रदेवाद्यानन्दभोगभागिनः । तेऽपि च मो-  
क्षमाणा दृश्यन्ते । तस्मादपुरुषार्थप्रसक्तेर्न हातुः स्वरूपोच्छेदो मोक्षोऽभ्युपेयः,  
अस्तु तर्हि हातुः स्वरूपमुपादेयमित्यत आह—“उपादाने च हेतुवाद” इति ।  
उपादाने हि कार्यत्वेनाऽनित्यत्वे सति मोक्षत्वादेव च्यवेत । अमृतत्वं हि मो-  
क्षः । नाऽपि विशुद्धो विज्ञानसन्तानो भवत्यमृतः । सन्तानिभ्यो व्यतिरिक्तस्य स-  
न्तानस्य वस्तुसतोऽभावात्, सन्तानिनां चानित्यत्वात् । तस्मात्तथा यतितव्यं  
यथाशाश्वतवादो भवति । तथा च पुरुषार्थत्वमपवर्गस्येत्याह “उभयप्रत्याख्याने”  
इति । तस्मात्स्वरूपावस्थानमेवात्मनो मोक्ष इत्येतदेव सम्यग्दर्शनम् ॥ १५ ॥

टि० (१) तत्र चतुर्व्युहानां मध्ये । (२) सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग् दर्शनं योगी शरणं प्रति-  
पद्यत इत्यादिना दुःखमेव हेयमित्युक्तप्रायमत उक्तवैयुक्तम् । उपलक्षणं चैतद् । अग्रिमसूत्रेण  
दुःखस्यैव हेयत्वाऽभिधास्यमानत्वादित्यस्याऽपि । \* यत्कृत्वा=यद्द्वारा । (३) कोचित्=क्षणिकं  
विज्ञानस्कन्धमात्मत्वेनाऽभ्युपयन्तश्चतुर्विधया भावनया नीलपीताद्युपप्लवसंवलितविज्ञानसन्तान-  
नस्य प्रदीपनिर्वाणवदत्यन्तोपरममेव कैवल्यमभीप्सन्तो बौद्धविशेषा यो गाचारा इत्यर्थः । † सन्ता-  
न्निनः, चेतस इति पाठान्तरम् । (४) अन्ये=विधूतविषयाकारोपप्लवविशुद्धविज्ञानसन्तानो-  
दयमेवापवर्गमभिलपन्तो बौद्धभेदा माध्यमिका इत्यर्थः । (५) गदः=रोगः । (६) ये आत्मोच्छे-  
दाय यतमाना दृश्यन्ते ते कोचिदेव साहासिका, न तु सर्वे लौकिका इत्यर्थः । तदेवाह “न त्वेवम्” इति ।



तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते<sup>(१)</sup> ।

सू० हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

भा० दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं<sup>(२)</sup> न हेयपक्षे वर्त्तते । वर्त्तमानं च स्वक्षणे भोगाऽऽरूढमिति न तत् क्षणान्तरे हेयतामापद्यते, तस्माद् यदेवाऽनागतं<sup>(३)</sup> दुःखं तदेवाऽक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लि-  
शनाति, नेतरं प्रतिपत्तारम् । तदेव हेयतामापद्यते ॥ १६ ॥

तस्माद् यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते ।

सू० द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

भा० द्रष्टा=बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः, दृश्याः=बुद्धिसत्त्वोपाारूढाः

टी० तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते—“हेयं दुःखमनागतम्” ॥ १६ ॥  
अनागतमिति अतीतवर्त्तमाने व्यवच्छिन्ने । तत्रोपपत्तिमाह “दुःखमती-  
तम्” इति । ननु वर्त्तमानमुपभुज्यमानं न भोगेनाऽतिवाहितमिति क-  
स्मान्न हेयमित्यत आह “वर्त्तमानं च” इति । सुगमम् ॥ १६ ॥

हेयमुक्तं, तस्य निदानमुच्यते “द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः” ॥ १७ ॥ द्रष्टृ-  
स्वरूपमाह “द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी” इति । चित्तिच्छायाऽऽपत्तिरेव बुद्धेः  
बुद्धिप्रतिसंवेदित्वमुदासीनस्यापि पुंसः । नन्वेतावताऽपि बुद्धिरेवाने-  
दृश्येत, न दृश्येरन् शब्दादयोऽत्यन्तव्यवहिता इत्यत आह “दृश्या बु-  
द्धिसत्त्व” इति । इन्द्रियप्रणालिकया बुद्धौ शब्दाद्याकारेण परिणताय  
दृश्यायां भवन्ति शब्दादयोऽपि धर्मा दृश्या इत्यर्थः ।

ननु तदाकाराऽऽपत्त्या बुद्धिः शब्दाद्याकारा भवतु, पुंसस्तु बुद्धि-

टि० (१) यथा च तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहं तथा सूत्रकारेण हेयादिक्रमद्वारा प्रतिपाद्यतइत्यर्थः । कु-  
त्रचिन्नु-इत्यभिधीयते हेयमिति पठ्यते । एतदनुसारेणैव च वाचस्पत्येऽपि तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमती-  
ऽभिधीयते हेयमित्याह “तदेतच्छास्त्रमिति” इति पठ्यते । परन्त्वयं पाठो योगवास्तिककाराऽऽसम्मतः  
(२) अतिवाहितम्=अतिक्रान्तम् । भोगेन नाशितमिति यावद् । (३) नचाऽनागतदुःख-  
सत्त्वे मानाऽभाव इति वाच्यं । तृतीये पादे धर्मिलक्षणसूत्रे (१४) जलभूम्यादिदृष्टान्तैः स-  
र्वैव परिणाभिवास्तुनि कार्याऽनागताऽवस्थाऽनुमानस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।



भा० सर्वे धर्माः । तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोप-  
कारि दृश्यत्वेन भवति पुरुषस्य स्वं दृशिरूपस्य स्वामिनः । अनुभ-  
वकर्मविषयतामापन्नमन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि  
टी० संबन्धेऽभ्युपगम्यमाने परिणामित्वम्, असंबन्धे वा कथं तेषां बुद्धिसत्त्वो-  
पारूढानामपि शब्दादीनां दृश्यत्वम् न हि दृशिनाऽसंस्पृष्टं दृश्यं दृष्टमित्यत  
आह । “तदेतद् दृश्यम्” इति । प्रपञ्चितमिदमस्माभिः प्रथमपाद एव यथा  
चित्याऽसम्पृक्तमपि बुद्धिसत्त्वमत्यन्तस्वच्छतया चितिबिम्बोद्ग्राहितया स-  
मापन्नचैतन्यमिव शब्दाद्यनुभवतीति<sup>(१)</sup> । अत एव च शब्दाद्याकारपरिणत-  
बुद्धिसत्त्वोपनीतान् सुखादीन् भुञ्जानः स्वामी भवति द्रष्टा, तादृशं चास्य  
बुद्धिसत्त्वं स्वं भवति । तदेतद् बुद्धिसत्त्वं शब्दाद्याकारवद् दृश्यमयस्कान्त-  
मणिकल्पं पुरुषस्य स्वं भवति दृशिरूपस्य स्वामिनः । कस्माद्, “अनुभव”  
इति । अनुभवकर्मविषयतामापन्नं यतः । अनुभवो = भोगः पुरुषस्य, कर्म =  
क्रिया, तद्विषयताम् = भुज्यमानताम्, आपन्नं यस्मादतः स्वं भवतीत्यर्थः ।  
ननु स्वयंप्रकाशं बुद्धिसत्त्वं कथमनुभवविषय इत्यत आह “अन्यस्वरूपेण”  
इति । यदि हि चैतन्यरूपं वस्तुतो बुद्धिसत्त्वं स्याद् भवेत् स्वयंप्रकाशं, कि-  
न्तु स्वं = चैतन्यादन्यज्जडरूपं तेन प्रतिलब्धात्मकं, तस्मात्तदनुभवविषयः ।  
ननु यस्य हि यत्र किञ्चिदायतते तत् तदधीनं, न च बुद्धिसत्त्वस्य पुरुषमु-  
दासीनं प्रति किञ्चिदायतत इति कथं च तत्तन्त्रं, तथा च न तस्य कर्मेत्यत  
आह । “स्वतन्त्रमपि” इति । परार्थत्वात् = पुरुषार्थत्वात्, परतन्त्रं = पुरुषत-  
न्त्रम् । नन्वयं दृग्दर्शनशक्तयोः संबन्धः स्वाभाविको वा स्यान्नैमित्तिको वा,  
स्वाभाविकत्वे संबन्धिनोर्नित्यादशक्योच्छेदः संबन्धः । तथा च संसारनित्यत्वं,  
नैमित्तिकत्वे तु क्लेशकर्मतद्वासनानामन्तःकरणवृत्तितया सत्यन्तःकरणे भा-  
वादन्तःकरणस्य च तन्निमित्तत्वे परस्पराश्रयप्रसङ्गादनादित्वस्य च सर्गादा-  
वसंभवादननुत्पाद एव संसारस्य स्याद्, यथोक्तं - “पुमानकर्त्ता येषान्तु तेषामपि  
गुणैः क्रिया । कथमादौ भवेत्तत्र कर्म तावन्न विद्यते ॥१॥ मिथ्याज्ञानं न तत्रारित

टि० (१) यथा च चित्या सह देशातः कालतो वाऽसंबन्धमपि बुद्धिसत्त्वं योग्यता लक्षण-  
संबन्धेन समापन्नचैतन्यं सत् शब्दाद्यनुभवति तथा प्रथमपादे, वृत्तिसारूप्यमित्यत्रेति सूत्र  
एव प्रपञ्चितमस्माभिरित्यर्थः ।



परार्थत्वात्परतन्त्रम् । तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुः = दुःखस्य कारणमित्यर्थः । तथाचोक्तं—“तत्संयोगहेतु-  
विवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः” कस्माद्, दुःखहेते  
परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात् । तद्यथा, पादतलस्य भेद्यता, क-  
ण्टकस्य भेत्तृत्वम् । परिहारः—कण्टकस्य पादानधिष्ठानं, पादत्रा-  
णाव्यवहितेन वाऽधिष्ठानम् । एतत् त्रयं<sup>(१)</sup> यो वेद लोके स तत्र

टी० रागद्वेषादयोऽपि वा । मनोवृत्तिर्हि सर्वेषां नचोत्पन्नं मनस्तदा ॥ २ ॥ इति श-  
ङ्कामपनयति । “तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुः” इति  
सत्यं न स्वाभाविकः संबन्धः, नैमित्तिकस्तु । न चैवमादिमान्, अनादिनि-  
मित्तप्रभवतया तस्याऽप्यनादित्वात् । क्लेशकर्मतद्वासनासन्तानश्चाऽयमना-  
दिः, प्रतिसर्गावस्थायां<sup>(२)</sup> च सहान्तःकरणेन प्रधानसाम्यमुपगतोऽपि सर्गा-  
दौ पुनस्तादृगेव भवति, वर्षापाय इवोद्भिज्जभेदो<sup>(३)</sup> मृद्भावनमुपगतोऽपि पुन-  
र्वर्षासु पूर्वरूप इत्यसकृदावेदितं प्राक् । भाविततया<sup>(४)</sup> संयोगस्याविद्या कार-  
णं, स्थितिहेतुतया पुरुषार्थः कारणं, तद्वशेन तस्य स्थितेः\* । तदिदमु-  
क्तम् “अर्थकृत” इति ।

“तथा चोक्तम्” इति । पञ्चशिखे न<sup>(५)</sup> । तत्संयोगः = बुद्धिसंयोगः,  
स एव हेतुर्दुःखस्य तस्य विवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः,  
अर्थात् तदवर्जने दुःखमित्युक्तं भवति । तत्रैवाऽत्यन्तप्रसिद्धं निदर्शनमाह  
“तद्यथा” इति । पादत्राणम् = उपानत् । स्यादेतद्, गुणसंयोगस्तापहेतु-  
रित्युच्यमाने गुणानां तापकत्वमभ्युपेयं, न च तपिक्रियाया अस्त्यादेरिव

टि० (१) एतत् त्रयं = भेद्यभेत्तृतत्प्रतीकाररूपमुपायत्रयमित्यर्थः । एतत् त्रयमित्यादि, साम-  
र्थ्यादितीत्यन्तो ग्रन्थो दृष्टान्तभाग एव । लोके भेदं दुःखं नाप्नोतीत्यादिस्वरसात् । दार्ष्ट-  
ान्तिकपरत्वे तु बुद्धिसंयोगं दुःखं नाऽऽप्नोतीत्येव वक्तुं युज्येत । विज्ञानभिक्षोर्दार्ष्टान्तिकपर-  
तया व्याख्यानन्तूच्छृङ्खलत्वेनेति नाऽत्र सूक्ष्मविचारोऽपेक्षेत्यलम् । (२) प्रतिसर्गाऽवस्थायां =  
प्रलयाऽवस्थायाम् । (३) उद्भिज्जभेदः = तृणादिः । (४) भाविततया = उत्पादकतये-  
त्यर्थः । उपादानतयेति वा । (५) केनोक्तमित्याकाङ्क्षां शमयति । “पञ्चशिखेन” इति ।

(\*) तद्वशेन = पौरुषेयभोगाऽपवर्गवशेन, तस्य = संयोगस्य, स्थितेरित्यर्थः ।



भा० प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाऽऽप्नोति। कस्मात्, त्रित्वो-  
पलब्धिसामर्थ्यादिति। अत्राऽपि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यं,  
कस्मात्, तपिक्रियायाः कर्मस्यत्वात्। सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया, ना-  
ऽपरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे। दर्शितविषयत्वात्। सत्त्वे तु तप्य-  
माने तदाकाराऽनुरोधी पुरुषोऽनुतप्यत इति दृश्यते ॥ १७ ॥

दृश्यस्वरूपमुच्यते ।

सू० प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगा-  
ऽपवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

भा० प्रकाशशीलं सत्त्वं, क्रियाशीलं रजः, स्थितिशीलं तम इति। एते

टी० कर्तृस्थो भावो येन तप्यमन्यन्नाऽपेक्षेत । <sup>(१)</sup> न चास्यास्तप्यतया पुरुषः  
कर्म । तस्याऽपरिणामितया क्रियाजनितफलशालित्वाऽयोगात् । तस्मात्  
तपेस्तप्यव्याप्तस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तिमवगच्छामः । ज्वलनविरहेणैव धूमा-  
ऽभावमित्यत आह । “अत्रापि तापकस्य” इति । गुणानामेव तप्यताप-  
कभावः । तत्र मृदुत्वात्पादतलवत्सत्त्वं तप्यं, रजस्तु तीव्रतया तापकमिति  
भावः । पृच्छति “कस्माद्” इति । कस्मात्सत्त्वमेव तप्यं, न तु पुरुष इत्यर्थः ।  
उत्तरं “तपिक्रियाया” इति । तत्किमिदानीं पुरुषो न तप्यते । तथाचाचेतन-  
स्याऽस्तु सत्त्वस्य तापः, किन्नाश्छिन्नमित्यत आह—“दर्शितविषयत्वात्सत्त्वे  
तु तप्यमाने तदाकाराऽनुरोधी पुरुषोऽप्यनुतप्यत” इति । दर्शितविषय-  
त्वमनुतापहेतुः । तच्च प्राग् व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

दृश्यं व्याचष्टे “प्रकाशेत्यादि, दृश्यम्” इत्यन्तेन सूत्रेण ॥ १८ ॥ सत्त्वस्य हि  
भागः प्रकाशस्तामसेन भागेन दैन्येन वा राजसेन वा दुःखेनाऽनुरज्यते । एवं  
राजसादिष्वपि द्रष्टव्यम्। तादिदमुक्तं “परस्पोपरक्तप्रविभाग” इति। पुरुषेण सह

(१) नहि अस्यादिधातुवत्तपिधातुः कर्तृस्थभावत्वेनाऽकर्मको । येन तप्यं कर्म नाऽपेक्षेत  
किन्तु पचादिवत् कर्मस्यक्रियात्वेन सकर्मक इत्यर्थः । \* व्यापकीभूततप्यनिवृत्तौ ।



भा० गुणाः<sup>(१)</sup> परस्परोपरक्तप्रविभागाः संयोगविभागधर्माणा इतरे  
 रोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसंभिन्नशक्तिप्र  
 भागाः<sup>(२)</sup> स्तुल्यजातीया तुल्यजातीयशक्तिभेदाऽनुपातिनः प्रधान

टी० संयोगविभागधर्माणः = यथाऽऽम्नायते “अजामेकां लोहितशुक्लकृष्ण  
 बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजोऽह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येन  
 भुक्तभोगामजोऽन्य<sup>(३)</sup>” इति । इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जिता मूर्तिः = पृथिव्या  
 दिरूपा यैस्ते तथोक्ताः । स्यादेतत्, सत्त्वेन शान्तप्रत्यये जनयितव्ये रज  
 स्तमसोरपि सत्त्वाङ्गत्वेन तत्र हेतुभावादास्ति सामर्थ्यमिति<sup>(४)</sup> यदाऽपि  
 रजस्तमसोरङ्गित्वं तदाऽपि शान्त एव प्रत्यय उदीयेत, न घोरो, नाऽ  
 मूढो वा सत्त्वप्राधान्य इवेत्यत आह । “परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसंभिन्नशक्तिप्र  
 विभागा” इति । भवतु शान्ते प्रत्यये जनयितव्ये रजस्तमसोरङ्गभावस्त  
 थाऽपि नैषां शक्तयः सङ्कीर्यन्ते । कार्य्यासङ्करोन्नेयो हि शक्तीनामसङ्करः  
 असङ्कीर्णेन च समुदाचरता रूपेण शान्तघोरमूढरूपाणि कार्य्याणि  
 दृश्यन्त इति सिद्धं शक्तीनामसंभेद इति ।

स्यादेतद्, असंभेदश्चेत् शक्तीनां न सम्भूयकारित्वं गुणानां, न जा  
 भिन्नशक्तीनां सम्भूय कार्य्यकारित्वं दृष्टम्, न हि तन्तुमृत्पिण्डवीरण  
<sup>(५)</sup>दीनि घटादीन् सम्भूय कुर्वन्ति इत्यत आह “तुल्यजातीयाऽतुल्यजाती  
 यशक्तिभेदाऽनुपातिन” इति । यद्यपि तुल्यजातीय उपादानशक्ति

टी० (१) एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्तीत्येवमग्रिमेण संबन्धः । (२) अन्योऽन्याङ्गाणि  
 भावेऽप्यसङ्कर्णप्रकाशादिशक्तिविभागा इत्यर्थः । (३) एकोऽजः = बुद्धिसत्त्वादात्मनो विवेक  
 मबुद्धयमानः पुरुषः, लोहितशुक्लकृष्णां = गुणत्रयात्मिकां, सरूपाः = सुखदुःखमोहात्मिका  
 बह्वीः प्रजाः सृजमानामजामेकां प्रकृतिं जुषमाणः = बुद्धिवृत्त्यैवाऽविद्यया बुद्धिस्थान् सुख  
 दीनात्मन्यभिमन्यमानोऽनुशेते = सुखीदुःखी मूढोऽहमित्यनुशयेन संसरति । एतेन पुरुषेण स  
 संयोगधर्माणो गुणा इत्युक्तम् । अधुना विभागधर्मत्वमाह “जहात्येनाम्” इति । अन्यः = सत्  
 पुरुषाऽन्यतरूपातिमान्, एनां भुक्तभोगां = कृतभोगाऽपवर्गीं प्रकृतिं जहाति = अनात्मगत  
 त्यजतीति श्रुत्यर्थः । (४) इति शब्दे हेत्वर्थे, एवं चेत्यर्थे वा । निपातानामनेकार्थत्वात्  
 (५) वीरणं = तृणविशेषः कटोपादानभूतः ।



वेलायामुपदर्शितसन्निधाना गुणात्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीताऽनुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्यास्सन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्त्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति । एतद्

टी० नान्यत्र, सहकारि<sup>(१)</sup> शक्तिस्त्वतुल्यजातीये । घटे तु जनयितव्ये न वीरणानामस्ति सहकारिशक्तिरपीति न तैस्तन्तूनां सम्भूयकारितेति भावः । तुल्यजातीयाऽतुल्यजातीयेषु शक्येषु ये शक्तिभेदास्ताननुपतितुं शीलं येषां ते तथोक्ताः “प्रधानवेलायाम्” इति = दिव्यशरीरे जनयितव्ये सत्त्वं गुणः प्रधानम्, अङ्गे रजस्तमसी । एवं मनुष्यशरीरे जनयितव्ये रजः प्रधानम्, अङ्गे सत्त्वतमसी । एवन्तिर्यक्शरीरे जनयितव्ये तमः प्रधानम्, अङ्गे सत्त्वरजसी । तेनैते गुणाः प्रधानत्ववेलायामुपदर्शितसन्निधानाः = कार्योपजननं प्रत्युद्भूतवृत्तय इत्यर्थः । प्रधानशब्दश्च भावप्रधानः । यथा “द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने” इत्यत्र द्वित्वैकत्वयोरिति । अन्यथा<sup>(२)</sup> द्व्येकेष्विति स्यात् । ननु तदा प्रधानमुद्भूततया शक्यमस्तीति वक्तुम्, अनुद्भूतानां तु तदङ्गानां सद्भावे किम्प्रमाणामत्यत आह “गुणत्वेऽपि च” इति । यद्यपि नोद्भूतास्तथाऽपि गुणानामविवेकित्वात्संभूयकारित्वाच्च व्यापारमात्रेण सहकारितया प्रधानेऽन्तर्णीतं सद् अनुमितमस्ति त्वं येषां ते तथोक्ताः । ननु सन्तु गुणाः संभूयकारिणः समर्थाः, कस्मात्तत्पुनः कुर्वन्ति । न हि समर्थमित्येव कार्यं जनयति, मा भूदस्य कार्योपजननं प्रति विराम इत्यत आह “पुरुषार्थकर्तव्यतया” इति । ततो<sup>(३)</sup> निर्वर्त्तितनिखिलपुरुषार्थानां गुणानामुपरमः कार्यानारम्भणमित्युक्तं भवति । ननु पुरुषस्यानुपकुर्वतः कथं पुरुषार्थेन प्रयुज्यत इत्यत आह “सन्निधिमात्रोपकारेण” । इति ननु धर्माधर्मलक्षणमेव निमित्तं प्रयोजकं गुणानां, किमुच्यते पुरुषार्थप्रयुक्ता इत्यत

टि० (१) ‘सहकारि’ इत्यस्यादौ तथाऽपीति देयम् । यद्यप्युपादानकारणं समानजातीयमेव भवति नान्यस्तथाऽपि सहकारिकारणत्वं तुल्यजातीयमपि भवतीत्यर्थः । (२) अन्यथा = सङ्ख्येयपरत्वे तु इत्यर्थः । (३) ततः = सत्त्वपुरुषाऽन्यताख्यातिरूपपुरुषार्थसम्पादनानन्तरमित्यर्थः ।



दृश्यमित्युच्यते । तदेतद् दृश्यं भूतेन्द्रियात्मकं=भूतभावेन-पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन<sup>(१)</sup> परिणामते । तथेन्द्रियभावेन=श्रोत्रादिना<sup>(२)</sup> सूक्ष्मस्थूलेन परिणामत इति । तत्तु नाऽप्रयोजनम्

टी० आह “प्रत्ययमन्तेरण” इति । एकतमस्य=सत्त्वस्य रजसस्तमसो वा प्रधानस्य स्वकार्ये प्रवृत्तस्य, वृत्तिम्, इतरे<sup>(३)</sup> प्रत्ययं=निमित्तं धर्मादिकं विनैवाऽनुवर्त्तमानाः । यथा च वक्ष्यति “निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवद्<sup>(४)</sup> इति । एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्तीति सम्बन्धः, प्रधीयते विधीयते विश्वं कार्यमेभिरिति व्युत्पत्त्या, एतद् दृश्यमुच्यते । तदेवं गुणानां शीलमभिधाय तस्य कार्यमाह “तदेतद्” इति । सत्कार्यवादसिद्धौ यद् यदात्मकं तत् तेन रूपेण परिणमत इति । भूतेन्द्रियात्मकत्वं दीपयति, “भूतभावेन” इत्यादिना । “भोगापवर्गार्थम्” इति सूत्राऽवयवमवतारयति “तत्तु नाप्रयोजनम्” इति । भोगं विवृणोति “तत्र” इति सुखदुःखे हि त्रिगुणाय बुद्धेः स्वरूपे, तस्यास्तथात्वेन परिणामात् । तथा गुणगततयाऽवधारणेन भोग इत्यत आह “अविभागाऽऽपन्नम्” इति । एतच्चाऽसकृदावेदितम् । अपवर्गं विवृणोति “भोक्तुरिति अपवृज्यतेऽनेनेत्य

टि० (१) भूतभावेनेत्यस्य व्याख्यानं पृथिव्यादिनेति । तत्राऽवान्तरभेदमाह—“सूक्ष्मस्थूले” इति । तन्मात्राणि सूक्ष्मपृथिव्यादीनि, महाभूतानि स्थूलपृथिव्यादीनि इत्यर्थः ।

(२) इन्द्रियभावेनेत्यस्य विवरणं “श्रोत्रादिना” इति । अत्राऽप्यवान्तरभेदमादाय द्वौ विध्यमाह “सूक्ष्मस्थूलेन” इति । महदहङ्कारौ सूक्ष्मेन्द्रियम्, एकादश च स्थूलेन्द्रियाणीति इति विज्ञानः । [३] इतरे = उपसर्जनीभूताः सत्त्वादयो गुणा इत्यर्थः ।

[४] निमित्तं = धर्मादि, प्रकृतीनां प्रवृत्तौ न प्रयोजकं, किन्तु ततः = धर्मादेः, वणस्य = प्रतिबन्धकस्य भेदो भवति । धर्माऽधर्मौ स्वाविरुद्धधर्मान्तररूपाऽऽवरणभङ्गेनोद्भवाविव, न प्रयोजकाविति यावत् । तत्र दृष्टान्तमाह । “क्षेत्रिकवद्” इति । यथा कृषीवलो जलपूर्णकेदारत्वेदारान्तरं जलं निनीषुर्न पाणिनाऽपोऽपकर्षति, किन्तु जलप्रतिबन्धकमाल्लवामिनत्ति, भिन्ने तु स्वयमेव जलं केदारमाप्लावयति । तद्वत् ।



भा० अपि तु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति<sup>(१)</sup> भोगाऽपवर्गार्थं हि तद् दृश्यं पुरुषस्येति । तत्रेष्टानिष्टगुणास्वरूपाऽवधारणाम् अविभागाऽऽपन्नं भोगः, भोक्तुः स्वरूपाऽवधारणामपवर्ग इति, द्वयोरतिरिक्तमन्यद्<sup>(२)</sup> दर्शनं नास्ति । तथाचोक्तम्<sup>(३)</sup> “अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्तरि च पुरुषे तुल्याऽतुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिरयुपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्न दर्शनमन्यच्छङ्कत” इति । तावेतौ भोगाऽपवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति । यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्येते, स हि तस्य फलस्य भोक्तेति ।

टी० पवर्गः । प्रयोजनान्तरस्याऽभावमाह “द्वयोः” इति । “तथा चोक्तं पञ्चशिखेन “अयन्तु खलु” इति । ननु वस्तुतो भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धिवर्तिनौ च कथं तदकारणे तदनधिकरणे च पुरुषे व्यपदिश्येते इत्यत आह “तावेतौ” इति । भोक्तृत्वं च पुरुषस्योपपादितम्,<sup>(४)</sup> अग्रे \* च वक्ष्यते ।

ठि० (१) इतिशब्द इत्यत-इत्यर्थकः, तथा च यतस्तद् गुणत्रयं निष्प्रयोजनं न प्रवर्ततेऽपि तु प्रयोजनं स्वीकृत्यैव भूतेन्द्रियादिष्वेव परिणमन्तीत्यतस्तद् दृश्यं पुरुषस्य भोगापवर्गार्थम्=भोगाऽपवर्गप्रयोजनकमित्येवं सूत्राऽवयवभाष्ययोरेकवाक्यतयाऽर्थो बोध्यः ।

(२) भोगाऽपवर्गावपहायाऽन्यदर्शनं=दर्शनाख्यायाः बुद्धिवृत्तेः प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः ।

(३) पुरुषेण सहाऽविभागापन्नं गुणस्वरूपाऽवधारणं भोग इत्युक्ते पञ्चशिखावयवप्रमाणयति । “तथाचोक्तम्” इति । त्रिषु गुणेषु कर्तृषु सत्स्वपि परन्त्वयमविवेकी जनश्चतुर्थे=गुणत्रयापेक्षया तुरीयेऽकर्तरि तत्साक्षिणि अत्रैगुण्यादिना गुणविजातीये, अहेतुमत्त्वादिना गुणसजातीये, पुरुषे बुद्धयोपनीयमानान् सर्वधर्मान् सुखादीन् उपपन्नान्=सांसिद्धिकान् अनुपश्यन् सन् गुणेष्वो विविक्तं शुद्धमन्यद् दर्शनं चैतन्यं न शङ्कते=संभावयतीत्यर्थः । ननु सुखादयो यदि बुद्धिधर्मास्तत्कथं पुरुषस्य भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यमित्युक्तमिति शङ्कते “तावेतौ” इति । दृष्टान्तेन परिहरति “यथा” इति ।

(४) “वृत्तिसारूप्यमितरत्र” इति सूत्रे उपपादितमित्यर्थः । \* ३ पादे ३४ सू० ।



भा० एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते । स हि तत्फलस्य भोक्तेति । बुद्धेरेव पुरुषार्थाऽपरिसमाप्तिर्बन्धः, तदर्थोऽवसायो<sup>(१)</sup> मोक्ष इति । एतेन ग्रहणाधारणोपापोहतत्त्वज्ञानाऽभिनिवेशा बुद्धौ वर्त्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः<sup>(२)</sup> स हि तत्फलस्य भोक्तेति ॥ १८ ॥

दृश्यानां तु गुणानां स्वरूपभेदाऽवधारणार्थमिदमारभ्यते—

टी० परमार्थतस्तु “बुद्धेरेवपुरुषार्थाऽपरिसमाप्तिर्बन्धः” इति । एतेन=भोगापवर्गयोः पुरुषसंबन्धित्वकथनमार्गेण, ग्रहणादयोऽपि पुरुषसंबन्धिनो वेदितव्याः॥ तत्र स्वरूपमात्रेणार्थज्ञानं ग्रहणं, तत्र स्मृतिः धारणं, तद्गतानां विशेषाणामूहनमूहः, समारोपितानां च युक्त्याऽपनयोऽपोहः, ताभ्यामेवोपापोहाभ्यां तदवधारणं तत्त्वज्ञानं तत्त्वाऽवधारणपूर्वं हानोपादानमभिनिवेशः ॥ १८ ॥

दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—

टि० (१) तदर्थोऽवसायः=सत्त्वपुरुषाऽन्यतराख्यातिजननेन पुरुषार्थसमाप्तिरित्यर्थः ।

(२) “विज्ञानं यज्ञं तनुते” “आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः” “ध्यायतीव क्लायतीव” इत्यादिश्रुतिभ्य औपाधिका एव पुरुषे भोगादयो धर्मा, न पारमार्थिका इत्यर्थः । यत्तु विज्ञानमिक्षुणा—पुरुषस्याऽपि स्वातन्त्र्येण भोगोऽस्त्येव । बुद्धेरेवेति भाष्येण तु परिणामरूपो पुरुषस्य भोगो निराक्रियते । “पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते” इति भगवदुक्तेरित्यादि जल्पितम् । तदविवेकमूलकमेव । भगवाक्यस्याऽपि मुख्ये भोगे तात्पर्याभावात् तथा हि “कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते” इत्यनेन प्रकृतेः संसारकारणत्वमभिधाय सा किमर्थं करोतीत्याकाङ्क्षायाम् “पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते” इत्यनेन पुरुषस्य भोक्तृत्वेन तद्भोगार्थमित्युक्त्वा, तत् किं पुरुषस्य भोक्तृत्वं स्वभाविकमिति जिज्ञासायाम् “पुरुषः प्रकृतिस्यो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु” इत्यनेन प्रकृतितादात्म्याऽपन्नस्य गुणसङ्गेनौपाधिकमेव भोक्तृत्वं न पारमार्थिकमित्युक्त्वा “उपद्रष्टाऽनुमन्ता” इत्यादिवाक्येन स्वाभाविकं साक्षित्वमेव पुरुषस्येति सिद्धान्तितं भगवतेत्यन्यत्र विस्तरः ।



# सू० विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

भा० तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयोभूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध-  
तन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः । तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा-  
घ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मे-  
न्द्रियाणि । एकादशं मनः सर्वार्थम्, इत्येतान्यस्मितालक्षणा-  
स्याऽविशेषस्य विशेषाः । गुणानामेष षोडशको विशेषपरि-  
णामः । षड् अविशेषाः, = तद्यथा शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं,  
रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रञ्च, इत्येकद्वित्रिचतु-

टि० “विशेषेत्यादि, पर्वाणीत्यन्तं १९ सूत्रम् । येषाम् अविशेषाणां = शान्त-  
घोरमूढलक्षणराहितानां ये विशेषा = विकारा एव न तु तत्त्वान्तरप्रकृतयस्तेषां  
तानाह—तत्राऽऽकाश” इति । उत्पादक्रमानुरूप एवोपन्यासक्रमः,  
आस्मितालक्षणस्याऽविशेषस्य सत्त्वप्रधानस्य बुद्धीन्द्रियाणि विशेषाः<sup>(१)</sup>  
रजःप्रधानस्य तु कर्मेन्द्रियाणि, मनस्तु भयात्मकमुभयप्रधानस्येति<sup>(२)</sup> मन्त-  
व्यम् । अत्र च पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिकारणकान्यविशेषत्वाद् आस्मिता-  
वद् इति<sup>(३)</sup> । विकारहेतुत्वं चाऽविशेषत्वं तन्मात्रेषु चास्मितायां चावि-  
शिष्टम्\* । संकलय्य विशेषान् परिगणयति—“गुणानामेष” इति । अविशे-  
षानपि गणयति “षड्” इति । संकलय्योदाहरति—“तद्यथा” इति ।

टि० (१) सत्त्वप्रधानस्याऽस्मितालक्षणस्याऽविशेषस्य = श्रवणस्पर्शनदर्शनादिविशेषधर्मशून्य-  
स्याऽभिमानमात्रधर्मकस्याऽहङ्कारस्य, बुद्धीन्द्रियाणि विशेषाः = श्रवणस्पर्शनदिधर्मकाणि  
पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि कार्य्याणीत्यर्थः । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । (२) उभयात्मकम् “अन्यत्रमना-  
ऽभूवं नाऽश्रौषम्” इत्यादिश्रुतेः । चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु  
प्रवृत्तेश्च ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मकं मनः सत्त्वप्रधानस्याऽहङ्कारस्य कार्य्यमित्यर्थः । (३) इती-  
त्यस्याऽग्रे “अनुमानं मानम्” इति शेषयित्वा, अत्र च = पञ्चतन्मात्राणां बुद्धिकार्य्यत्वे  
चेत्यनुमानं मानमित्यर्थो वर्णनीयः ॥ \* अतो नाऽविशेषत्वमसद्देतुरिति भावः ।



भा० षष्ठ्यलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाऽविशेषाः, षष्ठ्याऽविशेषोऽस्मितामात्र इति । एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षड्विशेषपरिणामाः । यत् तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वम् । तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति, प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्य-

टी० विशिष्टं ह्यपरं परेणेति गन्ध आत्मना पञ्चलक्षणः<sup>(१)</sup>, रस आत्मना चतुर्लक्षणः, रूपमात्मना त्रिलक्षणं, स्पर्श आत्मना द्विलक्षणः, शब्दः शब्दलक्षण एवेति । कस्य पुनरमी षड्विशेषाः कार्यमित्यत आह । एते सत्तामात्रस्यात्मनः इति । पुरुषार्थक्रियाक्षमं सत्, तस्य भावः सत्ता, तन्मात्रं महत्तत्त्वम् । यावती काचित्पुरुषार्थक्रिया शब्दादिभोगलक्षणा सत्त्वपुरुषाऽन्यताख्यातिलक्षणा वाऽस्ति सा सर्वा महति बुद्धौ समाप्यत इत्यर्थः । आत्मन इति स्वरूपोपदर्शनेन तुच्छत्वं निषेधति, प्रकृतेरेयमाद्यः परिणामो वास्तवो, न तु ताद्विवर्त्त इति यावत् । यत्तत्परं=विप्रकृष्टकालम् अविशेषेभ्यस्तदपेक्षया<sup>(२)</sup> सन्निकृष्टकालेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं, तस्मिन् एते=षड्विशेषाः सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय सत्कार्यसिद्धेर्विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति=प्राप्नुवन्ति । ये पुनरविशेषाणां विशेषपरिणामास्तेषां च धर्मलक्षणाऽवस्थाः परिणामा इति सेयमेषां विवृद्धिकाष्ठा परिणामकाष्ठेति । तदेवमुत्पत्तिक्रममविधाय प्रलयक्रममाह “प्रतिसंसृज्यमाना” इति । प्रतिसंसृज्यमानाः=प्रलीयमानाः, स्वात्मनि लीनविशेषा अविशेषास्तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय=निलीय सहैव महता तेऽविशेषा अव्यक्तम् अन्यत्र लयन्नगच्छतीत्यलिङ्गं प्रतियन्ति । तस्यैव विशेषणं

टि० (१) यतोऽपरं=गन्धतन्मात्रादि, परेण=रसतन्मात्रादिना, विशिष्टमिति=अत आत्मना सह गन्धतन्मात्रं पञ्चलक्षणमित्यर्थः । (२) तदपेक्षया=महत्तत्त्वाऽपेक्षया, सन्निकृष्टकालेभ्यः=अन्तरमाविभ्योऽहङ्कारपञ्चतन्मात्रेभ्यो यत्पूर्वमावि महत्तत्त्वं तद्विङ्गमात्रमित्यर्थः ।



भा० वस्थाय यत्तन्निःसत्ताऽसत्तं निःसदसद् निरसद् अव्यक्तमलिङ्ग  
प्रधानं तत्प्रतियन्तीति । एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामः, <sup>(१)</sup> निःस-  
त्ताऽसत्तञ्चाऽलिङ्गपरिणाम<sup>(२)</sup> इति अलिङ्गाऽवस्थायां न पुरुषा-

टी० “निसत्ताऽसत्तम्” इति सत्त्वं = पुरुषार्थक्रिया<sup>(३)</sup> क्षमत्वम्, असत्ता = तुच्छता,  
निष्क्रान्तं सत्ताया असत्तायाश्च यत्तथोक्तम् । एतदुक्तं भवति । सत्त्वरजस्त-  
मसां साम्यावस्था न क्वचित्पुरुषार्थं उपयुज्यत इति न सती । नाऽपि गगन-  
कमलिनीवत् तुच्छस्वभावा, तेन नासत्यपीति । स्यादेतद्, अव्यक्ताऽवस्था-  
यामप्यस्ति महदादि तदाऽऽत्मना । न हि सतो विनाशो, विनाशो वा न पुन-  
रुत्पादः । न ह्यसत उत्पाद इति महदादिसद्भावात्पुरुषार्थक्रिया प्रवर्त्तते । त-  
त्कथं निःसत्त्वमव्यक्तमित्यत आह “निःसदसद्” इति । निष्क्रान्तं कारणं  
सतः कार्य्यात् । यद्यपि कारणाऽवस्थायां सदेव शक्त्यात्मना कार्य्यं तथाऽपि  
स्वोचितामर्थक्रियामकुर्वदसदित्युक्तम् । न चैतत्कारणं शशविषाणायमान-  
कार्य्यमित्याह “निरसद्” इति । निष्क्रान्तम् असतस्तुच्छरूपात्कार्य्यात् ।  
तथा हि सति व्योमारविदमिवास्मान्न कार्य्यमुत्पद्येतेति भावः ।

प्रतिसर्गमुक्तमुपसंहरति “ एष तेषाम् ” इति । एष = इत्यन-  
न्तरोक्तात् पूर्वस्य<sup>(४)</sup> परामर्शः । लिङ्गमात्राद्यवस्था पुरुषार्थकृतत्वा-

टी० (१) तेषां = गुणानाम्, एषः = महत्तत्त्वाऽऽख्य आद्यः परिणामः लिङ्गमात्र इत्युच्यत इत्यर्थः ।  
(२) निःसत्ताऽसत्तमित्यादिना, यः पदार्थः पूर्वमुक्तः सोऽलिङ्गाख्यो गुणपरिणाम इत्यर्थः ।  
यद्यपि गुणा एव प्रधानशब्दवाच्या भवन्तीति भाष्ये पूर्वमुक्तं, तथापि साम्याऽवस्थायाः प्रधान-  
शब्दवाच्याया गुणेभ्योऽतिरिक्तत्वात्प्रधानस्य गुणपरिणामत्वमुक्तम् । नैतावता प्रधानस्य महत्त-  
त्त्वादिवत्प्रकृतिविकृत्यात्मकत्वं बोध्यमिति । तथाच साङ्ख्यसूत्रं “मूले मूलाऽभावादमूलं मूलम्” इति ।  
(३) पुरुषार्थक्रिया = पौरुषेयभोगाऽपवर्गसम्पादनम् । यत्तु विज्ञानभिक्षुणोक्तं नैतादृशम-  
सत्त्वं गृह्यते, ईश्वराऽन्यपुरुषस्याऽपि प्रलय एवमसत्तया तद्व्यावृत्त्यसम्भवादिति । तन्न । न हि  
पुरुषस्य भोगाऽपवर्गसंपादकत्वमेव सत्त्वं येन प्रलये तन्निवृत्त्या एवंविधमसत्त्वं स्यादपि तु  
चिन्मात्रत्वं, तच्चाऽस्ति प्रलयेऽपि इति न तस्याऽसत्त्वम् । यच्चात्र भिक्षुणा अप्रकृतं बहु  
प्रलपितं तदं भूमिकायां निसकृतम् अस्माभिरिति तत एवाऽऽलोचनीयम् ।

(४) निःसत्ताऽसत्तमित्यनन्तराकृतात्पूर्वस्य सत्तामात्रस्य महत्तत्त्वस्येत्यर्थः ।



भा०ऽर्थो हेतुः । नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवतीति, नाऽसौ पुरुषार्थतेति नित्याऽऽख्यायते । त्रयाणान्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति । स चाऽर्थो हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्याऽऽख्यायते । गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते, न जायन्ते । व्यक्तिभिरंवातीताऽनागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयभिरुपजनाऽपायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते । यथा देवदत्तो दद्राति, कस्माद् यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति । गवामेव मरणात्तदरिद्राणं न स्वरूपहानादिति समः समाधिः । लिङ्गमात्र

टी० दनित्या, अलिङ्गावस्था तु पुरुषार्थेनाऽकृतत्वान्नित्यत्र हेतुमाह “अलिङ्गावस्थायाम्” इति । कस्मात्पुनर्न पुरुषार्थो हेतुरित्यत आह “नाऽलिङ्गावस्थायाम्” इति । भवतिना = विषयेण विषयि ज्ञानमुपलक्षयति । एतदुच्यते भवति । एवं हि पुरुषार्थताकारणमालिङ्गावस्थायां ज्ञायेत । यद्यलिङ्गावस्था शब्दाद्युपभोगं वा सत्त्वपुरुषाऽन्यताख्यातिं वा पुरुषार्थं निर्वर्त्तयेत्, तन्निर्वर्त्तने हि न साम्याऽवस्था स्यात् । तस्मात्पुरुषार्थकारणत्वमस्या न ज्ञायते इति नास्याः पुरुषार्थता हेतुः । उपसंहरति “ नाऽसौ ” इति । इतिः तस्मादर्थे । अनित्यावस्थामाह “त्रयाणाम्” इति । त्रयाणां = लिङ्गमात्राऽविशेषविशेषाणामित्यर्थः । पर्वस्वरूपं दर्शयित्वा गुणस्वरूपमाह “गुणास्तु” इति । निदर्शनमाह “यथा देवदत्त” इति । यत्राऽत्यन्तभिन्नानां गवामुपचयाऽपचयौ देवदत्तोपचयाऽपचयहेतुस्तत्र कैव कथा गुणेभ्यो भिन्नभिन्नानां व्यक्तीनामुपजनाऽपाययोरित्यर्थः । ननु सर्गक्रमः किमनित्यतो ? नेत्याह “लिङ्गमात्रम्” इति । न खलु न्यग्रोधधाना<sup>(१)</sup> अह्नयैव न्यग्रोधशाखिनं सान्द्रं शाद्वलदलजटिलं शाखाकाण्डनिपीतमार्त्तण्ड

टि० (१) न्यग्रोधधाना = वटबीजानि, अह्नयैव = शटित्येव, न्यग्रोधशाखिनं = वटवृक्षं, न भन्ते, किन्तु अङ्कुरपत्रादिक्रमेणैवेत्यन्वयः । सान्द्रमित्यादीनि वटवृक्षविशेषणानि ।



भा० अलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते<sup>(१)</sup> क्रमाऽनतिवृत्तेः । तथा षड्विशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते । परिणामक्रमनियमात् । तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते । तथा चोक्तं पुरस्तात् । न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमास्ति । इति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः तेषान्तु धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामा व्याख्यायिष्यन्ते ॥ १९ ॥

व्याख्यातं दृश्यम् । अथ द्रष्टुः स्वरूपाऽवधारणार्थमिदमारभ्यते—  
पू० द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययाऽनुपश्यः ॥ २० ॥

चण्डातपमण्डलमारभन्ते, किन्तु क्षितिसलिलतेजःसम्पर्कात् परस्परं जायमानाङ्कुरपत्रकाण्डतालादिक्रमेण । एवमिहापि युक्त्यागमसिद्धः क्रमाऽऽस्थेय<sup>(२)</sup> इति । कथं भूतेन्द्रियाण्यविशेषसंसृष्टानीत्यत आह “तथा चोक्तं पुरस्ताद्” इति । इदमेव<sup>(३)</sup> सूत्रं प्रथमं व्याचक्षाणैः । अथ विशेषाणां कस्मान्न तत्त्वान्तरपरिणाम उक्त इत्यत आह “न विशेषेभ्यः” इति । तत्किमिदानीमपरिणामिन एव विशेषास्तथा च नित्याः प्रसज्येरन्नित्यत आह “तेषान्तु” इति ॥ १९ ॥

व्याख्यातं दृश्यम् । द्रष्टुः स्वरूपाऽवधारणार्थमिदमारभ्यते—“द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययाऽनुपश्यः” इति ॥ २० ॥

(१) अलिङ्गस्य = प्रधानस्य, यत्प्रत्यासन्नं = प्रथमं कार्यं लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं, तत् तत्र = प्रधाने, सृष्टेः प्राक् संसृष्टं सदेवाऽनागताऽवस्थया प्रधानाऽविभक्तमेव सत्सृष्टिकाले विविच्यते = विभक्तं सद् वर्तमानाऽवस्थां प्राप्नोति, नाऽसदेवोत्पद्यत इत्यर्थः । एतेन सत्कार्यवाद उक्तः । ननु कथमहङ्कार एव प्रथमं कार्यमत आह “क्रमाऽनतिवृत्तेः” = “एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्मासीत् तस्मादव्यक्तमेवाऽक्षरं तस्मादक्षरान्महद् महतो वै अहङ्कारस्तस्मादेवाऽहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राणि तेभ्यो भूतादीनि” इत्यादिगोपालतापनीयश्रुत्युक्तक्रमाऽनुल्लङ्घनादित्यर्थः । उत्पादक्रमो न यौक्तिकोऽपि त्वागमसिद्ध आश्रयणीय इति भावः । प्रत्यासन्नमित्यन्तं भिन्नं वाक्यमिति केचित् । (२) क्रमेणोत्पाद इत्यत्र युक्तिरास्थेया । केन क्रमेणोत्पन्नं च “प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कार” इत्यादिकापिलागम आस्थेय इति भावः । (३) कैरुक्तमित्याकाङ्क्षितं पूरयति “इदम्” इति । व्याचक्षाणैरित्यस्याऽग्रेऽस्माभिरिति शेषो बोध्यः ।



भा० दृशिमात्र इति = दृक्शक्तिरेव विशेषणाऽपरामृष्टेत्यर्थः । स पुरुष  
बुद्धेः प्रतिसंवेदी, स बुद्धेर्न सरूपो नाऽत्यन्तं विरूप इति ।  
तावत्सरूपः । कस्माद् । ज्ञाताऽज्ञातविषयत्वात् । परिणामिनीति  
बुद्धिः, तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा ज्ञातश्चाऽज्ञातश्चेति परि  
णामित्वं दर्शयति<sup>(१)</sup> । सदा ज्ञातविषयत्वन्तु पुरुषस्याऽपरिणामित्वं  
परिदीपयति<sup>(२)</sup> । कस्माद्, न हि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च स्यात्  
गृहीताऽगृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदा ज्ञातविषयत्वम् । ततश्च

टी० व्याचष्टे “दृशिमात्र” इति । विशेषणानि = धर्मास्तैरपरामृष्टा, तदनेन म  
त्रग्रहणस्य तात्पर्यं दर्शितम् । स्यादेतद्, यदि सर्वविशेषणरहिता दृक्शक्ति  
तर्हि शब्दादयो दृश्येरन् । न हि दृशिनाऽसंस्पृष्टं दृश्यं भवतीत्यत आह “  
पुरुष” इति । बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसङ्गातिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुसः  
तथाच दृशिच्छायाऽऽपन्नया बुद्ध्या संस्पृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थः  
स्यादेतत्, पारमार्थिकमेव बुद्धिचैतन्ययोरैक्यं कस्मान्नोपेयते किमन्य  
तच्छायाऽऽपत्येत्यत आह “स बुद्धेर्न सरूप” इति । तथाऽसरूपस्य तच्छाया  
ऽऽपत्तिरपि दुर्घटेत्यत आह “नाऽत्यन्तं विरूप” इति । तत्र सारूप्यं निषेधा  
“न तावद्” इति । हेतुं पृच्छति “कस्माद्” इति । सहेतुकं वैरूप्यहेतुमा  
“ज्ञाताऽज्ञात” इति । परिणामिनी बुद्धिर्यस्मात्तस्माद् विरूपा । यदाखलि  
शब्दाद्याकारा भवति तदा ज्ञातोऽस्याः शब्दादिलक्षणो भवति विषयः, तदना  
रत्वे त्वज्ञातः । तथा च कदाचिदेव तदाकारतां दधती परिणामिनीति । प्रय  
गश्च भवति-बुद्धिः परिणामिनी, ज्ञाताऽज्ञातविषयत्वाच्छ्रोत्रादिवदिति । तद्वैध  
पुरुषस्य तद्विपरीतत्वाद् हेतोः सिध्यतीत्याह “सदाज्ञात” इति । स्यादेतत्, स  
ज्ञातविषयश्चेत्पुरुषो, न तर्हि केवली स्यादित्याशयवान् पृच्छति “कस्माद्  
इति उत्तरं “न हि बुद्धिश्च नाम इति । बुद्ध्यग्रहणयोरस्ति सहसंभवो निरोधावस्थ  
यामत उक्तं विरोधसूचनाय “पुरुषविषयश्च” इति । तेनाऽऽद्यश्चकारोर्बु  
विषयत्वेन समुच्चिनोति, परिशिष्टौ तु विरोधद्योतकौ<sup>(३)</sup> चकाराविति ।

टि० (१) च = यतः, तस्या बुद्धेर्विषयो घटादिः कदाचिदज्ञातो भवति कदाचिच्चाज्ञातो भ  
अतो ज्ञाताऽज्ञातविषय एव बुद्धेः परिणामित्वं दर्शयति = अनुमापयतीत्यर्थः । (२) प्रदीपयति  
प्रज्ञापयति, अनुमापयतीत्यर्थो वा बोध्यः । (३) बुद्धिश्चेत्पुरुषविषयस्तर्हि गृहीतैव स्यान्नाऽगृहीत  
पुरुषविषयश्च, गृहीताऽगृहीता चेत्येतद्विप्रतिषिद्धमित्येवं विरोधद्योतकौ चकारावित्यर्थः ।



भा० ऽपरिणामित्वमिति। किञ्च परार्था बुद्धिः संहत्य कारित्वात्,  
स्वार्थः पुरुष इति, तथा सर्वार्थाऽध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिः  
त्रिगुणात्वादचेतनेति, गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति। अतो न सरूपः।  
अस्तु तर्हि विरूप इति। नात्यन्तं विरूपः। कस्मात् शुद्धोऽप्यसौ  
प्रत्ययाऽनुपश्यो यतः<sup>(१)</sup>, प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदा  
त्माऽपि तदात्मक इव प्रत्यवभासते। तथाचोक्तम्—“अपरिणामिनी

टी० प्रयोगस्तु,—पुरुषोऽपरिणामी, सदा सम्प्रज्ञातव्युत्थानाऽवस्थयो-  
ज्ञातिविषयत्वाद् यः परिणामी नाऽसौ सदा ज्ञातविषयो भवति। यथा  
श्रोत्रादिरिति व्यतिरेकी हेतुः। अपरमपि वैधर्म्यमाह “किञ्च परार्था”  
इति। बुद्धिः खलु क्लेशकर्मवासनादिभिर्विषयेन्द्रियादिभिश्च संहत्य  
पुरुषार्थमभिनिर्वर्त्तयन्ती परार्था। प्रयोगश्च—परार्था बुद्धिः संहत्य कारि-  
त्वात् शयनाऽऽसनाऽभ्यङ्गवदिति। पुरुषस्तु न तथेत्याह—“स्वार्थः  
पुरुष” इति। सर्वं<sup>(२)</sup> पुरुषाय कल्पते, पुरुषस्तु न कस्मै चिदित्यर्थः।  
वैधर्म्यान्तरमाह—“तथा स्वार्थ” इति। सर्वान् अर्थान् शान्तघोरमू-  
ढाँस्तदाकारपरिणता बुद्धिरध्यवस्यति। सत्त्वरजस्तमसां चैते परिणामा,  
इति सिद्धा त्रिगुणा बुद्धिरिति। न चैवं पुरुष इत्याह—“गुणानां  
तूपद्रष्टा पुरुष” इति। तत्प्रतिबिम्बितः पश्यति, न तु तदाकारपरिणत  
इत्यर्थः। उपसंहरति—“अतः” इति। “अस्तु तर्हि विरूप इति,  
नात्यन्तं विरूपः। कस्माद्, यतः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः” =

टि० (१) यत इति पदं, शुद्धोऽपीत्यतः पूर्वमन्वयनीयम्। प्रत्ययाऽनुपश्य इत्यस्याऽर्थमाह  
“प्रत्ययमि”त्यादिना। बौद्धप्रत्ययं=बुद्धिवृत्तिमनुसृत्य पश्यतीत्यर्थः। बुद्धिवृत्तिसमानाऽऽकार इति  
भावः। (२) स्वार्थ इत्यस्य स्वस्य भोगादिसाधनं पुरुष इति नार्थः, कर्मकर्तृविरोधात्। किन्तु  
न परार्थ इत्याह “सर्वपुरुषाय कल्पते, पुरुषस्तु न कस्मैचिदिति”। स्वस्य भोगादिसाधनमिति  
विज्ञानोयं विवरणं त्वसाधेत्। प्रकृतेः पुरुषभोगाऽपवर्गसाधनत्वेऽपि पुरुषस्य स्वीयभोगादिसा-  
धनत्वाऽऽख्यानस्यैतत्तन्त्रविरुद्धत्वादसम्भवाच्च। “स्वार्थ इत्यस्य न परार्थ इति वाचस्पत्या-  
र्थस्तु न युक्तः। भृशचेतनस्याऽपि स्वाभिचेतनार्थत्वदर्शनाद्” इत्यपि विज्ञानभिक्षोः साहसमेव।  
न हि चेतनयोः स्वाभिभृत्यभावोऽभ्युपेयते येनैवं पर्यनुपुज्येताऽपि तु सङ्घातयोः। तथा च न  
चेतनस्य परार्थत्वं वक्तुं शक्यमित्यलं विस्तरेण। यच्चोक्तं बुद्धेरेन्द्रियादिसाहित्येनाऽर्थक्रियाकारि-  
त्वेन संहत्यकारित्वं, पुरुषस्तु त्रिषयप्रकाशरूपायामर्थक्रियायां नाऽन्यदपेक्षत इति तस्य नसंहत्य-  
कारित्वमिति, तदप्यतीव्रं फलम्। पुरुषस्याऽपि त्रिषयप्रकाशरूपाऽर्थक्रियायां बुद्धिवृत्तेरपेक्षणात्  
एतच्चाऽनुपदमेव प्रत्ययाऽनुपश्य इत्येतद्व्याख्यानभाष्ये स्पष्टं भविष्यतीतिनाऽतिरोहितम्।



भा० हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेषु  
तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनु-  
कारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते ॥ २० ॥

सू० तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

भा० दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव

टी० यथा चैतत्तथोक्तं “वृत्तिसारूप्यमितरत्र” इत्यत्र । तथाचोक्तं पञ्चशिखेन-

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिः = आत्मा, अत एव बुद्ध्यावप्रतिसङ्क्रमा  
च, परिणामिनी बुद्धिरूपेऽर्थे सङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिं = बुद्धिवृत्तिम् अनुपतति।  
नन्वसङ्क्रान्ता कथं सङ्क्रान्तेव कथं वा वृत्तिं विनाऽनुपततीत्यत आह  
“तस्याश्च” इति । प्राप्तश्चैतन्योपग्रह = उपरागो येन रूपेण तत्तथाप्राप्त-  
चैतन्योपग्रहं रूपं यस्याः सा तथोक्ता । एतदुक्तं भवति, यथा निर्मले जलेऽसं-  
क्रान्तोऽपि चन्द्रमाः संक्रान्तप्रतिबिम्बतया संक्रान्त इव एवमत्राऽप्यसंक्रा-  
न्ताऽपि संक्रान्तप्रतिबिम्बा चित्तिशक्तिः संक्रान्तेवातेन बुद्ध्यात्मत्वमापन्ना  
बुद्धिवृत्तिमनुपततीति । तदनेनाऽनुपश्य इति व्याख्यातम् । तामनुकारेण  
पश्यतीत्यनुपश्य इति ॥ २० ॥ द्रष्टृदृश्ययोः स्वरूपमुक्त्वा स्वस्वामिलक्षणसं-  
बन्धाङ्गं दृश्यस्य द्रष्टृत्वमाह “तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा” इति ॥ २१ ॥  
व्याचष्टे “दृशिरूपस्य” इति । दृशिरूपस्य पुरुषस्य = भोक्तुः कर्मरूपतां =  
भोग्यताम् आपन्नं दृश्यम्, इति = तस्मात् तदर्थ एव = द्रष्टृत्व एव दृश्य-  
स्यात्मा भवति, न तु दृश्यार्थः । ननु नाऽऽत्माऽऽत्मार्थ इत्यत आह “स्वरूपं  
भवति” इति । एतदुक्तं भवति । सुखदुःखात्मकं दृश्यं भोग्यं, सुखदुःखे चा-  
ऽनुकूलयितृप्रतिकूलयितृणी तत्त्वेन<sup>(१)</sup> तदर्थ एव व्यवतिष्ठेते । विषया अपि  
हि शब्दादयस्तादात्म्यादेव<sup>(२)</sup> चाऽनुकूलयितारः प्रतिकूलयितारश्च । नचै-  
षामात्मैवानुकूलनीयः प्रतिकूलनीयश्च । स्वात्मनि वृत्तिविरोधाद् । अतः  
पारिशेष्याच्चित्तिशक्तिरेवाऽनुकूलनीया च प्रतिकूलनीया च । तस्मात्तदर्थ-  
मेव दृश्यं न तु दृश्यार्थम् । अतश्च तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा, न दृश्यार्थो यत् \*

टि० (१) तत्त्वेन = अनुकूलयितृप्रतिकूलयितृत्वेन, तदर्थ = अनुकूलनीयप्रतिकूलनीयार्थे एव ना  
ऽऽत्मार्थे इत्यर्थः । यद्वा भोग्यत्वेन सुखदुःखे भोक्तृत्वे एव व्यवतिष्ठेते, नात्मार्थे इत्यर्थः ।  
(२) तादात्म्यादेव = सुखदुःखमोहात्मकत्वादेवेत्यर्थः । \* यदिति यत् इत्यर्थे ।



भा० दृश्यस्यात्मा=स्वरूपं भवतीत्यर्थः । तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिल-  
ब्धात्मकं भोगाऽपवर्गार्थितायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति, स्वरूप  
हानादस्य नाशः प्राप्तो, <sup>(१)</sup> न तु विनश्यति ॥ २१ ॥ कस्माद्,  
सू० कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वाद् ॥ २२ ॥  
भा० कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि=नाशं प्राप्तमपि अनष्टं  
तद्, अन्यपुरुषसाधारणत्वात् । कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकु-

टी० स्वरूपमस्य यावत्पुरुषार्थमनुवर्तते, निर्वर्तिते च पुरुषार्थे निवर्तत इत्याह  
“तत्स्वरूपं तु” इति । स्वरूपं तु दृश्यस्य जडं, पररूपेण=आत्मरूपेण  
चैतन्येन प्रतिलब्धात्मकम्=अनुभूतस्वरूपं, भोगाऽपवर्गार्थितायां कृतायां  
पुरुषेण न दृश्यते=भोगः=सुखाद्याकारशब्दाद्यनुभवः । अपवर्गः=सत्त्व-  
पुरुषान्यताऽनुभवः । तच्चैतदुभयमप्यजानतो\*जडाया बुद्धेः पुरुषच्छाया-  
ऽऽपत्त्येति पुरुषस्यैव । तथाच पुरुषभोगापवर्गयोः कृतयोर्दृश्यस्य भोगाप-  
वर्गार्थिता समाप्यत इति भोगापवर्गार्थितायां कृतायामित्युक्तम् । अत्रान्तरे  
चोदयति-“स्वरूपहानाद्” इति । परिहरति “न तु विनश्यति” इति ॥ २१ ॥  
नन्वत्यन्ताऽनुपलभ्यं कथं न विनश्यतीत्याशयवान् पृच्छति “कस्माद्” इति ।  
सूत्रेणोत्तरमाह “कृतार्थमित्यादिना, तदन्यसाधारणत्वादित्यन्तः” ॥ २२ ॥  
कृतोऽर्थो यस्य पुरुषस्य स तथा, तं प्रति नष्टमप्यनष्टं तद् दृश्यम् । कुतः ?  
सर्वान् पुरुषान् कुशलान् अकुशलान् प्रति साधारणत्वाद् । व्याचष्टे-“कृतार्थ-  
मेकम्” इति । नाशः=अदर्शनं, अनष्टं तु दृश्यमन्यपुरुषसाधारणत्वात् तस्माद्  
दृश्यात्परस्यात्मनश्चैतन्न्यं रूपं तेन, तदिह श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रसिद्धमव्य-  
क्तमनवयवमेकमानाश्रयं व्यापि नित्यं विश्वकार्यशक्तिमद् । यद्यपि कुशलेन  
तं प्रति कृतकार्यं न दृश्यते तथाप्यकुशलेन दृश्यमानं न नास्ति । न हि रूपम-  
न्धेन न दृश्यत इति चक्षुष्मताऽपि दृश्यमानमभावप्राप्तं भवति । न च प्रधानवदे-

दि० (१) अत्रेदं शङ्काऽऽकृतं—न हि पातञ्जलैरूपनिषद्वत्प्रतिजीवं भिन्ना प्रकृतिरभ्युपेयते  
येन यस्य जीवस्य विद्योत्पन्ना तस्याऽपनीयते, न जीवान्तरस्थः । भिन्नाधिकरणयोर्विद्याऽवि-  
द्ययोर्विरोधविरहाद् इत्येवं वक्तुं युज्येत । किन्तु हि प्रधानैक्यम् । तथाच तस्यैकत्वेन तदुच्छेदे  
सर्वोच्छेदोऽनुच्छेदे वा न कस्यचिदित्यनिर्गोक्षप्रसङ्ग इति । \* पुरुषविशेषणापिदम् ।



भा० शलान् पुरुषान् प्रत्यकृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामा-  
पन्नं लभत एव पररूपेणाऽऽत्मरूपमिति। अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नि-  
त्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति। तथाचोक्तं—“धर्मिणाम-  
नादिसंयोगाद् धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोग” इति ॥ २३ ॥

टी०क एव पुरुषः<sup>(१)</sup>, तन्नानात्वस्य जन्ममरणसुखदुःखोपभोगमुक्तिसंसारव्यव-  
स्थया सिद्धेः। एकत्वश्रुतीनां च प्रमाणान्तरविरोधात्कथञ्चिद्देशकालविभागा-  
ऽभावेन भक्त्याऽप्युपपत्तेः। प्रकृत्येकत्वपुरुषनानात्वयोश्च श्रुत्यैव साक्षात्प्रति-  
पादनाद्। “अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।  
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य” इति श्रुतिः। अ-  
स्या एव श्रुतेश्चानेन सूत्रेणार्थोऽनूदित इति। यतो दृश्यं नष्टमप्यनष्टं पुरुषान्तं  
प्रत्यस्ति अतो दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यातः। अत्रैव  
ऽऽगमिनामनुमतिमाह—“तथा चोक्तम्” इति। धर्मिणां गुणानाम्, आत्मभि-  
नादिसंयोगाद् धर्ममात्राणां = महदादीनामप्यनादिः संयोग इति। एकैकस्य  
महदादेः संयोगोऽनादिरप्यनित्य एव यद्यपि तथापि सर्वेषां महदादीनां नित्यः।  
पुरुषान्तराणां साधारणत्वादत उक्तं—“धर्ममात्राणाम्” इति। मात्रग्रहणेन  
व्याप्तिं गमयति। अत एतद् भवति। यद्यप्येकस्य महतः संयोगोऽतीततामा-  
न्नस्तथाऽपि महदन्तरस्य पुरुषाणां संयोगो नातीत इति नित्य उक्तः ॥ २३ ॥

टि० (१) ननु “एको देवः सर्वभूतेषु गूढः” “एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित”  
इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः पुरुषैकत्वाऽवगमात्कथं कुशलाऽकुशलमेवेन प्रधानस्य नष्टाऽनष्टत्वव्य-  
वहार इत्यत आह “न च प्रधानवदेकः पुरुष” इति। तत्रोपपत्तिमाह “तन्नानात्वस्येति”  
जन्म चाऽत्राऽपूर्वदेहंन्द्रियाद्यभिसंव्रन् एव, न तु पुरुषस्य परिणामस्तस्याऽपरिणामित्वाद्। एक-  
मुपात्तदेहादित्यागो मरणं, न तु विनाशः। आत्मनः कूटस्थनित्यत्वादेकास्मिन् जायमाने म्रिय-  
माणे वा, सुखिनि दुःखिनि वा, बद्धे मुक्ते वा नेतरे जन्मादिमाजो भवन्तीति या व्यवस्था सा  
नोपपद्येत, यदि सर्वशरीरेष्वेक एव पुरुषोऽभ्युपयेतेति भावः। तथा च साङ्ख्यसूत्रं “जन्मादिव्य-  
वस्थातः पुरुषबहुत्वम्” अ० १ सू० १४९ इति। स्पष्टं चैतद् “जन्ममरणकरणानां प्रतिनि-  
यमाद्” इति साङ्ख्यकारिकायां तत्त्वकौमुद्याम्। इदं च बहुत्वं यदवच्छेदेन पुरुषस्य जन्मादि-  
हितमस्माभिः। “नाऽद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वाद्” इति साङ्ख्यसूत्रमाश्रित्यैकत्वश्रुतीनां  
गतिमाह “एकत्व” इति।



संयोगस्वरूपाऽभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते ।

सू० स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुसंयोगः॥२३॥

भा० पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः\*तस्मात्संयोगाद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः।यातु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः। दर्शनकार्य्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तं, दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीति अदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तं नाऽत्र दर्शनं मोक्षकारणम्, अदर्शनाऽभावादेव बन्धाभावः समोक्ष इति। दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्याऽदर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनज्ञानं

टी० तदेवं तादर्थ्यं संयोगकारणे उक्ते प्रासङ्गिके प्रधाननित्यत्वे संयोग-सामान्यनित्यत्वे हेतौ चोक्ते, संयोगस्य यत्स्वरूपम् = असाधारणो विशेष इति यावत् तदभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते “स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोग” इति ॥ २३ ॥ यतो दृश्यं तदर्थमतस्तज्जनितोपकारं भजमानः पुरुषस्तस्य स्वामी भवति।भवति च दृश्यमस्य स्वम् । स चाऽनयोः संयोगः शक्तिमात्रेण व्यवस्थितस्तत्स्वरूपोपलब्धिहेतुः । तदेतच्चाप्यमवद्योतयति । “पुरुष” इति । पुरुषः स्वामी योग्यतामात्रेण<sup>१</sup> दृश्येन स्वेन योग्यतयैव दर्शनार्थं संयुक्तः । शेषं सुगमम् । स्यादेतद् । द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिरपवृज्यतेऽनेनेत्यपवर्ग उक्तः । न च मोक्षः साधनवान् । तथा सत्ययं मोक्षत्वादेव च्यवेतेत्यत आह “दर्शनकार्य्यावसान” इति । दर्शनकार्य्यावसानो बुद्धिविशेषेण सह पुरुषविशेषस्य संयोग इति दर्शनं वियोगकारणमुक्तम् । कथं पुनर्दर्शनकार्य्यावसानत्वं संयोगस्येत्यत आह— “दर्शनम्” इति । ततः किमित्यत आह—“अदर्शनम्” इति । अदर्शनम् = अविद्या, संयोगानिमित्तमुक्तम् । उक्तमर्थं स्पष्टयति—“नात्र इति, ननु दर्शनमदर्शनं विरोधिनं विनिवर्त्तयतु, बन्धस्य कुतो निवृत्तिरित्यत आह— “दर्शनस्य” इति । बुद्ध्यादिविविक्तस्यात्मनः स्वरूपाऽवस्थानं मोक्षउक्तो, न तस्य साधनं दर्शनमपि त्वऽदर्शननिवृत्तिरित्यर्थः । असाधारणं संयोगे

टि० (१) संयोग एव संबन्धो न योग्यतामात्रमिति विज्ञानोक्तिर्हेया । निरवयवयोर्विभुनोः प्रधानपुरुषयोः संयोगाऽसम्भवादित्यलम् । \* संयुक्तः—अत्र भवतीति शेषः ।



भा० कैवल्यकारणमुक्तम् । किञ्चेदमदर्शनं नाम, किं गुणानाम-  
धिकारः । १ । अहो सिद् दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितवि-  
षयस्य प्रधानचित्तस्याऽनुत्पादः, स्वस्मिन् दृश्ये विद्यमाने  
दर्शनाभावः । २ । किमर्थवत्ता गुणानाम्<sup>(१)</sup> । ३ । अथा-  
ऽविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम्<sup>(२)</sup>  
। ४ । किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराऽभिव्यक्तिः

टी० हेतुमदर्शनविशेषं ग्रहीतुमदर्शनमात्रं विकल्पयति “किञ्चेदम्” इति ।  
पर्युदासं गृहीत्वाह—“किं गुणानामधिकारः” इति । अधिकारः=कार्यार-  
म्भणसामर्थ्यं, ततो हि संयोगः संसारहेतुरुपजायते । प्रसज्यप्रतिषेधं गृहीत्वा  
द्वितीयं विकल्पमाह “अहोसिद्” इति । दाशंतो विषयः शब्दादिः सत्त्व-  
पुरुषाऽन्यता च येन चित्तेन तस्य तद्विषयस्याऽनुत्पादः । एतदेव स्फोरयति  
“स्वस्मिन्” इति । दृश्ये=शब्दादौ सत्त्वपुरुषाऽन्यतायां चेति, तावदेव  
प्रधानं विचेष्टते न यावद् द्विविधदर्शनमभिनिर्वर्त्तयति, निष्पादितोभय-  
दर्शनं तु विनिवर्त्तत इति । पर्युदास एव तृतीयं विकल्पमाह—“किमर्थवत्ता  
गुणानाम्” इति । सत्कार्यवादसिद्धौ हि भाविनावपि भोगापवर्गावव्यपदे-  
श्यतयास्त इत्यर्थः । पर्युदास एव चतुर्थं विकल्पमाह—“अथाऽविद्या”  
इति । प्रतिसर्गकाले स्वाचित्तेन सह निरुद्धा=प्रधानसाम्यमागता वासना-  
रूपेण स्वचित्तोत्पत्तिबीजम् । तेन दर्शनादन्याऽविद्यावासनैवाददर्शनमुक्ता ।  
पर्युदास एव पञ्चमं विकल्पमाह—“किंस्थितिः” इति । स्थितिसंस्का-  
रस्य=प्रधानवर्त्तिनः साम्यपरिणामपरम्परावाहिनः क्षये, गतिः=महदादि  
विकारारम्भः । तद्धेतुः संस्कारः प्रधानस्य गतिसंस्कारस्तस्याऽभिव्यक्तिः  
= कार्योन्मुखत्वम् । तदुभयसंस्कारसद्भावे मतान्तराऽनुमतिमाह—

टि० (१) प्रथमविकल्पे गुणानामारम्भणसामर्थ्यमदर्शनमित्युक्तमेनेन च विकल्पेनाऽनाग-  
तावस्थाया गुणेषु भोगाऽपवर्गावस्थानस्यादर्शनत्वमित्युक्तमिति भेदः ।  
(२) प्रलयकाले स्वाश्रयचित्तेन सह प्रधानसाम्ये गताऽपि सर्गकाले पुनः स्वाश्रयचि-  
त्तस्योत्पत्तिबीजं या विपर्ययज्ञानवासना किं साऽदर्शनमिति विकल्पार्थः । अयमेव पक्षः  
सिद्धान्तो भविष्यतीतिरेषान्तेव तत्समानयतभावितयोपन्यास इति बोध्यम् ।



भा० यत्रेदमुक्तं—“प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराऽकरणादप्रधानं स्यात्, तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्। उभयथा चाऽस्या प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नाऽन्यथा। कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः” ॥५॥ दर्शनशक्तिरेवाऽदर्शनमित्येके “प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः” इति श्रुतेः। सर्व-

टी० “यत्रेदमुक्तम्” इति । ऐकान्तिकत्वं व्यासेधज्ञिः<sup>(१)</sup> । प्रधीयते = जन्यते विकारजातमनेनेति प्रधानं, तच्चेत्स्थित्यैव वर्तेत न कदाचिद् गत्या ततो विकाराऽकरणान्न प्रधीयते तेन किञ्चिदित्यप्रधानं स्यात्। अथ गत्यैव वर्तेत न कदाचिदपि स्थित्या तत्राऽऽह—“तथा गत्यैव” इति । क्वचित्पाठः स्थित्यै-गत्यै-इति। तादर्थ्यं चतुर्थी, एवकारश्च द्रष्टव्यः। स्थित्यै चेन्न वर्तेत न क्वचिद्विकारो विनश्येत्। तथा च भावस्य सतोऽविनाशिनो नोत्पत्तिरपीति विकारत्वादेव च्यवेत्। एवञ्च न प्रधीयते अत्र किञ्चिदित्यप्रधानं स्यात् । तदुभयथा स्थित्या गत्या चाऽस्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते, नान्यथा = एकान्ताऽभ्युपगमे । न केवलं प्रधाने, कारणान्तरेष्वपि = परब्रह्मतन्मायाः परमाण्वादिषु कल्पितेषु समानः, चर्चो = विचारः । तान्यपि हि स्थित्यैव वर्तमानानि विकाराऽकरणादकारणानि स्युः, गत्यैव वर्तमानानि विकारनित्यत्वादकारणानि स्युरिति च । पर्युदास एव च षष्ठं कल्पमाह “दर्शनशक्तिरेव” इति । यथा प्रजापतिव्रते “नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्” इति<sup>(२)</sup> अनीक्षणप्रत्यासन्नः सङ्कल्पो गृह्यत एवमिहापि दर्शननिषेधे तत्प्रत्यासन्ना तन्मूला शक्तिरुच्यते । सा च दर्शनं भोगादिलक्षणं प्रसोतुं द्रष्टारं दृश्येन योजयतीति । अत्रैव श्रुतिमाह ‘प्रधानस्य’ इति । स्यादेतत् प्रधानमात्मख्या

टि० (१) स्थित्यैव प्रधानं वर्तेत न गत्या । यद्वा गत्यैव प्रधानं वर्तेत न स्थित्येत्यनयोः पक्षयोरेकतरपक्षाऽवधारणरूपं नियमं निराकुर्वद्भिः पञ्चशिखाचार्यैरेतदुक्तमित्यर्थः ।

(२) यथा “नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नाऽस्तं यान्तं कदाचन । नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं न भसो गतम्” इतिवाक्ये प्रकरणोपक्रमे “अथातः प्रजापतिव्रतम्” इति व्रतशब्दश्रवणाद् व्रतस्यचाऽनुष्ठेयत्वाद् नञोर्मुख्याऽर्थस्यचाऽभावस्याऽननुष्ठेयत्वान्नञेक्षणविरुद्धा तत्प्रत्यासन्ना नेक्षिष्य इति मानसी क्रिया गृह्यते तद्वद् दर्शनविरुद्धा तत्प्रत्यासन्ना या पुरुषायाऽऽत्मानं दर्शयितुं प्रधानस्य समुत्साहशक्तिः साऽदर्शनमिति भावः ।



भा० बोध्यबोधसमर्थः प्राक् प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति, सर्वकार्यकारणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति<sup>१</sup> । ६। उभयस्याऽप्यदर्शनं धर्म इत्येके । तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययाऽपेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति । तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनैव दर्शनमवभासते । दर्शनज्ञानमेवाऽदर्शनमिति

टी० पनार्थं प्रवर्तत इति श्रुतिराह, न त्वात्मदर्शनशक्तिः प्रवर्तत इत्यत आह—“सर्वबोध्यबोधसमर्थ” इति । प्राक् प्रवृत्तेः प्रधानस्य नाऽऽत्मख्यापनमात्रं प्रवृत्तौ प्रयोजकमसामर्थ्यं तदयोगात् । तस्मात्सामर्थ्यं प्रवृत्तेः प्रयोजकमिति श्रुत्याऽर्थादुक्तमित्यर्थः । दर्शनशक्तिः प्रधानाश्रयेत्यङ्गीकृत्य षष्ठः कल्पः, इमामेवोभयाश्रयामास्थाय सप्तमं कल्पमाह—“उभयस्याप्यदर्शनम्” इति उभयस्य = पुरुषस्य च दृश्यस्य चादर्शनं = दर्शनशक्तिर्धर्म इत्येके । स्यादेतद्, मृष्यामहे दृश्यस्येति, तस्य सर्वशक्त्याऽऽश्रयत्वात्, न द्रष्टुरिति पुनर्मृष्यामः । न हि तदाधारा ज्ञानशक्तिः । तत्र ज्ञानस्याऽसमवायाद्, अन्यथा परिणामापत्तिरित्यत आह—“तत्रेदम्” इति, भवतु दृश्यात्मकं, तथाऽपि तस्य जडत्वेन तद्गतशक्तिकार्यं दर्शनमपि जडमिति न शक्यं तद्धर्मत्वेन विज्ञातुं, जडस्य स्वयमप्रकाशत्वाद् । अतो दृशोरात्मनः प्रत्ययं = चैतन्यच्छायापत्तिमपेक्ष्य दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति । विज्ञायते । विषयेण विषयिण उपलक्षणात् । नन्वेतावताऽपि दृश्यधर्मत्वमस्य ज्ञानस्य भवति, न तु पुरुषधर्मत्वमपीत्यत आह “तथा पुरुषस्य” इति । सत्यं पुरुषस्यानात्मभूतमेव, तथाऽपि दृश्यबुद्धिसत्त्वस्य यः प्रत्ययः = चैतन्यच्छायाऽपत्तिस्तमपेक्ष्य पुरुषधर्मत्वेनैव न तु पुरुषधर्मत्वेन एतदुक्तं भवति—चैतन्यबिम्बोद्ग्राहितया बुद्धिचैतन्ययोरभेदाद् बुद्धिधर्माश्चैतन्यधर्मा इव चकासतीति । अष्टमं कल्पमाह “दर्शनज्ञानम्” इति । ज्ञानमेव शब्दादीनामदर्शनं, न तु सत्त्वपुरुषाऽन्यताया इति केचिद्यथा चक्षू रूपे प्रमाणमपि रसादावप्रमाणमुच्यते ।

टी० (१) सर्वबोध्यबोधसमर्थ इत्यादिरवभासत इत्यन्त एको विकल्प इति मते त्विति शब्दो हेत्वर्थो बोध्यः । तथाच यतः प्रधानवृत्तेः प्राक् पुरुषो न पश्यति, नापि प्रधानं दृश्यतेऽत उभयस्याऽप्यदर्शनं धर्म इत्यर्थो बोध्यः ।



भा० केचिदभिदधति, इत्येते शास्त्रगता विकल्पाः, तत्र । विकल्प-  
बहुत्वमेतत्सर्वपुरुषाणां गुणसंयोगे साधारणविषयम्<sup>१)</sup> ॥ २३ ॥

यस्तु प्रत्येकचेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः—

सू० तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

भा० विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः । विपर्ययज्ञानवासनावासिता न

टी० एतदतो भवति-सुखाद्याकारशब्दादिज्ञानानि स्वासिद्धयनुगुणतया द्रष्टृ-  
श्यसंयोगमाक्षिपन्तीति । तदेवं विकल्प्य चतुर्थविकल्पं स्वीकर्तुमितरेषां विक-  
ल्पानां सांख्यशास्त्रगतानां सर्वपुरुषसाधारण्येन भोगवैचित्र्याऽभावप्रसङ्गेन  
दूषयति—“इत्येते शास्त्रगता” इति ॥ २३ ॥ चतुर्थं विकल्पं निर्धारयितुं सू-  
त्रमवतारयति “यस्तु प्रत्येकचेतनस्य स्वबुद्धिसंयोग” इति । प्रति=प्रतीपम्,  
अञ्चति=प्राप्नोतीति प्रत्यक् । असाधारणस्तु संयोग एकैकस्य पुरुषस्यैकै-  
कया बुद्ध्या वैचित्र्यहेतुः । सूत्रं पठति—“तस्य हेतुरविद्या” इति ॥ २४ ॥

नन्वविद्या<sup>२)</sup> विपर्ययज्ञानं, तस्य भोगापवर्गयोर्वि\*स्वबुद्धिसंयोगो  
हेतुः, असंयुक्तायां बुद्धौ तदनुत्पत्तेः । तत्कथमाविद्या संयोगभेदस्य हेतुरित्यत  
आह—“ विपर्ययज्ञानवासना ” इति । सर्गान्तरीयाया अविद्यायाः  
स्वचित्तेन सह निरुद्धाया अपि प्रधानेऽस्ति वासना । तद्वासनावासितं च  
प्रधानं तत्तत्पुरुषसंयोगिनीं तादृशीमेव बुद्धिं सृजति ।

टि० (१) तत्र = अदर्शनाविषये, यद्विकल्पानां चतुर्थविकल्पाऽतिरिक्तानां बहुत्वमेतत्सर्वपुरु-  
षाणां सामान्यगुणसंयोगे = पुरुषार्थहेतुसंयोगसामान्यं साधारणकारणविषयं, न सुखदुःखवै-  
चित्र्यहेतुसंयोगविशेषाऽसाधारणकारणविषयमित्यर्थः । कस्तर्हि संयोगविशेषे कारणमित्याशङ्क्य  
उत्तरसूत्रं पूरयित्वा उत्तरमाह “ यस्तु इति । यस्तु सुखदुःखादिवैचित्र्यव्यवस्थापक एकैकस्य  
पुरुषस्यैकैकया बुद्ध्याऽसाधारणः संयोगविशेषस्तस्य हेतुरविद्या = चतुर्थविकल्पोक्तविपर्ययज्ञान-  
वासनैवेत्येवं सूत्रेण सहान्वयः । तत्र—इत्यारम्भोत्तरसूत्राऽवतरणमित्येके । प्रत्येकचेतन-  
स्येति पाठान्तरं तु वाचस्पत्यननुगुणम् ।

(२) संयोगे सति विपर्ययज्ञानं विपर्ययज्ञाने च सति संयोग इति परस्परऽऽश्रयमाश-  
ङ्कते. “नन्वविद्या” इति । \* यथा भोगाऽपवर्गयोर्हेतुः स्वबुद्धिसंयोग एव तस्य = विपर्ययज्ञान-  
नस्याऽपि हेतुः स एवेत्यर्थः । तत्र हेतुः—असंयुक्तायामिति ।



भा० कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति साऽधिकारा पुनरावर्त्तते, <sup>[१]</sup> सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसाना कार्यनिष्ठां प्राप्नोति चरिताऽधिकारा निवृत्ताऽदर्शना बन्धकारणाऽभावाच्च पुनरावर्त्तते । अथ कश्चित् षण्डकोपाख्यानानोद्धाटयति <sup>(२)</sup>—मुग्धया भार्ययाऽभिधीयते षण्डक, आचार्यपुत्र! अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाहामिति तां तामाह मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामीति । तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं <sup>(३)</sup> न करोति विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा तत्राऽऽचार्यदेशीयो वाक्ते—ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः । अदर्शन

टी० एवं पर्वपूर्वसर्गोऽख्यनादित्वाददोषः । अत एव प्रतिसर्गावस्थायां न पुरुषो मुच्यत इत्याह “विपर्ययज्ञान” इति । यदा पुरुषख्यातिं कार्यनिष्ठां प्राप्ता । तदा विपर्ययज्ञानवासनाया बन्धकारणस्याभावाच्च पुनरावर्त्तत इत्याह—“सा तु” इति । अत्र कश्चित्=नास्तिकः कैवल्यं षण्डकोपाख्यानानोपहसति । षण्डकोपाख्यानमाह—“मुग्धया” इति । किमर्थमित्यर्थ—शब्दो निमित्तं लक्षयति । प्रयोजनस्याऽपि निमित्तत्वात् । षण्डकोपाख्यानसाम्यमापादयति—“तथेदम्” इति । इदं विद्यमानं गुणपुरुषान्यताख्यातिज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति, परवैराग्येण ज्ञानप्रसादमात्रेण ससंस्कारं निरुद्धं विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा, यस्मिन् सत्येव यद्भवति तत्तस्य कार्यं न तु यस्मिन्नसतीति भावः । अत्रैकदेशिमतेन परिहारमाह—“तत्राचार्यदेशीय” इति । ईषदपरिसमाप्त आचार्य आचार्यदेशीयः । आचार्यस्तु वायुप्रोक्ते\* कृतलक्षणः “आचिनोति च

टे० (१) विपर्ययज्ञानवासनावसिता या बुद्धिः सा यदा सत्त्वपुरुषाऽन्यताख्यातिरूपां कार्यनिष्ठां = स्वकर्तव्यचरमसीमां न प्राप्नोति तदा साऽधिकारा सती पुनरावर्त्तते । यदा तु पुरुषख्यातिपर्यवसाना सती कार्यनिष्ठां प्राप्नोति तदा समाप्तकर्तव्या सती पुनरावर्त्तते । एवञ्चान्वयव्यातिरेकभ्यां विपर्ययज्ञानवासनैव संयोगहेतुरित्यर्थः ।

(२) षण्डकः=नपुंसकः । तद्वृष्टान्तेन कैवल्यमाक्षेपतीत्यर्थः । † बुद्धिरिति शेषः ।

(३) चित्तनिवृत्तिरूपं कैवल्यमित्यर्थः । \* वायुपुराणे ।



भा०कारणाऽभावाद् बुद्धिनिवृत्तिः । तच्चाऽदर्शनं बन्धकारणं दर्शनाच्चिवर्तते । तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः<sup>(१)</sup>, किमर्थमस्थान एवाऽस्य मतिविभ्रमः ॥ २४ ॥

हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तमतः परं हानं वक्तव्यम्—

टी० शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते” इति । भोगविवेकख्यातिरूपपरिणतबुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः । नच बुद्धिस्वरूपनिवृत्तिः । सा च धर्ममेघान्तविवेकख्यातिप्रतिष्ठाया अनन्तरमेव भवति । सत्यपि बुद्धिस्वरूपमात्राऽवस्थान इत्यर्थः । एतदेव स्फोरयति—“अदर्शन” इति । अदर्शनस्य बन्धकारणस्याऽभावाद् बुद्धिनिवृत्तिः । तच्चाऽदर्शनं बन्धकारणं दर्शनाच्चिवर्तते । दर्शननिवृत्तिस्तु परवैराग्यसाध्या । सत्यपि बुद्धिस्वरूपाऽवस्थाने मोक्ष इति भावः । एकदेशिमतमुपन्यस्य स्वमतमाह—“तत्रचित्तनिवृत्तिरेवमोक्ष” इति । ननृक्तं दर्शने निवृत्तेऽचिराच्चित्तस्वरूपनिवृत्तिर्भवतीति कथं दर्शनकार्येत्यत आह “कथमस्थान एवाऽस्य मतिविभ्रम” इति । अयमभिसन्धिः—यदि दर्शनस्य साक्षाच्चित्तनिवृत्तौ कारणभावमङ्गीकुर्महि तत एवम् उपाऽऽलभ्येमहि, किन्तु विवेकदर्शनं प्रकर्षकाष्ठां प्राप्तं निरोधसमाधिभावनाप्रकर्षक्रमेण चित्तनिवृत्तिमत्पुरुषस्वरूपाऽवस्थानोपयोगीत्यातिष्ठामहे, तत्कथमुपालभ्येमहीति ॥ २४ ॥

तदेवं व्यूहद्वयमुक्त्वा तृतीयव्यूहाऽभिधानाय सूत्रमवतारयति “हेयं दुःखम्”

टि० (१) ननु चित्तनिवृत्तिरेव चेन्मोक्षस्तर्ही चार्थदेशीयमतात्कोऽस्य विशेषः । तेनाऽपि हि बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षत्वप्रतिपादनाद् बुद्धिचित्तयोश्च पर्यायेणैवाऽत्र व्यवहाराद् इति चेदत्र केचित् चित्तनिवृत्तिरेवमोक्ष इति न समाधानान्तरेण पक्षान्तरम्, अपि त्वाचार्थदेशीयसमाधानाऽनुमोदनमात्रम् । ज्ञानस्य साक्षाच्चित्तनिवृत्तिहेतुत्वानभ्युपगमेन शङ्काया एवाऽनुत्थिते रूपेक्षणीये प्रत्युत्तरनास्तिकस्याऽनवसरे व्यामोहोवर्ध एवेति भावः । स्वरूपतः सत्यामपि बुद्धौ शब्दाद्याकारपरिणामनिवृत्तिर्मोक्ष इत्येकदेशिमतं, स्वरूपत एव बुद्धेर्विलयो मोक्ष इति सिद्धान्तमतमिति विशेष इत्यपि प्राहुः ।



सू० तदभावात् संयोगाऽभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

भा० तस्याऽदर्शनस्याऽभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाऽभावः = आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः। एतद् हानं, तद् दृशेः कैवल्यं = पुरुषस्याऽमिश्रीभावः, पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः। दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानं, तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

अथ हानस्य कः प्राप्त्युपाय<sup>(१)</sup> इति ।

सू० विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

भा० सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः। सात्त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञानं प्लवते। यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं बन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसञ्ज्ञाय

टी० इति । सू० “तदभावात्संयोगाऽभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्” ॥ २५ ॥

इति । सूत्रं व्याचष्टे “तस्य” इति । अस्ति हि महाप्रलयेऽपि संयोगाऽभावोऽत उक्तमात्यन्तिक इति । दुःखोपरमो हानमिति पुरुषार्थता दर्शिता । शेषमतिरोहितम् ॥ २५ ॥ हानोपायलक्षणं चतुर्थं व्यूहमाख्यातुं सूत्रमवतारयति—“अथ” इति । सू० “विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय” इति ॥ २६ ॥

आगमाऽनुमानाभ्यामपि विवेकख्यातिरस्ति । न चासौ व्युत्थानं तत्संस्कारा निवर्त्तयति । तद्वतोऽपि<sup>(२)</sup> तदनुवृत्तेः, इति \* तन्निवृत्त्यर्थम् “अविप्लवा ” इति । विप्लवो = मिथ्याज्ञानं तद्रहिता । एतदुक्तं भवति—श्रुतमयेन ज्ञानेन विवेकं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्य दीर्घकाल-

टि० (१) ननु पूर्वसूत्रे तदभावादिति पञ्चस्याऽविद्याऽभावस्य बुद्धिपुरुषसंयोगनिवृत्तिरूपहानं प्रति हेतुत्वमुक्तमेव, तत्कथं तत्प्राप्त्युपायचोदनाऽवकाश इति चेद्, नैष दोषः। हानहेतुभूताऽविद्याऽभावस्य को लोभोपाय इत्यर्थे तात्पर्यात् । एवञ्चाविद्याऽभावस्साक्षान्मोक्षहेतुर्विवेकख्यातिस्त्वविद्यानिवृत्तिद्वारेति बोध्यम् । एतच्च ( १९७ ) एतत्पृष्ठे भाष्ये स्पष्टम् । (२) तद्वतः = आगमाऽनुमाननिष्पन्नविवेकज्ञानस्य । तदनुवृत्तेः = व्युत्थानाऽनुवृत्तेः । \* इति = अतः ।



वर्त्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति। सा विवेकख्या-  
तिरविप्लवा हानस्योपायः। ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावो-  
पगमः पुनश्चाऽप्रसव इत्येव मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति॥२६॥

सू० तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

भा० तस्येति = प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः, सप्तधेति = अशु-  
द्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तराऽनुत्पादे सति सप्त-  
प्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति। तद्यथा-परिज्ञातं हेयं, नास्य पुनः

टी० नैरन्तर्यसत्कारासेवितायाः भावनायाः प्रकर्षपर्यन्तं समाधिगता साक्षा-  
त्कारवती विवेकख्यातिर्निर्वर्तितसवासनमिथ्याज्ञाना निर्विप्लवा हानोपाय  
इति। शेषं भाष्यं सुगमम्॥ २६ ॥ विवेकख्यातिनिष्ठायाः स्वरूपमाह सूत्रे-  
ण—“तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा” इत्यनेन॥ २७ ॥ व्याचष्टे “तस्य”  
इति। प्रत्युदितख्यातेः = वर्त्तमानख्यातेर्योगिनः<sup>(१)</sup>, प्रत्याम्नायः = परा-  
मशः, अशुद्धिरेवावरणं चित्तसत्त्वस्य तदेव मलं तस्याऽपगमात्, चित्तस्य  
प्रत्ययान्तराऽनुत्पादे = तामसराजसव्युत्थानप्रत्ययानुत्पादे, निर्विप्लव-  
विवेकख्यातिनिष्ठामापन्नस्य सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति। विषय-  
भेदात्प्रज्ञाभेदः। प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनाम् = अवस्थानां तास्तथोक्ताः।  
यतः परं नास्ति सम्प्रकर्षः। प्रान्ता भूमयो यस्याः प्रज्ञाया = विवेकख्यातेः  
सा तथोक्ता।  
\* ‘समाधिगता’ इत्यपि क्व०।

टि० (१) योगिन इत्युक्त्या प्रत्युदितख्यातिपदं बहुव्रीहिसमासेन विवेकिपरमिति बोधितम्।  
अत एव सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवतीत्येवं विवेकिपरतया भाष्यकारैर्व्याख्यातं,  
यच्चत्र विज्ञानभिक्षुणोक्तं—नचाऽत्र प्रत्युत्पन्नख्यातेः पुरुषस्य परामर्श इत्यर्थः संभवति।  
पुरुषस्य पूर्वसूत्रेष्वप्रस्तुतत्वादपि तु कर्मधारयसमासेन तच्छब्दोक्तहानोपायस्य स्वरूपा-  
ख्यातं प्रत्युदितख्यातेरिति। तदेतद् भाष्यार्थाऽनवबोधपूर्वकत्वेन हेयम्। तथा हि पूर्वसूत्रस्थ-  
‘तदभावाद्’—इत्यत्रत्यतच्छब्देनाव्यवहितपूर्वसूत्रस्थाऽविद्यापदपरामर्शवदत्राऽपि तस्येति  
तच्छब्देनाऽव्यवहितपूर्वसूत्रस्थहानोपाय इति मा परामर्शीत्याशयेन भाष्यकृतोक्तं तस्येति  
प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नाय इति। यदि हि हानोपाय इत्येव परामृश्येत तदेवं विशेषोक्ति-  
रकिञ्चित्कारैव स्यात्पूर्वसूत्रवत्कथनमन्तरैव तच्छाभात्। किञ्च तच्छब्दपरामृष्टहानोपायस्य  
स्वरूपाख्यानपरत्वे प्रत्युदितख्यातेरित्यस्य विवेकिन इत्यर्थासम्भवाद् विवेकिनो भवतीति  
भाष्यं व्याकुप्येत। यत्तुक्तम् अप्रस्तुतत्वादिति, तदपि न। बौद्धपदार्थपरामर्शेनापि तच्छब्द-



भा० परिज्ञेयमस्ति । १ । क्षीणा हेयहेतवो, न पुनरेतेषां क्षेतव्यम-  
स्ति । २ । साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्\* । ३ । भावितो विवे-  
करूपातिरूपो हानोपायः । ४ । इत्येषा चतुष्टयी कार्य्याविमुक्तिः  
प्रज्ञायाः । चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी—चरिताऽधिकारा बुद्धिः । १ ।  
गुणा गिरिशिखरकूटच्युता इव प्रावाणो निरवस्थानाः स्वकार-  
णो प्रलयाऽभिमुखाः सह तेनाऽस्तं गच्छन्ति । न चैषां विप्रली-  
नानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाऽभावादिति । २ । एतस्यामवस्थायां  
गुणसंबन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुषः । ३ । इति

टी० ता एव सप्तप्रकाराः प्रज्ञाभूमिरुदाहरति “तद्यथा” इति । तत्र पुरुषप्र-  
यत्ननिष्पाद्यासु चतसृषु भूमिषु प्रथमामुदाहरति “परिज्ञातं हेयम्” इति ।  
यावत्किलप्राधानिकं तत्सर्वं परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाद् दुःख-  
मेवेति हेयं, तत्परिज्ञातम् । प्रान्ततां दर्शयति “नास्य पुनः किञ्चिदपरिज्ञे-  
यमस्ति” इति । द्वितीयामाह “क्षीणा” इति । प्रान्ततामाह “न पुनः” इति ।  
तृतीयामाह “साक्षात्कृतम्” इति । प्रत्यक्षेण निश्चितं मया सम्प्रज्ञाताऽवस्था-  
यामेव निरोधसमाधिसाध्यं हानं, न पुनरस्मात्परं निश्चेतव्यमस्तीति शेषः ।  
चतुर्थीमाह “भावित” इति । भावितो = निष्पादितो विवेकरूपातिरूपो हा-  
नोपायो, नास्याः परं भावनीयमस्तीति शेषः । एषा चतुष्टयी कार्य्या विमु-  
क्तिः = समाप्तिः, कार्य्यतया प्रयत्नव्याप्यता दर्शिता, क्वचित्पाठः कार्य्य-  
विमुक्तिरिति, कार्य्यान्तरेण विमुक्तिः प्रज्ञाया इत्यर्थः । प्रयत्ननिष्पाद्याऽनु-  
निष्पादनीयामप्रयत्नसाध्यां चित्तविमुक्तिमाह “चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी”  
इति । प्रथमामाह “चरिताऽधिकारा बुद्धिः” इति । कृतभोगाऽपवर्गकार्य्ये-  
त्यर्थः । द्वितीयामाह “गुणा” इति । प्रान्ततामाह “नचैषाम्” इति । तृती-  
यामाह “एतस्यामवस्थायाम्” इति । एतस्यामवस्थायां जीवन्नेव पुरुषः  
कुशलो मुक्त इत्युच्यते, चरमदेहत्वादित्याह—

टि० वृत्तेः सत्त्वेनात्र तदुपपत्तेरिति कृतं बहुना । \*एतच्च व्युत्थानकालिकं वचनमसम्प्रज्ञातयोग-  
दृष्टान्तेन कैवल्यमपि दृष्टप्रायमित्यभिप्रायेण । निरोधसमाधौ कस्याऽपि साक्षात्कारस्याऽभा-  
वाद् । यदा निरोधसमाधिना हानं भवतीति साक्षात्कृतं मया सम्प्रज्ञातकाल इत्यर्थः ।



भा० एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन् पुरुषः कुशल इत्याख्यायतोऽप्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति, गुणातीतत्वादिति ॥ २७ ॥

सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपायः । न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते<sup>(१)</sup> ।

सू० योगाङ्गाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

भा० योगाङ्गानि = अष्टावभिधायिष्यमाणानि । तेषामनुष्ठानात्

टी० “एताम्” इति । अनौपचारिकं मुक्तमाह “प्रतिप्रसवे” इति । प्रधानलयेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणाऽतीतत्वादिति ॥ २७ ॥

तदेवं चतुरो व्यूहानुक्त्वा तन्मध्यपातितस्य हानोपायस्य विवेकख्यातेर्गोदोहनादिवत् प्रागसिद्धेः असिद्धस्य चोपायत्वाऽभावात् सिद्ध्युपायान् वक्तुमारभत इत्याह “सिद्धा” इति । तत्राऽभिधास्यमानानां साधनानां येन प्रकारेण विवेकख्यात्युपायत्वं तद् दर्शयति सूत्रेण—“योगेत्यादिना, ख्यातेरित्यन्तेन” ॥ २८ ॥ योगाङ्गानि हि यथायोगं दृष्टाऽदृष्टद्वारेणाऽशुद्धिं क्षिप्वन्ति<sup>(२)</sup> पञ्चपर्वणो विपर्ययस्येत्युपलक्षणं पुण्याऽपुण्ययोरपि जात्यायुर्भोगहेतुत्वेन

टि० (१) विवेकख्यातिः सिद्धा = निष्पन्ना सत्येव हानोपायो भवति नाऽनिष्पन्ना सती । विवेकख्यातिनिष्पत्तिश्चाशुद्धिविघटकयमाद्यनुष्ठानसाधनाऽधीनाऽतस्तन्निष्पत्त्युपायभूतं साधनजातमारभ्यते सूत्रकृतेति भावः । \* साधनाऽनुष्ठानात् प्राक् ।

(२) शौचादयो दृष्टद्वारेणाशुद्धिं नाशयन्ति, स्वाध्यायादयश्चाऽदृष्टद्वारेणाशुद्धिमपगमयन्तीति भावः । अत्रेदं बोध्यम् । अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरित्युक्त्या यमादीनां न ज्ञानोत्पत्तिकारणत्वमपि तु प्रतिबन्धकाऽपनयनद्वारा ज्ञानप्राप्तिकारणत्वम् । एवञ्च येषां पूर्वजन्मानुष्ठितैरेव यमादिभिरशुद्धेरपगमो यथा जडभरतादीनां तेषां न तदनुष्ठानापेक्षा द्वारस्य सिद्धत्वाद् इति । यच्च भिक्षुणोक्तं—जिज्ञासाऽनन्तरं कर्म त्याग्यमनुत्पन्नज्ञानेनाऽपीति शाङ्करमतं दुर्मतं, विपर्ययतानवद्वारा यमनियमान्तर्गतकर्मणां ज्ञानहेतुत्वादिति । तच्छाङ्करमतापरिशूलनपूर्वकमेव । यतो गीताभाष्य एव अ० १३ यमा नियमाश्चाऽमानित्वादयो ज्ञानसाधनत्वाज्ज्ञानमित्युच्यन्त इत्यादिना यमादीनां ज्ञानसाधनत्वस्याऽभिहितत्वाद् इत्यलं भिक्षुविरोधेन ।



भा० पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याऽशुद्धिरूपस्य क्षयः = नाशः । तत्क्षये स-  
 म्यग्ज्ञानस्याऽभिव्यक्तिः, यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा  
 तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते, यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक-  
 मानुरोधिनी ज्ञानस्याऽपि दीप्तिर्विवर्द्धते । सा खल्वेषा विवृद्धिः  
 प्रकर्षमनुभवति आ विवेकख्यातेः = आ गुणपुरुषस्वरूपविज्ञा-  
 नादित्यर्थः । योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणां, यथा परशु-  
 शङ्खेद्यस्या विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणां यथा धर्मः सुखस्य, ना-  
 न्यथा कारणम् । कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति । नवैवे-  
 त्याह । तद्यथा—“उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाऽऽप्तयः  
 वियोगान्यत्वधृतयः कारणां नवधा स्मृतम्” इति । तत्रोत्पत्ति-  
 कारणां मनो भवति विज्ञानस्य, स्थितिकारणां मनसः पुरुषार्थता,

टी० अशुद्धिरूपत्वादिति । शेषं सुगमम् । नानाविधस्य कारणभावस्य दर्श-  
 नाद् योगाङ्गानुष्ठानस्य कीदृशं कारणत्वमित्यत आह “योगाङ्गानुष्ठा-  
 नम्” इति । अशुद्ध्या वियोजयति बुद्धिसत्त्वमिति अशुद्धेर्वियोगकारणम् ।  
 दृष्टान्तमाह—“यथा परशुः” इति । परशुः छेद्यं वृक्षं मूलेन वियोजयति,  
 अशुद्ध्या वियोजयद् बुद्धिसत्त्वं विवेकख्यातिं प्रापयति । यथा धर्मः सुख-  
 स्य तथा योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः प्राप्तिकारणं नान्येन प्रकारेणेत्याह—  
 विवेकख्यातेस्तु” इति । नाऽन्यथेति प्रतिषेधश्रवणात् पृच्छति “कति  
 चैतानि” इति । उत्तरं “नवैव” इति । तानि दर्शयति कारिकाया—“तद्य-  
 थोत्पत्ति” इति । अत्रोदाहरणान्याह “तत्रोत्पत्तिकारणम्” इति । मनो  
 विज्ञानमव्यपदेश्यावस्थातोऽपनीय वर्त्तमानावस्थामापादयदुत्पत्तिकारणं वि-  
 ज्ञानस्य<sup>(१)</sup> स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता = अस्मिताया उत्पन्नं मनस्तावदव-

टि० (१) अव्यपदेश्यावस्थातः = अतीतावस्थातो, विज्ञानमपनीय वर्त्तमानावस्थामापादयन्मनो  
 विज्ञानस्योत्पत्तिकारणमित्यर्थः । सत्कार्यवादे वर्त्तमानावस्थाऽऽपादनमेवोत्पत्तिरिति भावः ।



भा० शरीरस्यैवाहार इति । अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्याऽऽलो-  
कस्तथा रूपज्ञानं, <sup>(१)</sup> विकारकारणं मनसो विषयान्तरं, यथा ऽग्निः  
पाक्यस्य । प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य । प्राप्तिकारणं यो-  
द्दी० तिष्ठते न यावद् द्विविधं पुरुषार्थमभिनिवर्त्तयति, अथ निर्वर्त्तितपुरु-  
षार्थद्वयं स्थितेरपैति तस्मात्स्वकारणादुत्पन्नस्य मनसो ऽनागतपुरुषार्थता  
स्थितिकारणम् । दृष्टान्तमाह—“शरीरस्यैवाहार” इति । प्रत्यक्षज्ञानानिमि-  
त्तम् इन्द्रियद्वारा स्वतो वा विषयस्य संस्क्रिया अभिव्यक्तिः, तस्याः  
कारणं यथा रूपस्याऽऽलोकः । विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्, =  
यथा हि मृकण्डोः समाहितमनसो बल्लकीविपञ्च्यमानपञ्चमस्वरश्रवणस-  
मनन्तरमुन्मीलिताक्षस्य <sup>२)</sup> स्वरूपलावण्ययौवनसंपन्नामप्सरसमुल्लोचा-  
मीक्षमाणस्य समाधिमपहाय तस्यां सक्तो मनो बभूवेति । अत्रैव निदर्शन-  
माह—“यथा ऽग्निः” इति यथा ऽग्निः पाक्यस्य = तण्डुलादेः कठिनाऽवयव-  
सन्निवेशस्य प्रशिथिलावयवसंयोगलक्षणस्य विकारस्य कारणम् । सत एव  
विषयस्य प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य इति । ज्ञायत इति <sup>(३)</sup> ज्ञानम्  
अग्निश्चासौ ज्ञानं चेति अग्निज्ञानं तस्येति । एतदुक्तं भवति, \*वर्त्तमान-  
स्यैवाग्नेर्ज्ञेयस्य प्रत्ययकारणतया कारणमिति । “प्राप्तिकारणम्” ।  
औत्सर्गिकी निरपेक्षाणां कारणानां कार्यक्रिया प्राप्तिः । तस्याः कुतश्चिद-  
पवादोऽप्राप्तिः । यथा निम्नोपसर्पणस्वभावानामपां प्रतिबन्धः सेतुना । तथे-  
हाऽपि बुद्धिसत्त्वस्य सुखप्रकाशशीलस्य स्वाभाविकी सुखविवेकख्यातिजन-  
कता प्राप्तिः । सा कुतश्चिदधर्मात्तमसो वा प्रतिबन्धान्न भवति । धर्माद् योगा-

टि० (१) अभिव्यक्ति—शब्देन, बुद्धिवृत्तिः पौरुषेयो बोधश्चेत्युभयं गृह्यते । तत्र बुद्धिवृत्तावालो-  
कारणं, पौरुषेयबोधे च बुद्धिवृत्तिरूपं रूपज्ञानमिति विभागः । (२) वीणानः सूतसप्तस्वराऽन्तर्ग-  
तकोकिलरवसदृशपञ्चमस्वरश्रवणसमनन्तरमुन्मीलिताक्षस्य = समाधेरुत्थितस्य, अत एवोल्लो-  
चेतिनाम्नीमप्सरसमीक्षमाणस्य मृकण्डोर्मुनेः । (३) अग्निज्ञानस्येत्यत्र न भाव्यपुङ्गवेन ज्ञान-  
शब्देन षष्ठीतत्पुरुषः । प्रत्ययकारणमित्यनेन पौनरुक्त्यापत्तेः । किन्तु “कृत्यस्युटो बहुलम्” इति  
स्मरणात्कर्मसाधनज्ञानशब्देन ज्ञेयार्थकेन कर्मधारय इत्याह “ज्ञायत” इति । एतेन, यथाश्रुतेऽग्नि-  
ज्ञानस्येत्यत्र ज्ञानशब्दवैयर्थ्यात्, पर्तते वह्निरस्ति इति शब्दादिना यदग्निज्ञानं तस्य प्रत्ययकारणं  
निश्चयकारणं पर्वते धूमदर्शनमित्यर्थ इति भिक्षोर्व्याख्यानं हेयम् । आनुमानिकज्ञानस्याऽसङ्ग्राह-  
वाचस्पत्युक्तरीत्यार्थसंभवेऽर्थान्तरपरत्वाऽऽनौचित्याच्च । अभिव्यक्तिमध्यं एवानुमानिकज्ञानस्य  
प्रवेश इत्यपि भिक्षोः साहसमेव । न हि यथा रूपप्रत्यक्षज्ञाननिमित्तमालोकं एवं धूमज्ञानमग्नि-  
प्रत्यक्षनिमित्तं, येनैवं वक्तुं युज्येतेति । \* ज्ञेयार्थकज्ञानस्य कृत्यमाह ।



भा० गाङ्गाऽनुष्ठानं विवेकख्यातेः । वियोगकारणां तदेवाऽशुद्धेः । अन्य-  
त्वकारणां यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः । एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्य  
अविद्या मूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये ।  
धृतिकारणां शरीरमिन्द्रियाणां तानि च तस्य, महाभूतानि शरी-

टी० ऽङ्गाऽनुष्ठानाद्वा तदपनये तदप्रतिबद्धवृत्तिस्वभावत एव तज्जनक-  
तया तदाऽऽप्नोति । यथा वक्ष्यति—“निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां, वरणभे-  
दस्तु ततः क्षेत्रिकवद्” इति । तदेवं विवेकख्यातिलक्षणकार्य्याऽपेक्षया प्रा-  
प्तिकारणमुक्तम् । अवान्तरकार्य्यापेक्षया तदेव वियोगकारणमित्याह—  
“ वियोगकारणम् ” इति । अन्यत्वकारणमाह—“ यथा सुवर्णस्य  
सुवर्णकार ” इति । कटककुण्डलकेयूरादिभ्यो भिन्नाऽभिन्नस्य भेदवि-  
वक्षया [ कटकादिभिन्नस्याऽभेदविवेक्षया कटकादभिन्नस्य ] सुवर्णस्य  
कुण्डलादन्यत्वम् । तथाच कटककारी सुवर्णकारः कुण्डलादभिन्नात्सुवर्णा-  
दन्यत् कुर्वन्नन्यत्वकारणम् । अग्निरपि पाक्यस्याऽन्यत्वकारणं यद्यपि, तथा-  
ऽपि धर्मिणो धर्मयोः पुलाकत्वतण्डुलत्वयोर्भेदाऽविवक्षया धर्मयोरुपजना-  
ऽप्रायेऽपि धर्म्यनुवर्तते इति न तस्याऽन्यत्वं शक्यं वक्तुम् इति विकार-  
कारणत्वमुक्तम्, इति न सङ्करः । न च संस्थानभेदो धर्मिणोऽन्यत्वकारण-  
मिति व्याख्येयम् । सुवर्णकार इत्यस्याऽसङ्गतेः । बाह्यमन्यत्वकारणमुपन्य-  
स्याऽऽध्यात्मिकमुदाहरति “एवमेकस्य” इति । अविद्या = कमनीयेयं कन्ये-  
त्यादिज्ञानम् । सम्मोहयोगात्स एव स्त्रीप्रत्ययो मूढो = विषण्णो भवति चैत्रस्य,  
मैत्रस्य पुण्यवतो बत कलत्ररत्नमेतन्न तु मम भाग्यहीनस्य इति । एवं  
सपत्नीजनस्य तस्यां द्वेषः स्त्रीप्रत्ययस्य दुःखत्वे । एवं मैत्रस्य तस्या भर्तुः  
रागस्तस्यैव स्त्रीप्रत्ययस्य सुखत्वे । तत्त्वज्ञानं = त्वङ्मासमेदोऽस्थिमज्जास-  
मूहः स्त्रीकायः स्थानबीजादिभिरशुचिरिति, विवेकिनां माध्यस्थ्ये = वैराग्ये  
कारणमिति । धृतिकारणं = शरीरमिन्द्रियाणां विधारकम्, इन्द्रियाणि च शरी-  
रस्यासामान्यकरणवृत्तिर्हि<sup>(१)</sup> प्राणाद्या वायवः पञ्चा तदभावेशरीरपाताद्वा एवं

\* एकस्य स्त्रीप्रत्ययस्य मूढत्वादिधर्माणामन्यत्वेऽविद्यादि चतुष्टयं कारणमित्यर्थः ।  
टि० ( १ ) ननु प्राणानां शरीरविधारकत्वेऽपि कथमिन्द्रियाणां विधारकत्वमित्यत आह  
“सामान्यकरणवृत्तिः” इति । न हि साङ्ख्यनये सामान्यकरणवृत्तिभ्योऽतिरिक्ताः प्राणा  
नाम सन्तीति भावः । [ ] एतच्चिह्नान्तर्गतं न स्वान्तमावर्जयति ।



भा० राणां, तानि च परस्परं सर्वेषां, तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्पराऽर्थत्वाद्, इत्येवं नव कारणानि । तानि च यथासम्भवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि । योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणात्वं लभत इति ॥ २८ ॥ तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते—

सू० यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-  
समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

भा० यथाक्रममेतेषामनुष्ठानं \* स्वरूपं च वक्ष्यामः ॥ २९ ॥

टी० मांसादिकायाङ्गानामपि परस्परविधार्यविधारकत्वम् । एवं महाभूतानि = पृथिव्यादीनि, मनुष्यवरुणसूर्यगन्धर्वहशशिलोकनिवासिनां शरीराणां तानि च परस्परम्—पृथिव्यां हि गन्धरसरूपस्पर्शशब्दगुणायां पञ्च महाभूतानि परस्परं विधार्यविधारकभावेनाऽवस्थितानि, अप्सु चत्वारि, तेजसि त्रीणि, द्वे च मातरिश्चनीतिः । तैर्यग्यौनमानुषदैवादीनि च विधार्यविधारकभावेनाऽवस्थितानि । नन्वाधाराऽऽधेयभावरहितानां कुतस्तत्त्व<sup>(१)</sup>मित्यत आह “परस्परार्थत्वाद्” इति । मनुष्यशरीरं हि पशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरोपयोगेन ध्रियते । एवं व्याघ्रादिशरीरमपि मनुष्यपशुमृगादिशरीरोपयोगेन । एवं पशुपक्षिमृगादिशरीरमपि स्थावराद्युपयोगेन । एवं दैवशरीरमपि मनुष्योपहृतच्छागमृगकपिञ्जलमांसाज्यपुरोडाशसहकारशाखाप्रस्तरादिभिरिज्यमानं तदुपयोगेन । एवं देवताऽपि वरदानवृष्ट्यादिभिर्मनुष्यादीनि धारयतीत्यस्ति परस्पराऽर्थत्वमित्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥ २८ ॥ सम्प्रति न्यूनाऽधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदार्थं योगाङ्गान्यवधारयति “तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते” इति । “यमेत्यादि अङ्गानीत्यन्तं” सूत्रम् ॥ २९ ॥ अभ्यासवैराग्यश्रद्धावीर्यादयोऽपि <sup>(२)</sup>यथायोगमेतेष्वेव स्वरूपतो नान्तरीयकतया चान्तर्भावयितव्याः ॥ २९ ॥

\* अनुष्ठानमित्यत्र कर्तव्यमिति शेषः । स्वरूपं चेत्युत्तरसूत्राऽवतरणमिति भिक्षुः ।

टि० (१) तत्त्वम् = परस्परविधार्यविधारकत्वम् ।      १ वायौ ।

(२) ननु कथमष्टाव्यवधारणं, प्रथमपादोक्तानामभ्यासादीनाममङ्गत्वादित्यत आह । “अभ्यासवैराग्य” इत्यादि । नन्वेतत्पादादावुक्तानान्तर्भावक्रियायोगानां नियमेषु स्वरूपतोऽन्तर्भावेऽप्यभ्यासादीनां कथं स्वरूपतोऽन्तर्भाव इत्यत आह “नान्तरीयकतया च” इति ।



तत्र—

सू० अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः॥३०॥  
 भा० तत्राऽहिंसा=सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः, उत्तरे च  
 यमनियमास्तन्मूला ११स्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्य-  
 न्ते, \*तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते । तथा चोक्तं “स खल्वयं  
 ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा  
 प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपास  
 अहिंसां करोति” सत्यं=यथार्थे वाङ्मनसे, यथा दृष्टं यथाऽनुमितं

टी० यमनियमाद्यङ्गान्युद्दिश्य यमनिर्देशकं सूत्रमवतारयति—“तत्र” इति ।

“अहिंसेत्यादि यमा” इत्यन्तं सूत्रम् ॥३०॥ योगाङ्गमाहिंसामाह “सर्वथा”  
 इति । ईदृशीमाहिंसां स्तौति—“उत्तरे च” इति । तन्मूला—इति=  
 अहिंसामपरिपाल्य कृता अप्यकृतकल्पाः, निष्फलत्वादित्यर्थः । तत्सिद्धि-  
 परतयैवाऽनुष्ठानम् । अहिंसा चेन्मूलमुत्तरेषां कथं तेऽहिंसासिद्धिपरा इत्यत  
 आह “तत्प्रतिपादनाय” इति । सिद्धिः=ज्ञानोत्पत्तिरित्यर्थः ।

स्यादेतद्, अहिंसाज्ञानार्थी यद्युत्तरे, कृतं तैरन्यत एव तदवगमादित्यत  
 आह “तदवदात” इति । यद्युत्तरे नाऽनुष्ठीयेरन् अहिंसा मलिना स्यादस-  
 त्यादिभिरित्यर्थः । अत्रैवाऽऽगमिकानां सम्मतिमाह “तथा चोक्तम्” इति ।  
 सुगमम् । सत्यलक्षणमाह “यथाऽर्थे वाङ्मनसे” इति । यथा-शब्दं साकाङ्क्षं

टि० अन्तरा=विना भवा अन्तरीयाः । गहादित्वाच्छः । ततः स्वार्थे के, नञ्समासे च, नान्तरी-  
 यकाः । तेषां भावस्तत्ता । तया अन्यनिष्पादकयत्नाऽनुनिष्पादनीयतयेत्यर्थः । यमाद्यनुष्ठाने  
 सत्यम्यासादीनामवश्यम्भाविताऽभ्यासादीनां नान्तरीयकत्वमिति भावः । यद्वा वैराग्यस्य  
 सन्तोषेऽन्तर्भावः । श्रद्धावीर्याभ्यां विना तपःस्वाध्यायाऽनुष्ठानाऽसम्भवात्तयोस्तयोस्तन्तर्भा-  
 वोऽभ्यासस्य च समाधायन्तर्भावः, इत्येव सन्तर्भाववितव्याः । एवं मैत्र्यादीनामपि धार-  
 णास्वन्तर्भावो बोध्यः । अभ्यासवैराग्यादिभिर्विना धारणाध्यानसमाधीनामनिष्पत्तेरभ्यासादी-  
 नापक्षोपादेव लाभ इत्यपि प्राहुः ।

(१) तन्मूलाः=मा अहिंसेव मूलं=प्रयोजनं येषां यमादीनां ते तन्मूला इत्यर्थः ।  
 \* तदवदातरूपकरणाय=हिंसा निर्मलाकरणायेत्यर्थः ।



भा० यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति । परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता  
 सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या<sup>(१)</sup> वा भवेदिति ।  
 एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्य-  
 मिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत् ।  
 तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात् । तस्मात्प-

टी० पूरयति-“यथा दृष्टम्” इति । प्रतिसंबन्धिनं तथा-शब्दं प्रतिक्षिपति-“त-  
 था वाङ्मनश्च” इति । विवक्षायां कर्त्तव्यायाम्<sup>(२)</sup> इति । अन्यथा तु न सत्यम् ।  
 एतत्सोपपत्तिकमाह “परत्र” इति । परत्र पुरुषे स्वबोधसङ्क्रान्तये = स्वबो-  
 धसदृशबोधजननाय वाग् उक्ता = उच्चारिता । अतः सा यदि न वञ्चिता = व-  
 ञ्चिका । यथा द्रोणाचार्येण स्वतनयाऽश्वत्थाममरणम्, आयुष्मन् सत्यधना-  
 ऽश्वत्थामा हत इति पृष्ठस्य युधिष्ठिरस्य प्रतिवचनं हस्तिनमभिसन्धाय, सत्यं  
 हतोऽश्वत्थामेति । तदिदमुक्तस्योत्तरं न युधिष्ठिरस्य स्वबोधं सङ्क्रामयति<sup>(३)</sup>,  
 स्वबोधो ह्यस्य हस्तिहननविषय इन्द्रजन्मा, न चासौ सङ्क्रातः<sup>(४)</sup>, किन्त्वन्य  
 एव तस्य तनयवधबोधो जात इति । भ्रान्ता वा = भ्रान्तिजा । भ्रान्तिश्च वि-  
 वक्षासमये वा, ज्ञेयार्थाऽवधारणसमये वा, प्रतिपत्त्या वन्ध्या प्रतिपत्तिवन्ध्या,  
 यथाऽऽर्यान् प्रति म्लेच्छभाषा प्रतिपत्तिवन्ध्या, निष्प्रयोजना वा स्यादिति-  
 यथाऽनपेक्षिताऽभिधाना वाक् । तत्र हि परत्र स्वबोधस्य सङ्क्रान्तिरप्यऽन-  
 ङ्क्रान्तिरेव, निष्प्रयोजनत्वादिति । एवंलक्षणमपि सत्यं पराऽपकारफलं

टि० (१) प्रतिपत्तिवन्ध्या = परत्र ज्ञानजननाक्षमेत्यर्थः । अत्र भवेदित्यस्याग्रे, तदा सत्यमिति-  
 पूरयित्वा या इति चाध्याहृत्य परत्र स्वसदृशज्ञानजननाय या वागुच्चारिता सा यदि  
 वञ्चितादिविशेषणविशिष्टा न भवेत्तदा सत्यमित्येवं व्याख्येयम् । ‘प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यम्’  
 इत्यादिस्मृतिमनुसृत्याऽऽह “एषा” इति । सा एषा वाक् प्रवृत्ता = उच्चारिता सती यदि  
 भूतोपघाताय न भवेदपि तु भूतोपकारमेव कुर्यात्तदा मिथ्याऽपि सत्या ज्ञेयेत्यर्थः । भूताऽप-  
 कारकरन्तु सत्यमपि फलेन मिथ्यातुल्यमित्याह । “यदि च ” इति ।

(२) कस्मिन् समये तथा वाङ्मनश्चाऽपेक्षितमित्याकाङ्क्षां पूरयति “विवक्षायाम्” ।  
 अन्यथा = दृष्टादिविपरीतार्थबोधने तु ।

(३) तदिदमुत्तरं युधिष्ठिरज्ञानसदृशं ज्ञानं द्रोणाचार्ये नोत्पादयतीत्यर्थः । तदेव  
 स्पष्टयति “स्वबोध” इत्यादिना ।

(४) असौ = हस्तिहननविषयो बोधो, द्रोणाचार्यस्य न जात इत्यर्थः ।



भा० रीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् । स्तेयम् = अशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणां, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यम् = गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयणामर्जनरक्षणाक्षय-सङ्गर्हिसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह, इत्येते यमाः ॥ ३० ॥

टी० सत्याऽऽभासं न तु सत्यमित्याह “एषा” इति । तद्यथा, सत्यतपसस्तत्करैः सार्थगमनं पृष्ठस्य सार्थगमनाऽभिधानमिति । अभिधीयमाना = उच्चार्यमाणा । शेषं सुगमम् । अभावस्य भावाऽधीननिरूपणतया स्तेयलक्षणमाह “स्तेय-मशास्त्रपूर्वकम्” इति । विशेषेण सामान्यं लक्ष्यत इत्यर्थः । मानसव्यापारपूर्वकत्वाद्वाचनिककायिकव्यापारयोः प्राधान्यान्मनोव्यापार उक्तः । ‘अस्पृहारूपम्’ इति । ब्रह्मचर्यस्वरूपमाह “गुप्त” इति । संयतोपस्थोऽपि हि स्त्रीप्रेक्षणतदालापकन्दर्पायतनतदङ्गस्पर्शनसक्तो न ब्रह्मचर्यवानिति तन्निरासायोक्तं-“गुप्तेन्द्रियस्य” इति । इन्द्रियान्तराण्यपि तत्र लोलुपानि रक्षणीयानीति<sup>(१)</sup> अपरिग्रहस्वरूपमाह-“विषयाणाम्” इति । तत्र सङ्गदोष उक्तः ‘भोगाऽभ्यास-मनुविवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्’ इति । हिंसालक्षणश्च दोषः “नाऽनुपहस्य भूतान्युपभोगः सम्भवति” इति । अशास्त्रीयाणामयत्नोपन-तानामपि विषयाणां निन्दितप्रतिग्रहादिरूपार्जनदोषदर्शनात् । शास्त्रीयाणामप्युपार्जितानां च रक्षणादिदोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः ॥ ३० ॥

सामान्यत उक्ता यादृशाः पुनर्योगिनामुपदेयास्तादृशान् वक्तुं सूत्रमवतारयति ।

टि० (१) एतेन गुप्तेन्द्रियस्य = निगृहीताऽन्येन्द्रियस्य पुरुषस्य य उपस्थेन्द्रियस्य संयमः स ब्रह्मचर्यमिति भाष्यार्थ इति ध्वनितम् । यत्तु-गुप्तेन्द्रियस्येत्यस्य विवरणमुपस्थस्येति विज्ञान-भिक्षुणोक्तम् । तन्मन्दम् । अष्टविधब्रह्मचर्यलाभाय वाचस्पतिमिश्रोक्तस्यैव न्याय्यत्वात् । तथा-चाऽऽह दक्षः “स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया-निर्वृतिरेव च । एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाऽष्ट-लक्षणम्” इति । यत्तु तेनोक्तं यम इत्येव वक्तव्ये समित्युपसर्गेण तरेन्द्रि-साहित्योपस्थ-निरोधो लभ्यत इति । तत्तु पिण्डमुत्सृज्य करं केदति न्यायविषयतां नाऽतिक्रामति । किञ्चोपसर्गं विना निरोधार्थलाभादश्रद्धेयमेतत् ।



ते तु—

सू० जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा  
महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

भा० तत्राऽहिंसा जात्यवच्छिन्ना-मत्स्यबन्धकस्य मत्स्येष्वेव ना-  
ऽन्यत्र हिंसा, सैव देशाऽवच्छिन्ना = न तीर्थे हनिष्यामीति । सैव  
कालाऽवच्छिन्ना = न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति ।  
सैव त्रिभिरुपरतस्य \*समयाऽवच्छिन्ना = देवब्राह्मणार्थे, नाऽन्यथा  
हनिष्यामीति । यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा, नाऽन्य-  
त्रेति । एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्व-  
थैव परिपालनीयाः । सर्वभूमिषु<sup>(१)</sup> = सर्वविषयेषु, सर्वथैवाऽवि-  
दितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यते ॥ ३१ ॥

सू० शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि  
नियमाः ॥ ३२ ॥

टी० “ते तु” । “जातीत्यादि, महाव्रतान्तं” सूत्रम् ॥ ३१ ॥ सर्वासु जात्या-  
दिलक्षणासु भूमिषु विदिताः सार्वभौमाः । अहिंसादय इति । अन्यत्राऽप्य-  
वच्छेद ऊहनीयः<sup>(२)</sup> । सुगमं भाष्यम् ॥ ३१ ॥

टी० ( १ ) सर्वभूमिष्वित्यस्य व्याख्यानं सर्वविषयेषु इति । विषया अत्र पूर्वोक्ता जात्या-  
दयो बोध्याः । तदेव स्पष्टयति “सर्वथैव” इति ।

( २ ) अहिंसाया इवाऽन्येषां सत्यादीनां यमानामप्यवच्छेद ऊहनीय इत्यर्थः । तद् यथा  
“प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च । गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद्विवाहकरणेषु च” इत्या-  
दिस्मृतेः प्राणत्राणाद्यर्थेऽनृतं वदिष्यामि नान्यथेति सत्यस्य समयाऽवच्छिन्नत्वं बोध्यम् । एवं  
दुर्भिक्षादृते स्तेयं न करिष्ये, एवं “भिक्षिते पारदार्यं च न तद् धर्मस्य दूषकम्” इत्युक्ते-  
भिर्भिक्षतादृते परदारोपभोगं न करिष्ये, एवं वृद्धमात्रादिप्राणत्राणादृते न प्रतिग्रहीष्य इत्येवं  
सर्वत्राऽवच्छेदो बोध्यः । \* जात्याद्यवच्छिन्नाहिंसाशून्यस्य ।



भा० तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याऽभ्यवहरणादि च बाह्य-  
म् । आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम् । सन्तोषः = सन्निहि-  
तसाधनादधिकस्याऽनुपादित्सा । तपः = द्वन्द्वसहनं, द्वन्द्वश्च =  
जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे, स्थानाऽऽसने काष्ठमौनाऽऽकार-  
मौने च, व्रतानि चैव यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि ।  
स्वाध्यायः = मोक्षशास्त्राणामध्ययनं, प्रणवजपो वा । ईश्वर-  
प्राणिधानं = तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मर्पणं, “शय्यासनस्थोऽथ  
पथिव्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः । संसारबीजक्षय-  
मीक्षमाणः”<sup>१)</sup> स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी”<sup>२)</sup> । यत्रेदमुक्तं “ततः  
प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च” इति ॥ ३२ ॥

टी० शौचादिनियममाचष्टे । शौचेत्यादि नियमा इत्यन्तं सूत्रम् ॥ व्याचष्टे “शौ-  
चम्” इति आदि-शब्देन गोमयादयो गृह्यन्ते । गोमूत्रयावकादि मेध्यं, तस्याऽ-  
भ्यवहरणादि । आदि-शब्दाद् ग्रासपरिमाणसङ्ख्यानियमादयो \* ग्राह्याः । मे-  
ध्याऽभ्यवहरणादिजनितमिति वक्तव्ये, मेध्याऽभ्यवहरणादि चेत्युक्तम् । कार्यं  
कारणोपचारात् । चित्तमलाः = मदमानाऽसूयादयः, तदपनयो मनः शौचम् । प्रा-  
णयात्रामात्रहेतोरभ्यधिकस्याऽनुपादित्सा सन्तोषः, प्रागेव स्वीकरणपरित्या-  
गादिति विशेषः । काष्ठमौनम् = इङ्गितेनाऽपि स्वाऽभिप्रायाऽप्रकाशनम्, अ-  
बचनमात्रम् आकारमौनम् । “परिक्षीणवितर्कजाल” इति । वितर्को वक्ष्यमा-  
णः, संशयविपर्ययौ चेति । एतावता शुद्धाऽभिसन्धिरुक्तः । एते च यमनिय-  
मा विष्णुपुराण उक्ता “ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्याऽस्तेयाऽपरिग्रहान् । सेवेतं  
योगी निष्कामो योग्यतां मनसो नयन् । स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि निय-  
ताऽऽत्मवान् । कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः । एते यमास्सनि-  
यमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्त्तताः । विशिष्टफलदाः काम्या निष्कामानां विमु-  
क्तिदा” इति ॥ ३२ ॥ ‘श्रेयांसि बहुविघ्नानि’ इत्येषामपवादसम्भवे

टि०. (१) समाधिबलेन संसारबीजानां रागादिसंस्काराणां क्षयमनुदिनमुपलभमानः ।

\* जीवन्मुक्तिसुखाऽनुभविता ।

\* कुक्कुटाण्डप्रमाणाऽष्टग्रासादिनियमः ।



भा० एतेषां यमनियमानाम्<sup>(१)</sup>

सू० वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

भा० यदाऽस्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन्—हनिष्या-  
म्यहमपकारिणाम्, अनृतमपि वक्ष्यामि, द्रव्यमप्यस्य स्वीकरि-  
ष्यामि, दारेषु चाऽस्य व्यवर्था<sup>(२)</sup> भविष्यामि, परिग्रहेषु चाऽस्य  
स्वामी भविष्यामीति । एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन  
बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान् भावयेत्—गोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्य-  
मानेन मया शरणामुपागतः सर्वभूताऽभयप्रदानेन योगधर्मः, स  
खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाऽऽदानस्तुल्यः श्ववृत्तेन<sup>(३)</sup>  
इति भावयेत् । यथा श्वा वान्ताऽवलेही तथा त्यक्तस्य\*पुनरा-  
ददान इति । एवमादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम् <sup>(४)</sup> ॥ ३३ ॥

टी० तत्प्रतीकारोपदेशपरं सूत्रमवतारयति—“एतेषां यमनियमानाम्” इति ।

सूत्रं—“वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्” ॥ ३३ ॥ वितर्काणां भाष्ये नास्ति  
तिरोहितमिव किञ्चन ॥ ३३ ॥

तत्र वितर्काणां स्वरूपप्रकारकारणधर्मफलभेदान्<sup>(५)</sup> प्रतिपक्षभावनाविषयान्

टि० (१) इदं सूत्रेणाऽन्वेति । तथा च—अहिंसादिभ्यो विपरीतास्तर्का = विचारा, वित-  
र्काः—हनिष्याम्यहमपकारिणामित्याकारकां हननादिव्यवसाया इति यावत् । तैर्वितर्कै-  
रेतेषामहिंसादीनां यमादीनां बाधने प्राप्ते सति दुःखादिफलकत्वेन हेया वितर्का इत्येवं प्रति-  
पक्षभावनं कुर्वादित्यर्थो बोध्यः । सापेक्षत्वेऽप्यार्षत्वादत्र समासः ।

(२) व्यवर्था = ग्राम्यधर्माऽऽचरणशील इत्यर्थः ।

(३) कुक्कुगचरणेन तुल्य इत्यर्थः । तदेवाह “यथा” इति वान्ताऽवलेही = वान्तभोजी ।

(४) सूत्रान्तरेष्वपि = नियमासनादिप्रतिपादकाऽग्रिमसूत्रेष्वपि । एवमादि = त्यक्त्वा-  
म्यहं शौचमित्येवं वितर्कबाधनम् । अज्ञानादिफलकत्वेन हेया अशौचादय इत्येवं तत्प्रतिपक्षभावनं  
च योजनीयमित्यर्थः । \* त्यक्तस्य = त्यक्तम्, आददानः = गृह्णानः ।

(५) हिंसादय इत्यनेन वितर्काणां स्वरूपमुक्तं, कृतैत्यादिना प्रकार उक्तः, लोभे-  
त्यादिना कारणमुक्तम्, मृदु इत्यादिना धर्म उक्तः, दुःखेत्यादिना फलमुक्तमिति भावः ।



सू० वितर्का हिंसादयः कृतकारिताऽनुमोदिता लोभ-  
क्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याऽधिमात्रा दुःखाऽज्ञानाऽनन्त-  
फला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

भा० तत्र हिंसा तावत् कृता कारिताऽनुमोदितेति<sup>(१)</sup> त्रिधा एकैका  
पुनस्त्रिधा—लोभेन=मांसचर्मार्थेन, क्रोधेन=अपकृतमनेनेनेति,  
मोहेन=धर्मो मे भविष्यतीति। लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधाः<sup>(२)</sup>  
मृदुमध्याऽधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिभेदा भवन्ति हिंसायाः।  
मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रेधा-मृदुमृदुः, मध्यमृदुः, तीव्रमृदुरिति।  
तथा मृदुमध्यः, मध्यमध्यः, तीव्रमध्य इति। तथा मृदुतीव्रः मध्य-  
तीव्रः, अधिमात्रतीव्र इति। \* एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति।  
सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसङ्ख्येया, प्राणभृद्भेदस्या-

टी० प्रतिपक्षभावनास्वरूपाऽभिधित्सया सूत्रेणाह—“ वितर्का इत्यादिना,  
प्रतिपक्षभावनम्” इत्यन्तेन ॥ ३४ ॥ ॥ व्याचष्टे—“तत्र हिंसा”  
इति। प्राणभृद्भेदस्याऽपरिसङ्ख्येयत्वान्नियमविकल्पसमुच्चयाः सम्भ-  
विनो हिंसादिषु। तत्राऽधर्मतः<sup>(३)</sup> तमः समुद्रेके सति चतुर्विधविपर्यय-  
लक्षणस्याऽज्ञानस्याऽप्युदय इत्यऽज्ञानफलत्वमप्येतेषामिति। दुःखा-  
ऽज्ञानाऽनन्तफलत्वमेव हि प्रतिपक्षभावनं, तद्वशादेभ्यो निवृत्तिरिति। तदेव

टि० (१) कृता = स्वयं निष्पादिता, कारिता = कुर्वित्युक्ता, अनुमोदिता = इतरैरनु-  
ष्ठीयमानायां हिंसायां साधु साध्वित्येवमङ्गीकृता।

(२) यद्यपि सूत्रे मृदुमध्याऽधिमात्रा इति हिंसादिविशेषणं प्रतीयते, तथाऽपि लोभा-  
देर्मृदुत्वादिनैव हिंसादेर्मृदुत्वमत्र विवक्षितमित्याशयेन लोभादिविशेषणतया मृदुत्वादीन् व्याचष्टे  
“लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधा” इति। \* ‘एवमेवम्’ इति पाठान्तरमपि न मन उद्वेजयति।

(३) ननु हिंसादीनामज्ञानप्रभवत्वेऽपि कथमज्ञानफलत्वं तत्राऽऽह—“तत्राऽधर्मतः” इति॥



भा० ऽपरिसङ्ख्येयत्वादिति<sup>(१)</sup>। एवमनृतादिष्वपियोज्यम् । तेखल्व-  
मीवितर्का दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनं=दुःखमज्ञा-  
नञ्चाऽनन्तफलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम् । तथाच-हिंसकः प्रथ-  
मं तावद् वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति, ततः शस्त्रादिनिपातेन दुःख-  
यति, ततो जीवितादपि मोचयति । ततो<sup>(२)</sup> वीर्याक्षेपादस्य चेतना-  
ऽचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति, दुःखोत्पादान्नरकतिर्य्यक्प्रे-  
तादिषु दुःखमनुभवति, जीवितव्यपरोपणात् प्रतिक्षणं च जीवि-  
ताऽस्यैव वर्त्तमानो<sup>(३)</sup> मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतवि-  
पाकवेदनीयत्वात्कथञ्चिदेवोच्छ्वसिति । यदि च कथञ्चित्पुण्या-  
दपगता<sup>(४)</sup> हिंसा भवेत्तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति । एवमनृता-  
दिष्वपि योज्यं यथासम्भवम् । एवं वितर्काणां चामुमेवाऽनुगतं  
विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रशिदधीत<sup>(५)</sup> । प्रतिपक्ष-  
भावनाद् हेतोर्हेया<sup>(६)</sup> वितर्काः ॥ ३४ ॥

टी० प्रतिपक्षभावनं स्फोरयति । 'वध्यस्य' इति । वध्यस्य=पश्वादेः, वीर्यं=  
प्रयत्नं कायव्यारहेतुं, प्रथममाक्षिपति यूपनियोजनेन । तेन हि पशोरप्रा-  
गल्भ्यं भवति । शेषमतिस्फुटम् ॥ ३४ ॥

टि० (१) मत्स्येष्वेव हिंसेत्यादिनियमः । एकस्मिन् दिवसे स्थावरस्य जङ्गमस्य वा अन्यतरस्यैव  
हिंसा, नोभयोरित्यादिविकल्पः । स्थावरजङ्गमयोरुभयोरेवाऽव्यवस्थया हिंसेत्यादिः समुच्चय  
इत्यर्थः । हिंसकानां हिंस्यानां चाऽसङ्ख्येयतयाऽनन्तप्रकारा हिंसेति भावः ।

(२) वीर्याक्षेपशस्त्रनिपातमारणानां युथाक्रमं दुःखफलकत्वमाह—ततो वीर्याक्षेपादिति ।  
पशोर्वीर्याक्षेपाद्, अस्य=हन्तुरपि चेतनाऽचेतनं=स्त्रीपुत्रधनादिकमुपकरणं क्षीणवीर्यं=भोगा-  
ऽक्षमं भवतीत्यर्थः ।

(३) जीवितास्यैव = दुःसाधयोगपीडितत्वेन प्राणान्तसन्निहिताऽवस्थायां वर्त्तमान इत्यर्थः ।  
जीविताऽस्ययमापन्न इति विज्ञानभिक्षुसंमतपाठेऽप्ययमेवार्थः । परस्य = पश्वादेर्जीवितव्यपरोप-  
णात् = प्राणाव्येयोजनात्तत्कर्त्ताऽपि प्रतिक्षणं जीविताऽस्यैव = रोगादिना मरणाऽवस्थामा-  
पन्नो मरणमिच्छन्नपि कथञ्चिदेव जीवतीति समुदायार्थः । सद्योमरणाऽभावे हेतुमाह "दुःखवि-  
पाक" इति । दुःखरूपस्य फलस्य नियतजन्मवेदनीयत्वादिति भावः ।

(४) पुण्यावापगतेति पाठे तु यागाङ्गभूतत्वेन स्वतन्त्रफलदानाऽसमर्था । तत्र = स्वर्गे ।

(५) एवं = पूर्वोपदर्शितरीत्या वितर्काणाममुं = दुःखाद्यनिष्टं फलमनुगतं = निश्चितं चि-  
न्तयन् सन् न हिंसादिषु मनः कुर्यादित्यर्थः ।

(६) हातुमर्हा वितर्का यदा प्रतिपक्षभावनातोऽप्रसवधर्माणः स्युरित्येवमग्रिमभाष्यान्वयात्त्येके ।



भा०यदाऽस्य<sup>(१)</sup> स्युरप्रसवधर्माणास्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः  
सिद्धिसूचकं भवति । तद्यथा—

सू० अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

भा० सर्वप्राणिनां भवति ॥ ३५ ॥

सू० सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

भा० धार्मिको भूया इति<sup>(२)</sup> भवति धार्मिकः, स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं  
प्राप्नोति । अमोघाऽस्य वाग् भवति ॥ ३६ ॥

सू० अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

भा० सर्वदिक्स्थान्यस्योपनिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥

सू० ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

टी० उक्ता यमनियमास्तदपवादकानां च वितर्काणां प्रतिपक्षभावनातो हानि-  
रुक्ता, सम्प्रत्यप्रत्यूहं यमनियमाऽभ्यासात्तत्तत्सिद्धिपरिज्ञानसूचकानि  
चिन्हान्युपन्यस्यति । यत्परिज्ञानाद् योगी तत्र तत्र कृतकृत्यः कर्त्तव्येषु  
प्रवर्त्तते इत्याह “यदाऽस्य” इति ।

सू० “अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥ शाश्वतिकविरोधा  
अपि अश्वमहिषमूषकमार्जाराहिनकुलादयोऽपि भगवतः प्रतिष्ठिताऽहिंसस्य  
सन्निधानात्तच्चित्ताऽनुकारिणो वैरं परित्यजन्तीति ॥ ३५ ॥

सू० “सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्” ॥ ३६ ॥ क्रियासाध्यौ धर्माऽ-  
धर्मौ क्रिया, तत्फलं च स्वर्गनरकादि, ते एवाऽऽश्रयतीत्याश्रयस्तस्य भाव-  
स्तत्त्वम् । तदस्य भगवतो वाचो भवतीति । क्रियाऽऽश्रयत्वमाह “धार्मिक”  
इति । फलाश्रयत्वमाह “स्वर्गम्” इति । अमोघा = अप्रतिहता ॥ ३६ ॥

सू० “अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्” । सुबोधम् ॥ ३७ ॥

सू० “ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः” ॥ ३८ ॥

टि० (१) वितर्का इति शेषः । पूर्वोक्तप्रकारेण यदा वितर्का दग्धव्राजकल्पाः स्युरित्यर्थः ।  
(२) इति = इत्येवं यं पुरुषमाह सत्यप्रतिष्ठः स पापोऽपि धार्मिको भवतीत्यर्थः ।



भा० यस्य लाभादप्रतिघान् गुणानुत्कर्षयति । सिद्धश्च विनयेषु  
ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ॥ ३८ ॥

सू० अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

भा० अस्य भवति<sup>[१]</sup> । कोऽहमासं, कथमहमासं किं स्विदिदं,  
कथं स्विदिदं, के वा भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इति ।  
एवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपाव-  
र्त्तते । एता यमस्थैर्ये सिद्धयः ॥ ३९ ॥

टी० वीर्य्य = सामर्थ्य, यस्य लाभादप्रतिघान् = अप्रतीघातान्, गुणा-  
न् = अणिमादीन्, उत्कर्षयति = उपचिनोति । सिद्धश्च = तारादिभि-  
रष्टाभिः सिद्धिभिरूहाद्यपरनामभिरुपेतो<sup>२]</sup>, विनयेषु = शिष्येषु, ज्ञानं =  
योगतदङ्गविषयमाधातुं समर्थो भवतीति ॥ ३८ ॥ “अपरिग्रहस्थैर्ये जन्म-  
कथन्तासम्बोधः” ॥ ३९ ॥ निकायविशिष्टैर्देहेन्द्रियादिभिरभिसम्बन्धोजन्म,  
तस्य कथन्ता = किम्प्रकारता, तस्याः सम्बोधः = साक्षात्कारः, सप्रका-  
रातीन्द्रियशान्तोदिताढ्यपदेश्यजन्मपरिज्ञानमितियावत् अतीतं जिज्ञासते  
“कोऽहमासम्” इति । तस्यैव प्रकारभेदमुत्पत्तौ स्थितौ च जिज्ञासते “कथ-  
महमासम्” इति । वर्त्तमानस्य जन्मनः स्वरूपं जिज्ञासते “किंस्वद्” इति ।  
शरीरं भौतिकं किं भूतानां समूहमात्रम्, आहो स्विच्छेभ्योऽन्यदिति ।  
अत्राऽपि कथं स्विदित्यनुषञ्जनीयम् । क्वच्चित्तु पठ्यत एव । ‘अनागतं  
जिज्ञासते—“के वा भविष्याम” इति । अत्राऽपि कथं स्विदित्यनुषङ्गः<sup>[३]</sup> ।  
“एवमस्य” इति । पूर्वान्तः = अतीतः कालः, परान्तः = भविष्यन्,  
मध्यः = वर्त्तमानः, तेष्व्वात्मनो भावः = शरीरादिसम्बन्धः, तस्मिज्जि-  
ज्ञासा ततश्च ज्ञानम् । यो हि यादिच्छति स तत्करोतीति न्यायात् ॥ ३९ ॥

- टि० [१] अस्य भवति-इत्यस्य सूत्रेण सहान्वयो बोध्यः । \* सिद्धो भूत्वा ।  
[२] “ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः । दानं च सिद्धयोऽष्टौ”  
इति साङ्ख्य [५१] कारिकोक्तोहाद्यपरनामभिः, तार-सुतार-तारतार-रम्यक-सदामुदित-प्रमोद-  
प्रमुदित-प्रमोदमानारुयाभिरष्टाभिस्सिद्धिभिरुपेत इत्यर्थः । एतासां लक्षणान्धारुयानन्तु “ऊहः  
शब्दोऽध्ययनम्” ५१ । इति कारिकातत्त्वकौमुद्यां स्पष्टमित्यलं विस्तरेण । प्रतिघातरहितान् ।  
[३] कथं वा ‘भविष्याम’ इति मौलिकपाठाऽभावे कथं स्विदित्यनुषञ्जनीयम् इत्यर्थः ।  
तत्सत्त्वे तु सिद्धमेव प्रयोजनामिति भावः ।



भा० नियमेषु वक्ष्यामः—

सू० शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

भा० स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायाऽवद्यदर्शी<sup>[१]</sup> काया-  
ऽनाभिष्वङ्गी यतिर्भवति। किञ्च परैरसंसर्गः = कायस्वभावबलाकी-  
स्वमापि कायं जिहासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धि-  
मपश्यन् कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः <sup>[२]</sup> संसृज्येत ॥ ४० ॥

किञ्च—

सू० सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन-  
योग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

भा० भवन्तीति वाक्यशेषः । शुचेः सत्त्वशुद्धिः, ततः सौमनस्यं,  
तत एकाग्र्यं, तत इन्द्रियजयः, ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिस-  
त्त्वस्य भवति, इत्येतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति ॥ ४१ ॥

टी० “शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः” ॥ अनेन बाह्यशौचसिद्धिसूचकं  
कथितम् ॥ ४० ॥

आन्तरसिद्धिसचकमाह—“किञ्च” इति । “सत्त्वशुद्धिसौमनस्यै-  
काग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च” ॥ चित्तमलानामाक्षालने चित्तस-  
त्त्वममलं प्रादुर्भवति, वैमल्याच्च तत्सौमनस्यं = स्वच्छता, स्वच्छे तदे-  
काग्रं, ततो मनस्तन्त्राणामिन्द्रियाणां तज्जयाज्जयः। तत आत्मदर्शनयोग्यत्वं  
बुद्धिसत्त्वस्य भवतीति ॥ ४१ ॥

टि० (१) कायावद्यदर्शी = “स्थानाद् बीजाद्” इत्युक्तप्रकारेण शरीरदोषदर्शनशील इत्यर्थः ।  
कायाऽनाभिष्वङ्गी = शरीराऽध्यासराहितः ।

(२) अप्रयतैः = मलिनैः, शबनुहैरिति वा ।



सू० सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

भा० तथाचोक्तं “यच्च कामसुखं \* लोके यच्च दिव्यं महत्  
सुखम् । तज्ज्ञात्तयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम्” इति ॥ ४२ ॥

सू० कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

भा० निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम् । तदावरण-  
मलाऽपगमात् कायसिद्धिः = अणिमाद्या, तथेन्द्रियसिद्धिः =  
दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति ॥ ४३ ॥

सू० स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥† ४४ ॥

भा० देवा, ऋषयः, सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति,  
कार्ये चाऽस्य वर्तन्त इति ॥ ४४ ॥

सू० समाधिसिद्धिरीश्वरप्राणिधानात् ॥ ४५ ॥

टी० “सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः” ॥ ४२ ॥ न विद्यते ऽस्मादुत्तम इत्यनुत्तमः  
यथाचोक्तं ययातिना पूरौ यौवनमर्पयता—“या दुस्त्यजा दुर्मतिमिर्या न जी-  
र्यति जीर्यताम्”<sup>(१)</sup> । तां तृष्णां संत्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाऽभिपूर्यते” ।  
तदेतद् दर्शयति “यच्च कामसुखम्” इत्यादिना ॥ ४२ ॥

तपःसिद्धिसूचकमाह—“कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः” ॥ ४३ ॥  
अशुद्धिलक्षणमावरणं-तामसमधर्मादि । अणिमाद्या = महिमा, लघिमा,  
प्राप्तिश्च । सुगमम् ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायासिद्धिसूचकमाह—“स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः” । सुगम-  
म् ॥ ४४ ॥ “समाधिसिद्धिरीश्वरप्राणिधानात्” ॥ ४५ ॥ न च वाच्यमीश्वर-  
प्राणिधानादेव चेत्सम्प्रज्ञातस्य समाधेरङ्गिनः सिद्धिः कृतं सप्तभिरङ्गैरिति ।

टि० (१) जीर्यतां वाङ्मनाऽऽवस्थामावज्ञानमित्यर्थः । जीर्यतीति पाठे तु, पुरुषे जीर्य-  
त्यापि या न जीर्यतीत्येवं व्याख्येयम् ।

\* कामसुखम् = ऐहिकविषयजनितसुखं, दिव्यं = स्वर्गभवम् । † संप्रयोगः = दर्शनम् ।



भा० ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः । यथा \*सर्वमीप्सित-  
मवितथं जानाति, देशान्तरे, देहान्तरे, कालान्तरे च । ततोऽस्य  
प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥ ४५ ॥

टी० ईश्वरप्रणिधानं<sup>(१)</sup> सिद्धौ दृष्टाऽदृष्टाऽवान्तरव्यापारेण तेषामुपयोगार्त्तं, संप्र-  
ज्ञातसिद्धौ च, संयोगपृथक्त्वेन दध्न इव क्रत्वर्थता पुरुषार्थता च । नचैव-  
मनन्तरङ्गता धारणाध्यानसमाधीनाम् । सम्प्रज्ञातसिद्धौ सम्प्रज्ञातसमान-  
गोचरतयाऽङ्गान्तरम्योऽतद्गोचरेभ्योऽस्याऽन्तरङ्गत्वप्रतीतेः । ईश्वरप्रणि-  
धानमपि हीश्वरगोचरं, न सम्प्रज्ञेयगोचरमिति बहिरङ्गमिति सर्वमवदातम् ।  
प्रजानातीति प्रज्ञापदव्युत्पत्तिदर्शिता ॥ ४५ ॥

टि० (१) न च वाच्यमित्यत्र हेतुमाह “ईश्वरप्रणिधानं” इति । ईश्वरप्रणिधानसिद्धौ संप्र-  
ज्ञातसिद्धौ चैतरेषामङ्गानामुपयोगान्न वैयर्थ्यं सप्तानामङ्गानामिति भावः । उपयोगे द्वारमाह  
“दृष्टाऽदृष्टा” इति । आसनादीनां षणां दृष्टद्वाराभ्यन्तरोपयोगः । यमादीनान्त्वशुद्ध्यादिक्षयरूपा-  
ऽदृष्टद्वारेत्यर्थः । एकस्याभयार्थत्वे जमिर्नायं निदर्शनमाह “संयोगपृथक्त्वेन” इति । यथा ‘सं-  
योगस्य’—विनियोजकवाक्यस्य ‘पृथक्त्वेन’—भिन्नत्वेन दध्नः क्रत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वं च तद्वद-  
त्राऽपि सूत्रकारांक्तिबलात् सप्तानामङ्गानामेश्वरप्रणिधानसिद्धयर्थत्वं संप्रज्ञातसिद्धयर्थत्वं चा-  
ऽभ्युपेयमित्यर्थः । संयोगपृथक्त्वन्यायश्च पूर्वतन्त्रे स्पष्टः । तद् यथा अग्निहोत्रे श्रूयते “दध्ना  
जुहोति” इति । पुनश्चाऽऽस्मायेते “दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयाद्” इति । तत्र संशयः, किं वा-  
स्यार्थमेव दधि नित्येऽपि स्याद्, उत नेति । तत्र फलार्थत्वेनाऽनित्यसंयोगस्य दध्नो नित्यप्र-  
योगाङ्गत्वं न युक्तम् । यत्तु नित्येऽपि दधिश्चरणं तत्काम्यार्थमेव । यद् दध्ना जुहोति तदिन्द्रि-  
यार्थमिति । तस्मान्नित्ये दध्यविधानात्काम्यार्थमेवेति प्राप्ते, राद्धान्तः “एकस्य तूभयत्वे संयो-  
गपृथक्त्वम्” अ० ४—पा० ३—सू० ९—अधि० २— । एकस्य—दध्यादेः ‘उभयत्वे’—  
क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वे ‘संयोगस्य’—क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वबोधकाविनियोजकवाक्यस्य, ‘पृथक्त्वम्’—  
भिन्नत्वं, नियामकमिति शेष इत्यन्यत्र विस्तरः । ननु सम्प्रज्ञातस्येश्वरप्रणिधानऽन्तरमाधित्वे  
यदनन्तरं यद् भवति तत्तस्याऽन्तरङ्गमिति नियमादेश्वरप्रणिधानं सम्प्रज्ञातस्याऽन्तरङ्गसाधनं  
स्याद् । एवं च वक्ष्यमाणं धारणादीनां त्रयाणामेवाऽन्तरङ्गत्वं व्याहन्त्येतस्याशङ्कं निषेधति  
“नचैवम्” इति । समाधीनामित्यस्याऽऽशङ्क्यमिति शेषो बोध्यः । न च शङ्क्यमि-  
त्यत्र हेतुमाह “सम्प्रज्ञात” इति । सम्प्रज्ञातसिद्धौ अस्य=धारणादित्रयस्याऽङ्गान्तरेभ्यो-  
ऽन्तरङ्गत्वप्रतीतेरित्यन्यः । अत्यन्तरङ्गत्वप्रतीतेरिति पाठे तु धारणादीनामिष्यधाहार्यम् । तत्र  
हेतुमाह “सम्प्रज्ञातसमान” इति । एवं च न पूर्वोक्तमन्तरङ्गत्वमत्राऽऽश्रीयतेऽपि तु साध्य-  
समानगोचरत्वं यस्य तस्याऽन्तरङ्गत्वमिति । ईश्वरप्रणिधानं तु नैवाविधमिति नाऽन्तरङ्गमिषाह  
“ईश्वरप्रणिधानम्” इति ।

\* यथा = समाधिसिद्ध्या ।



भा० उक्ताः सहसिद्धिभिर्यमनियमा, आसनादीनि वक्ष्यामः । तत्र-  
सू० स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

भा० तद्यथा—पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डास-  
नं, सोपाश्रयं, पर्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनम्, उष्ट्रनि-  
षदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, यथा सुखं चेत्येवमादीनि ॥ ४६ ॥

टी० उत्तरसूत्रमवतारयति—“उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमा, आसनादीनि  
वक्ष्याम” इति । तत्र “स्थिरसुखमासनम्” ॥ ४६ ॥ स्थिरं = निश्चलं, यत् सु-  
खं = सुखावहं, तदासनमिति सूत्रार्थः । आस्यतेऽत्र, आस्ते वाऽनेनेत्या-  
सनम् । तस्य प्रभेदानाह “तद्यथा” इति । पद्मासनं प्रसिद्धम्<sup>(१)</sup> । स्थितस्यै-  
करतरः पादो भून्यस्त एकतरश्चाकुञ्चितजानोरुपरिन्यस्त इत्येतद्वीरासनम् ।  
पादतले वृषणसमीपे सम्पुटीकृत्य तस्योपरि पाणिक्छपिकां\* कुर्यात्तद् भ-  
द्रासनम् । सव्यमाकुञ्चितं चरणं दक्षिणजङ्घोर्वन्तरे दक्षिणं चाऽकुञ्चितं वा-  
मजङ्घोर्वन्तरे निक्षिपेदेतत्स्वस्तिकम् । उपविश्य शिलष्टाङ्गुलिकौ शिलष्ट-  
गुल्फौ भूमिशिलष्टजङ्घोरुपादौ प्रसार्य दण्डासनमभ्यसेत् । योगपट्टक<sup>(२)</sup>  
योगात्सोपाश्रयम् । जानुप्रसारितबाह्वोः शयनं पर्यङ्कः । क्रौञ्चनिषदनादीनि  
क्रौचादीनां निषण्णानां संस्थानदर्शनात्प्रत्येतव्यानि । पार्णिपादाग्राभ्यां द्वयो-  
राकुञ्चितयोरन्योन्यसंशीडनं समसंस्थानम्<sup>(३)</sup>, येन संस्थानेनावस्थितस्य  
स्थैर्यसुखं सिद्ध्यति तदासनं स्थिरमुखम् । तत् तत्र<sup>(४)</sup> भगवतः सूत्रकारस्य  
संमतम्, तस्य विवरणं—“यथासुखं च” इति ॥ ४६ ॥

टि० (१) प्रसिद्धं = बहुभिरनुष्ठेयतया प्रसिद्धमित्यर्थः । तल्लक्षणं तु—वामोरुपरि दक्षिणं  
चरणं संस्थाप्य, वामं च चरणं दक्षिणोरुपरि संस्थाप्य, दक्षिणं हस्तं पृष्ठतः कृत्वा वामो-  
रुस्थितदक्षिणचरणाऽङ्गुष्ठं गृहीत्वा, वामकरं पृष्ठतः कृत्वा दक्षिणोरुस्थितवामपादाङ्गुष्ठं च गृ-  
हीत्वा, उरसश्चतुरङ्गुलान्तरे चिबुकं निधाय, नासाग्रं चाऽऽलेक्यता योगिना यत्राऽऽस्यते  
तद् पद्मासनमिति । \* सम्पुटितं पाणिद्वयम् ।

(२) योगपट्टकं = समाधिस्ततो योगिनो बाह्वोरपारविशेषः । काष्ठनिर्मितमुदासीनेषु  
“चौगान” इति नाम्ना प्रसिद्धम् ।

(३) केचित्तु जानोरुपरि हस्तौ कृत्वा कायशिरोग्रीवाणामवक्रभावेनावस्थानं सम-  
संस्थानमित्याहुः ।

(४) तत्र=सर्वेष्वासनेषु, तत्=स्थिरसुखाख्यमासनं, सूत्रकारस्य सम्मतमित्यर्थः ।



सू० प्रयत्नशैथिल्याऽनन्तसमापत्तिभ्याम् ॥४७॥

भा० भवतीति वाक्यशेषः । प्रयत्नोपरमात् सिद्धयत्यासनं, येन नाङ्गमेजयो भवति<sup>(१)</sup> अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्त्तयतीति ॥ ४७ ॥

सू० ततो द्वन्द्वाऽनभिघातः ॥ ४८ ॥

भा० शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाऽभिभूयते ॥ ४८ ॥

सू० तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

टी० आसनस्वरूपमुक्त्वा तत्साधनमाह—“प्रयत्नशैथिल्याऽनन्तसमापत्तिभ्याम्” ॥ ४७ ॥ सांसिद्धिको हि प्रयत्नः शरीरधारको न योगाङ्गस्योपदेष्टव्यासनस्य कारणम्, तस्य तत्कारणत्वं उपदेशवैयर्थ्यात्, स्वरसत् एव तत्सिद्धिः । तस्मादुपदेष्टव्यस्याऽऽसनस्याऽयमसाधको विरोधाच्च स्वाभाविकः प्रयत्नः । तस्य च यादृच्छिकासनहेतुतयासननियमोपहन्तृत्वात् । तस्मादुपदिष्टनियमाऽऽसनमभ्यस्यता स्वाभाविकप्रयत्नशैथिल्यात्मा प्रयत्नस्थेयो, नान्यथोपदिष्टमासनं सिद्धयतीति स्वाभाविकप्रयत्नशैथिल्यमासनसिद्धिहेतुः । अनन्ते वा = नागनायके स्थिरतरफणासहसूविधृतविश्वम्भरामण्डले समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्त्तयतीति ॥ ४७ ॥

आसनविजयसूचकमाह—“ततो द्वन्द्वाऽनभिघातः” । निगदव्याख्यातं भाष्यम् । आसनमप्युक्तं विष्णुपुराणे—“एवं भद्रासनादीनां समास्थाय गुणैर्युतम्” इति ॥ ४८ ॥

आसनाऽनन्तरं तत्पूर्वकतां प्राणायामस्य दर्शयितुं लक्षणमाह—“तस्मिन्नित्यादि, प्राणायाम” इत्यन्तं सूत्रम् ॥ ४९ ॥ रेचकपूरककुम्भकेऽवस्ति श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेद इति प्राणायामसामान्यलक्षणमेतदिति । तथा हि—यत्र बाह्यो वायुराचम्याऽन्तर्धार्यते पूरके तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः, यत्राऽपि कोष्ठयो वायुर्विरेच्य बहिर्धार्यते रेचके तत्राऽस्ति श्वास-  
टी० (१) लौकिकबहुव्यापाराऽनन्तरं चेदासनं कियेत तदाऽङ्गकम्पनादासनस्थैर्यं न भवेदतः प्रयत्नोपरमादासनं साधयेद् येनाऽङ्गकम्पनं न भवेदिति भावः ॥ आसनस्थैर्यं सति



भा० सत्यासनजयै बाह्यस्य वायोराचमनं<sup>[१]</sup> श्वासः, कोष्ठस्य वायोःनिसारणं प्रश्वासः । तयोर्गतिविच्छेदः = उभयाऽभावः प्राणायामः ॥ ४६ ॥ स तु,

सू० बाह्याऽभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥

भा० यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः । तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाऽभावः सकृत्प्रयत्नाद् भवति । यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः सङ्कोचमापद्यते, तथा द्वयोर्युगपद् भवत्यभाव इति । त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टाः = इयानस्य विषयो देश इति । कालेन परिदृष्टाः = क्षणाना-

टी० प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः । एवं कुम्भकेऽपीति<sup>[२]</sup> तदेतद् भाष्येणोच्यते—“सत्यासनजय” इति ॥ ४९ ॥ प्राणायामविशेषत्रयलक्षणसूत्रमवतारयति “सतु” इति । “बाह्येत्यादि, सूक्ष्म इत्यन्तं सूत्रम् ॥ ५० ॥ वृत्ति—शब्दः प्रत्येकं संबध्यते । रेचकमाह—“यत्र प्रश्वास” इति । परकमाह—“यत्र श्वास” इति । कुम्भकमाह “तृतीय” इति । तदेव स्फुटयति—“यत्रोभयोः” इति । यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोः सकृदेव विधारकात्प्रयत्नादभावो भवति, न पुनः पूर्ववदापराणप्रयत्नौघप्रविधारकप्रयत्नो, नाऽपि रेचकप्रयत्नौघविधारणप्रयत्नोऽपेक्ष्यते । किन्तु यथा तप्त उपले निहितं जलं परिशुष्यत्सर्वतः सङ्कोचमापद्यते एवमयमपि मारुतो वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्ननिरुद्धक्रियः शरीर एव सूक्ष्मभूतोऽवतिष्ठते । न तु प्रयति येन पूरकः, न तु रेचयति येन रेचक इति । ‘इयानस्य देशो विषयः’ = प्रादेशवितस्तिहस्तादिपरिमितो, निवाते प्रदेशे इषिकातूलादिक्रियाऽनुमितो बाह्यः । एवमान्तरोऽप्यापादतलमामस्तकं पिपीलिकास्पर्शसदृशेनाऽनुमितः स्पर्शेन निमेषक्रियाऽवाच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षणः ।

टी० [१] आचमनम् = अन्तः प्रवेशनम् । [२] यद्यपि कुम्भक एव श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदोऽस्ति न पूरके श्वाससद्भावाद्, नाऽपि रेचके प्रश्वाससत्त्वात्, तथाऽपि स्वाभाविकश्वासप्रश्वासरूपविशिष्टाऽभावस्य सर्वत्र सत्त्वेन सामान्यलक्षणोपपत्तिरिति भावः ।



भा०मियत्ताऽवधारणेनाऽवच्छिन्ना इत्यर्थः। सङ्ख्याभिः परिदृष्टाः= एतावद्भिःश्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्धातः । तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्धातः । एवं तृतीयः, एवं मृदुः, एवं मध्यः, एवं तीव्रः, इति सङ्ख्यापरिदृष्टः। स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्म<sup>(१)</sup> ॥५०॥

टी० तेषामियत्ताऽवधारणेनाऽवच्छिन्नः = स्वज्ञानुमण्डलं पाणिना त्रिः परामृश्य छोटिकाऽवच्छिन्नः कालो मात्रा<sup>(२)</sup> । ताभिः षट्त्रिंशन्मात्राभिः परिमितः प्रथम उद्धातोद् मन्दः<sup>(३)</sup> । स एव द्विगुणीकृतो मध्यः । स एव त्रिगुणीकृतस्तृतीयस्ति त्रिः । तमिमं संख्यापरिदृष्टं प्राणायाममाह—“संख्याभिः” इति । स्वस्थस्य हि पुंसः श्वासप्रश्वासक्रियाऽवच्छिन्नेन कालेन यथोक्तच्छोटिकाकालः समानः । प्रथमोद्धातकर्मतां नीत उद्धातो विजितो वशीकृतो निगृहीतः, क्षणानामियत्ताकालो विवक्षितः श्वासप्रश्वासेयत्तासङ्ख्येति, कथञ्चिद्भेदः<sup>(४)</sup> । सखल्वयं प्रत्यहमभ्यस्तोदिवसपक्षमासादिक्रमेण देशकालप्रचयव्यापितया दीर्घः, परमनैपुण्यसमाधिगमनीयतया च सूक्ष्मो न तु मन्दतया ॥५०॥

टि० (१) दीर्घसूक्ष्मः = यथा घनीभूतस्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो विरलतया दीर्घः सूक्ष्मश्च भवति, तथा प्राणोऽपि देशकालसङ्ख्याधिक्येनाऽभ्यस्यमानो दीर्घः, दुर्लक्षतया च सूक्ष्मो भवतीत्यर्थः ।

(२) अङ्गुष्ठमध्यमाऽङ्गुलिसंघर्षजनितः शब्दश्छोटिकेत्युच्यते । तदवच्छिन्नः कालो मात्रेत्यर्थः । तथाचोक्तं स्कन्दपुराणे “जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलम्बितम् । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते” इति ।

(३) उद्धातः = “प्राणेनोत्सर्पमाणेन अपानः पीडयते यदा गत्वाचोर्द्धं निवर्त्तते एतदुद्धातलक्षणम्” इति लक्षित इत्यर्थः । न च “नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः । मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः । मुख्यस्तु यच्चिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते” इति लिङ्गपुराणाद् “मात्राद्वादशको मन्दश्चतुर्विंशतिमात्रकः । मध्यमः प्राणसंरोधः षट्त्रिंशन्मात्रकोऽन्तिम” इति कूर्मपुराणाच्च, प्रथम उद्धातो द्वादशमात्रक एव प्रतीयते, न तु षट्त्रिंशन्मात्रकस्तथाच कथं षट्त्रिंशन्मात्रस्य मन्दत्वमुक्तमिति शङ्कनीयम् । एतद्वाक्यैः “अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं त्रिस्त्रिंशानुपरिमार्जनम् । तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते” इति याज्ञवल्क्योक्तेः, छोटिकाप्रयाऽवच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वमिति मतेन द्वादशमात्रस्य मन्दत्वाऽभिधानाद् । “अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनम् । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते” इत्यादिस्कान्दादिवाक्याद् एकच्छोटिकाऽवच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वमित्याशयेन तु वाचस्पत्ये षट्त्रिंशन्मात्रस्य मन्दत्वाऽभिधानमित्यवधेयम् इत्यलं बहुना । (४) यद्यपि सङ्ख्याभिर्गणिकालनियम एव क्रियते तथाऽपि मात्राश्वासेयत्तादिरूपप्रकारभेदात् कथंचिद्भेद इति भावः ।



सू० बाह्याभ्यन्तरविषयाऽऽक्षेपी चतुर्थः<sup>(१)</sup> ॥५१॥

भा० देशकालसङ्ख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः\*तथाऽऽभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्तु विषयाऽनालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयाऽवधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेषः ॥ ५१ ॥

टी० एवं त्रयो विशेषालक्षिताश्चतुर्थलक्षयति “बाह्याऽऽभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः” ॥५१॥ व्याचष्टे “देशकालसङ्ख्याभिः” इति । आक्षिप्तः = अभ्यासवशीकृताद् रूपादवरोपितः। सोऽपि दीर्घसूक्ष्मः। एवं तत्पूर्वको = बाह्याऽऽभ्यन्तरविषयप्राणायामो देशकालसङ्ख्यादर्शनपूर्वकः। न चाऽसौ चतुर्थस्तृतीय इव सकृत्प्रयत्नादह्वाय जायते। किन्त्वभ्यस्यमानस्तां तामवस्थां समापन्नः तत्तदवस्थाविजयाऽनुक्रमेण भवतीत्याह “भूमिजयाद्” इति । ननूभयोर्गत्यभावः स्तम्भवृत्तावप्यस्ति इति कोऽस्माद् विशेष इत्यत आह “तृतीय” इति । अनालोचनपूर्वः सकृत्प्रयत्ननिर्वर्त्तितस्तृतीयः, चतुर्थस्त्वालोचनपूर्वो बहुप्रयत्ननिर्वर्त्तनीय इति विशेषः। तयोः पूरकरेचकयोर्विषयो नालोचितोऽयन्तु देशकालसङ्ख्याभिरालोचित इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

टि० (१) बाह्यविषयः श्वासो रेचकः, आभ्यन्तरविषयः प्रश्वासः पूरकः, तावाक्षिपति = अतिक्रम्य वर्त्तत इति बाह्याऽऽभ्यन्तराक्षेपी = पूरकरेचकाऽनपेक्षो यः केवलकुम्भकः स चतुर्थः प्राणायाम इत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्। कुम्भको द्विविधः—सहितः केवलश्च। पूरकोत्तरं रेचकोत्तरं वा क्रियमाणः सहितकुम्भकः। “आरेच्याऽऽपूर्य वा कुर्यात् स हि सहितकुम्भकः” इत्युक्तेः। केवलकुम्भकस्तु “रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्। प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः” इति वाशिष्ठोक्तः। अयमेव च सूत्रकृता चतुर्थ इत्यनेनाऽभिहित इति । केचित्तु आक्षेपीत्यस्यालोच्य वर्त्तत इत्यर्थ इत्याहुः। तथा च बाह्यविषयः = नासाग्राद् द्वादशाङ्गुलपर्यन्तः आभ्यन्तरविषयो हृदयनाभिक्रादिस्तावालोच्य वर्त्तत इत्यर्थो बोध्यः ॥ \* बाह्यविषयो = रेचको य आदौ देशादिभिः परिदृष्टः स यदाऽऽक्षिप्तः = अतिक्रामितो भवति । एवं पूरकोऽपि यदाऽतिक्रामितो भवति तदोभयत्यागपूर्वको यः कुम्भको भवति स चतुर्थः प्राणायामो भवतीत्यर्थः ।



सू० ततः क्षीयते प्रकाशाऽऽवरणम् ॥ ५२ ॥

भा० प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म, यत्तदाचक्षते—“महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाऽकार्यं नियुङ्क्ते<sup>(१)</sup>” इति । तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति, प्रतीक्षणं च क्षीयते । तथा चोक्तं—“तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य” इति ॥ ५२ ॥

टी० प्राणायामस्यावान्तरप्रयोजनमाह “ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्” ॥ ५२ ॥  
आ त्रियतेऽनेन बुद्धिसत्त्वप्रकाश इत्यावरणं क्लेशः, पाप्मा च । व्याचष्टे—  
“प्राणायामान्” इति । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं = बुद्धिसत्त्वप्रकाशः । विवेकस्य ज्ञानं विवेकज्ञानम् । स\*हि विवेकज्ञानमावृणोतीति विवेकज्ञानाऽऽवरणीयमाभ्यगोयप्रवचनीयादीनां कर्त्तरि निपातस्य प्रदर्शनार्थत्वात्<sup>†</sup> कोपनीयरञ्जनीयवदत्राऽपि कर्त्तरि कृत्यप्रत्ययः । कर्मशब्देन तज्जन्यमपुण्यं तत्कारणं क्लेशं च लक्षयति । अत्रैवाऽऽगमिनामनुमतिमाह “यत्तदाचक्षते” इति । महामोहः = रागः, तदविनिर्भागवर्त्तिन्यविद्याऽपि तद्ग्रहणेन गृह्यते । अकार्यम् = अधर्मः । ननु प्राणायाम एव चेत् पाप्मानं क्षिणोति कृतं तर्हि तपस्यत आह “दुर्बलं भवति” इति । न तु सर्वथा क्षीयतेऽतस्तत्प्रक्षयाय तपोऽपेक्ष्यत इति । अत्राप्यागमिनामनुमतिमाह—“तथा चोक्तम्” इति । मनुरप्याह—“प्राणायामैर्देहेद् दोषान्” इति । प्राणायामस्य योगाङ्गता विष्णुपुराण उक्ता “प्राणाख्यमनिलं वश्यमभ्यासात् कुरुते तु यः । प्राणायामः स विज्ञेयः सबीजोऽबीज एव च । परस्परेणाऽभिभवं प्राणाऽपानौ यदाऽनिलौ । कुरुतस्तद्विधानेन तृतीयं संयमात्तयोः” इति ॥ ५२ ॥

टि० (१) महामोहमयेन = रागप्रधानेनेन्द्रजालसदृशेन शब्दादिविषयेण द्वारभूतेन प्रकाशस्वभावं बुद्धिसत्त्वमावृत्य तदेव = पापकर्म कर्मैव, अकार्यं = हिंसादौ प्रवर्त्तयतीत्यर्थः ।  
\* क्लेशः, पाप्मा च ।  
† उपलक्षणार्थत्वाद् ।



किञ्च,

सू० धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

भा० प्राणायामाभ्यासादेव \* “प्रच्छेदनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य”  
इति वचनात् ॥ ५३ ॥ अथ कः प्रत्याहारः—

सू० स्वविषयाऽसम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपाऽनुकार  
इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

भा० स्वविषयसम्प्रयोगाऽभावे चित्तस्वरूपाऽनुकार इवेति = चित्त-  
निरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरम-  
पेक्षन्ते, यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति, निविश-

टी० किञ्च “धारणासु च योग्यता मनसः” ॥ ५३ ॥ प्राणायामो हि मनः स्थि-  
रीकुर्वन् धारणासु योग्यं करोति ॥ ५३ ॥ तदेवं यमादिभिः संस्कृतः संयमाय  
प्रत्याहारमारभते। तस्य लक्षणसूत्रमवतारयितुं पृच्छति—“अथ” इति। “स्वे-  
त्यादि, प्रत्याहार इत्यन्तं सूत्रम् ॥ ५४ ॥ चित्तमपि मोहनीयरज्जनीयकोपनीयैः  
शब्दादिभिर्विषयैर्न संप्रयुज्यते। तदसंयोगाच्चक्षुरादीन्यपि न संप्रयुज्यन्त इति  
सोऽयमिन्द्रियाणां चित्तस्वरूपाऽनुकारः। यत् पुनस्तत्त्वं चित्तमभिनिविशते  
न तदिन्द्रियाणां बाह्यविषयविषयाणामनुकारोऽपि। अत उक्तमनुकार इवे-  
ति। स्वविषयाऽसम्प्रयोगस्य साधारणस्य धर्मस्य चित्तानुकारनिमित्तत्वं  
सप्तम्या<sup>१)</sup> दर्शयति। “स्व” इति। अनुकारं विवृणोति—“चित्तनि-  
रोधे” इति। द्वयोर्निरोधहेतुश्च प्रयत्नस्तुल्य इति सादृश्यम्। अत्रैव  
दृष्टान्तमाह—“यथा मधुकरराजम्” इति। दार्ष्टान्तिके योजयति—“तथा”  
इति। अत्राऽपि विष्णुपुराणवाक्यं—“शब्दादिष्वनुश्रुतानि निगृह्याऽक्षाणि  
योगवित्। कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः” ॥ १ ॥ तस्य प्रयो-

टि० (१) एतेन स्वाविषयाऽसम्प्रयोग इति निमित्तसप्तमीति ध्वनितम्। तथा च प्राणायामेन  
चित्ते जिते सति य इन्द्रियाणां स्वस्वविषयाऽऽभिमुख्याभावनिमित्तश्चित्तस्वरूपाऽनुकारः =  
चित्तस्वभावाऽनुसरणं, स प्रत्याहार इत्यर्थः फलितः। सति सप्तमीति केचिद्। अत्रेदं बोध्यम्।  
प्राणायाम एवाऽभ्यस्यमानः प्रत्याहार इत्युच्यते “प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृत”  
इति स्कन्दपुराणाद्। \* प्राणायामाऽभ्यासादेव मनसो धारणासु योग्यतेत्यन्वयः।



भा० मानमनु निविशन्ते, तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानि,  
इत्येष प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

सू० ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

भा० शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्। सक्तिर्व्यसनं = व्य-  
स्यत्येनं श्रेयस इति। अविरुद्धा प्रतिपत्तिरन्याय्या। शब्दादिसम्प्रयो-  
गः स्वेच्छयेत्यन्ये। रागद्वेषाऽभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमि-  
न्द्रियजय इति केचित्। चित्तैकाग्रयादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः।

टी० जनं तत्रैव दर्शितं—“वश्यता परमा तेन जायते निश्चलाऽऽत्मनाम्।  
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः” इति ॥ ५४ ॥

अस्या<sup>१</sup>ऽनुवादकं सूत्रम्, “ततः\*परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्” ॥ ५५ ॥  
ननु सन्ति किमन्या अपरमा इन्द्रियाणां वश्यता या अपेक्ष्य परमेयमुच्यते?  
अद्धा<sup>(२)</sup>। ता दर्शयति “शब्दादिषु” इति। एतदेव विवृणोति “सक्तिः”  
इति। सक्तिः = रागः = व्यसनम्। कया व्युत्पत्त्या?<sup>(३)</sup> व्यस्यति = क्षिपति निरस्य-  
त्येनं श्रेयस इति। तदभावोऽव्यसनं = वश्यता। अपरामपि वश्यतामाह  
“अविरुद्धा” इति। श्रुत्याद्यविरुद्धशब्दादिसेवनं तद्विरुद्धेष्वप्रवृत्तिः। सैव  
न्याय्या = न्यायादनपेता यतः। अपरामपि वश्यतामाह “शब्दादिसम्प्रयोग”  
इति। शब्दादिष्विन्द्रियाणां सम्प्रयोगः स्वेच्छया। भोग्येषु स्वत्वयं स्वतन्त्रो  
न भोग्यतन्त्र इत्यर्थः। अपरामपि वश्यतामाह “रागद्वेषाभाव” इति। सुख-  
दुःखशून्यं = माध्यस्थेन शब्दादिज्ञानमित्येके। सूत्रकाराभिमतं वश्यतां  
परमर्षिसंमतामाह—“चित्तैकाग्र्यात्” इति। चित्तस्यैकाग्र्यात्सहेन्द्रियैरप्रवृ-  
त्तिरेव शब्दादिष्विति जैगीषव्यः। अस्याः परमतामाह “परमा तु” इति।

- टी० (१) अस्य = “वश्यता परमा तेन” इत्यादिष्विष्णुपुराणवाक्यस्य ॥ \* प्रत्याहाराद्।  
(२) सन्त्यन्या अप्यपरमा वश्यता इत्याह “अद्धा” इति। अवधारणार्थकमद्धेत्यव्ययम्।  
(३) कया व्युत्पत्त्या रागो व्यसनपदवाच्य इति शङ्काया उत्तरमाह “व्यस्यति” इति।



भा० ततश्च परमा त्वयं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि,  
नेतरेन्द्रियजयवत्प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥५५॥

इति पातञ्जले साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

टी० तु—शब्दो वश्यताऽन्तरेभ्यो विशिनष्टि । वश्यतान्तराणि हि विषयाऽऽ-  
शीविषः<sup>[१]</sup> संप्रयोगशालितया क्लेशविषसम्पर्कशङ्कां नाऽपक्रामन्ति । न  
हि विषविद्यावित्प्रकृष्टोऽपि वशीकृतभुजङ्गमो भुजङ्गममङ्के निधाय स्व-  
पिति विसूब्धः<sup>[२]</sup> । इयन्तु वश्यता विदूरीकृतनिखिलविषयव्यतिषङ्गा निरा-  
शङ्कतया परमेत्युच्यते । “नेतरेन्द्रियजयवदिति” । यथा यतमानसज्ज्ञाया-  
मेकेन्द्रियजयेऽपीन्द्रियान्तरजयाय प्रयत्नान्तरमपेक्षन्ते न चैवं चित्तनिरो-  
धे बाह्येन्द्रियनिरोधाय प्रयत्नान्तराऽपेक्षेत्यर्थः । “क्रियायोगं<sup>[३]</sup> जगौ क्ले-  
शान् विपाकान् कर्मणामिह । तद्दुःखत्वं तथा व्यूहान् पादे योगस्य पञ्च-  
कम्” इति ॥ ५५ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचितायां पातञ्जलभाष्यव्याख्यायां ‘तत्त्ववैशा-  
रद्यां’ साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

\* यत् = यतो हेतोश्चित्तनिरोधे सति योगिन इतरेन्द्रियाणि स्वयमेव निरुद्धानि भवन्ति  
च तदर्थं प्रयत्नान्तरमपेक्षन्ते योगिनस्ततो हेतोरियं चित्तैकाग्ररूपा वश्यता परमेत्यन्वयः  
टि० (१) आशीविषः=दंष्ट्रायां विषं यस्य स आशीविषः सर्पः । पृषोदरादिस्वात् साधुः ।  
(२) विसूब्धः=विश्वस्तः, निभय इति यावत् न व्यतिरेकैकैन्द्रियसञ्ज्ञादिवैराग्यरूपम् ।  
(३) पादार्थसङ्ग्राहकं श्लोकमाह “क्रियायोगम्” इति । अस्मिन् योगस्य पादे पञ्चकं  
जगावित्यन्वयः । किं तत्पञ्चकमित्याह “क्रियायोगम्” इत्यादिना । स्पष्टार्थोऽयं श्लोकः ।

इति श्रीमदुदासीनबालरामस्वामिकृतं टिप्पणम् ॥ २ ॥



## पातञ्जलदर्शने विभूतिपादः ॥ ३ ॥

उक्तानि पञ्च बहिरङ्गाणि साधनानि, धारणा वक्तव्या,  
 सू० देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥  
 भा० नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्द्ध्नि \* ज्योतिषि, नासिकाऽग्रे,

टी० प्रथमद्वितीयपादाभ्यां समाधिस्तत्साधनं चोक्तं, तृतीयपादे तत्प्रवृत्त्य-  
 नुगुणाः \* श्रद्धोत्पादहेतवो विभूतयो वक्तव्याः। ताश्च संयमसाध्याः। संयमश्च  
 धारणाध्यानसमाधिसमुदाय इति विभूतिसाधनतया<sup>[१]</sup>, पञ्चभ्यश्च योगा-  
 ङ्गेभ्यो बहिरङ्गेभ्यो ऽस्या ऽङ्गत्रयस्या ऽन्तरङ्गतया विशेषज्ञापनार्थमत्र त्रयस्यो-  
 पन्यासः। तत्राऽपि च धारणाध्यानसमाधीनां कार्यकारणभावेन नियतपौ-  
 र्वाऽपस्यत्वात् तदनुरोधेनोपन्यासक्रम इति प्रथमं धारणा लक्षणीयेत्याह,  
 “उक्तानि” इति। “देशबन्धश्चित्तस्य धारणा” ॥ १ ॥ आध्यात्मिकदेशमाह  
 “नाभिचक्रे” इति। आदि-शब्देन<sup>[२]</sup> ताल्वादयो ग्राह्याः। बन्धः=संबन्धः।  
 बाह्यदेशमाह “बाह्ये वा” इति। बाह्ये च न स्वरूपेण चित्तस्य संबन्धः सम्भ-  
 वतीत्युक्तं— वृत्तिमात्रेण = ज्ञानमात्रेणेत्यर्थः।

अत्राऽपि पुराणम् “प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्। वशीकृत्य  
 ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये”। शुभाश्रयाः=बाह्या हिरण्यगर्भवासवप्रजा-  
 पतिप्रभृतयः, इदं च तत्रोक्तम्—मूर्त्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिःस्पृहम्।

टि० (१) यतः संयमसाध्या विभूतय इति हेतोः, विभूतिसाधनतया ऽत्र त्रयस्योपन्यास इति  
 सम्बन्धः। अन्यमप्युपन्यासहेतुमाह “पञ्चभ्यश्च” इति ॥ \* मूर्द्धस्थे ज्योतिषि।

(२) आदिपदेन कण्ठमुखोरोनेत्राणि ग्राह्याणि। यद्यपि “प्राङ्नाभ्यां हृदये चाऽथ तृ-  
 तीये च तथोरसि। कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रम्बुध्मूर्द्धसु। किञ्चित्तस्मात्परार्धमश्च धारणा  
 दश कीर्तिताः” इति गारुडे तालुस्थानं नोक्तं तथापि “अतः पराऽस्य धारणा तालुरसनाग्र-  
 निपीडनाद्” इति मैत्र्युपनिषदो ग्राह्यम्।  
 \* समाध्याद्यनुष्ठानप्रवृत्तिहेतुकाः।



भा० जिह्वाग्र, इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥ १ ॥

सू० तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्<sup>(१)</sup> ॥ २ ॥

भा० तस्मिन् देशे ध्येयाऽऽत्मस्वनस्य प्रत्ययस्यैकतानता = सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणाऽपरामृष्टो ध्यानम् ॥ २ ॥

सू० तदेवाऽर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

टी० एषा वै धारणा ज्ञेया याच्चित्तं तत्र धार्यते । यच्च मूर्त्तं हरे रूपं यद्विचिन्त्यं नराऽधिप । तच्छ्रूयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते । प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रनिभेक्षणम् । सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम् । समकर्णान्तविन्यस्तचारुकण्डलभूषणम् । कुम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णश्रीवत्साङ्कितवक्षसम् । वलीविभङ्गिना मग्ननाभिना चोदरेण च । प्रलम्बाऽष्टभुजं विष्णुमथवाऽपि चतुर्भुजम् । समस्थितोरुजङ्घं च स्वस्तिकाङ्घ्रिकराम्बुजम् । चिन्तयेद् ब्रह्मभूतं तं पीतनिर्मलवाससम् । किरीटचारुकेयूरकटकदिविभूषितम् । शार्ङ्गचक्रगदाखड्गशंखाक्षवल्याऽन्वितम् । चिन्तयेत्तन्मयो योगी समाधायऽऽत्ममानसम् । तावत् यावद् दृढीभूता तत्रैव नृप धारणा । एतदातिष्ठतोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्मकुर्वतः । नाऽपयाति \* यदा चित्तं सिद्धां मन्येत तां तदा इति ॥ १ ॥ धारणासाध्यं ध्यानं लक्षयति—“तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्” ॥ २ ॥ एकतानता = एकाग्रता । सुगमं भाष्यम् । अत्रापि पुराणम् । तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा । तद्ध्यानं षड्भिरङ्गैः प्रथमैर्निष्पाद्यते नृप” ॥ २ ॥

ध्यानसाध्यं समाधिं लक्षयति—“तदेव—समाधिः” ॥ ३ ॥

टी० ( १ ) एकतानता इत्यस्याग्रे षष्ठिवटिकाऽवच्छिन्नति शेषणीयम् । अन्यथा क्षणमात्रेणाप्येकतानताया ध्यानत्वाऽऽपत्तेः । अत्रेदं बोध्यम् । यद्यपि सूत्रकृता कालविशेषमनुपादायैव धारणादयो लक्षितास्तथाऽपि “धारणा पञ्चनाङ्गीका ध्यानं स्यात् षष्ठिनाडिकम् । दिनद्वादशकेनैव समाधिरिह भण्यते” इत्यादिस्कन्दपुराणाद् “प्राणायामैर्द्वादशभिर्वात्कालः कृतो भवेत् । स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत् । तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादश धारणा । ध्यानद्वादशपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि योजयेत् । तिष्ठेत्तल्लयतो युक्तः समाधिः सोऽभिधीयते” इत्यादिगारुडाच्च, तत्तत्कालाऽवच्छिन्नत्वेन विशेषणीया इत्यलं बहुना । \* विषयोन्मुखी न भवति ।



भा० ध्यानमेव ध्येयाऽऽकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्य-  
मिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥ ३ ॥

तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः<sup>(१)</sup>

सू० त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

भा० एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते । तदस्य  
त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४ ॥

सू० तज्जयात् प्रज्ञाऽऽलोकः ॥ ५ ॥

भा० तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोकः । यथा  
यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा वि-  
शारदी भवति ॥ ५ ॥

टी० व्याचष्टे “ध्यानमेव” इति । “ध्येयाकारनिर्भासम्”-इति = ध्येयाऽऽकारस्य  
निर्भासो न ध्यानाऽऽकारस्य इति । अत एवाऽऽह-“शून्यम्” इति । ननु शून्यं  
चेत्कथं ध्येयं प्रकाशेतेत्यत आह-इवेति । अत्रैव हेतुमाह-ध्येयस्वभावावेशाद्  
इति । अत्रापि पुराणं “तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् । मनसा ध्यान-  
निष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते” इति । ध्येयाध्यानस्य भेदः कल्पना, तद्धीन-  
मित्यर्थः । अष्टाङ्गयोगमुक्त्वा, खाण्डिक्याय केशिध्वज उपसंजहार, क्षेत्रज्ञः  
करणी ज्ञानं करणं तदचेतनं, निष्पाद्य मुक्तिकार्यं वै कृतकृत्यं निवर्त्तते इति ३  
धारणाध्यानसमाधिरित्येतत्त्रयस्य तत्र तत्र नियुज्यमानस्य प्रातिस्विकस-  
ञ्ज्ञोच्चारणे गौरवं स्यादिति लाघवार्थं परिभाषासूत्रमवतारयति-“तदेतद्”  
इति । “त्रयमेकत्र संयमः” ॥ ४ ॥ व्याचष्टे-“एकविषयाणि” इति । वाचकत्व-  
शङ्कामपनयति-“तदस्य” इति । तन्व्यते = व्युत्पाद्यते योगो येन शास्त्रेण तत्  
तन्त्रं, तत्र भवा तान्त्रिकी, संयमप्रदेशाः ‘परिणामत्रयसंयमाद्’ इत्येवमादयः ४  
संयमविजयस्याऽभ्याससाधनस्य फलमाह-“तज्जयात्प्रज्ञालोकः” ॥ ५ ॥ प्रत्य-  
यान्तराऽनभिभूतस्य निर्मले प्रवाहेऽवस्थानमालोकः प्रज्ञायाः । सुगमं भाष्यम् ५

टि० ( १ ) इत्याह सूत्रकार इति शेषः ।

\* एतत्पद्यं भूमिकायां व्याख्यातम् ।



सू० तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

भा० तस्य = संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः । न ह्यजिताऽधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्यप्रान्तभूमिषु<sup>१)</sup> संयमं लभते । तदभावाच्च \* कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः । ईश्वरप्रसादाजितोत्तरभूमिकस्य च नाऽधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः । कस्मात्? तदर्थस्याऽन्यत एवाऽवगतत्वाद् । भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र

टी० क पुनर्विनियुक्तस्य संयमस्य फलमेतदित्यत आह-“तस्य भूमिषु विनियोगः” ॥ ६ ॥ भूमिः विशेषयति भाष्यकारः “तस्य” इति । जिताया भूमेर्याऽनन्तरा भूमिः = अवस्थाऽजिता तत्र विनियोगः । स्थूलविषये सवितर्के समाधौ वशीकृते संयमेन संयमस्याऽविजिते निर्वितर्के विनियोगः । तस्मिन्नपि वशीकृते सविचारे विनियोग इत्यर्थः । एवं निर्विचारे विनियोग इत्यर्थः । अत एव स्थूलविषयसमापत्तिसिद्धौ सत्यां पुराणे तत्तदायुधभूषणाऽपनयेन सूक्ष्मविषयः समाधिरवतारितः-“ततः शङ्खगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितं बुधः । चिन्तयेद् भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम् । यदा च धारणा तस्मिन्नवस्थानवती ततः । किरीटकेयूरमुखैर्भूषणै रहितं स्मरेत् । तदैकाऽवयवं देवं सोऽहं चेति पुनर्बुधः । कुर्यात् ततो ह्यहमेति प्रणिधानपरो भवेद्” इति ॥ कस्मात्पुनरधरां भूमिं विजित्योत्तरां विजयते, विपर्ययः कस्मान्न भवतीत्यत आह-“न ह्यजिताऽधरभूमिः” इति । न हि शिलाहृदाद् गङ्गां प्रति प्रस्थितोऽप्राप्य मेघवनं गङ्गां प्राप्नोति । ईश्वरप्रसादाजितोत्तरभूमिकस्य च” इति । कस्मात्, तदर्थस्य = उत्तरभूमिविजयप्रत्यासन्नस्य, अन्यत एव = ईश्वरप्रणिधानादेवाऽवगतत्वाद्, निष्पादितक्रिये कर्मणि विशेषाऽनाधायिनः साधनस्य साधनन्यायाऽतिपाताद्<sup>(२)</sup> इति ।

टि० (१) ग्राह्यसमापत्तिरधरभूमिः, ग्रहणसमापत्तिश्चाऽनन्तरभूमिः, ग्रहीतृसमापत्तिश्च प्रान्तभूमिः ॥ \* उत्तरभूमिसंयमाऽलभं दोषमाह “तदभावाद्” इति ।

(२) साधनन्यायाऽतिपाताद् = साधनलक्षणातिक्रमणादित्यर्थः । अनिष्पन्नं हि निष्पादयत् साधनमित्युच्यते, न निष्पन्नमिति भावः ।



भा०योग एवोपाध्यायः<sup>(१)</sup> कथम् । एवमुक्तं—“योगेन योगो ज्ञा-  
तव्यो योगो योगात्प्रवर्तते । योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते  
चिरम्” इति ॥ ६ ॥

सू० त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

भा०तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयम्, अन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातस्य  
समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिसाधनेभ्य इति ॥ ७ ॥

सू० तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

टी० स्यादेतद् आगतः सामान्यतोऽवगतानामप्यवान्तरभूमिभेदानां कुतः पौ-  
र्वापर्याऽवगतिरित्यत आह—“भूमेरस्या” इति । जितः पूर्वो योग उत्तरस्य योग-  
स्य ज्ञानप्रवृत्त्यधिगमहेतुः । अवस्थैवाऽवस्थानित्यभिप्रेत्येतद् \* द्रष्टव्यम् ।  
कस्मात्पुनर्योगाऽङ्गत्वाऽविशेषेऽपि संयमस्य तत्र तत्र विनियोगो, नेतरेषां  
पञ्चानामित्यत आह,—“त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः” ॥ ७ ॥ तदिदं साधनत्रयं  
साध्यसमानविषयत्वेनाऽन्तरङ्गं, न त्वेवं यमादयः । तस्मात्ते बहिरङ्गा  
इत्यर्थः । साधनत्रयस्य सम्प्रज्ञात एवाऽन्तरङ्गत्वं, न त्वसम्प्रज्ञाते । तस्य  
निर्बीजतया तैः सह समानविषयत्वाऽभावात्, तेषु चिरनिरुद्धेषु सम्प्र-  
ज्ञातपरमकाष्ठाऽपरनामज्ञानप्रसादरूपपरवैराग्याऽनन्तरमुत्पादाच्चेत्याह —  
“तदेतद्” इति ॥ ७ ॥ “तदपि—तस्य” ॥ ८ ॥ समानविषयत्वमन्तरङ्गत्वप्रयो-  
जकमिह, न तु तदनन्तरभाव<sup>(२)</sup>स्तस्य बहिरङ्गेश्वरप्रणिधानवर्त्तितया स-

टि० (१) उपाध्यायः = गुरुः । योगबलेन स्वयमेव जानातीत्यर्थः । योगेनाप्रमत्तः = सिद्धिलिप्साशून्यः ।  
\* एतद् = भूमीनां योगत्वाऽऽख्यायनम् । (२) यदनन्तरं यद् भवति तत् तस्याऽन्तरङ्गं साधन-  
मिति न नियमः । “ईश्वरप्रणिधानात्समाधिसिद्धिः” इत्युक्तेः समाधेश्वरप्रणिधानाऽनन्तर-  
भावित्वेऽपि तं प्रति तस्याऽन्तरङ्गत्वानभ्युपगमात् । किन्तु यस्य साधनस्य साध्यसमानविषयत्वं  
तस्याऽन्तरङ्गत्वमिति भावः । उभयविधाऽन्तरङ्गत्वस्य संयमेऽभावान्नाऽसम्प्रज्ञातस्य नन्तरङ्गता,  
परवैराग्यन्तस्याऽन्तरङ्गं साधनमिति तत्त्वम् ।



भा० तदपि = अन्तरङ्गं<sup>(१)</sup> साधनत्रयं, निर्बीजस्य योगस्य बहिरङ्गम्। कस्मात्, तदभावे भावादिति ॥ ८ ॥ अथ निरोधचित्त-क्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः—

सू० व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवाप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

टी० व्यभिचारत्वादिति स्थिते सव्यभिचारमप्यन्तरङ्गलक्षणं तदनन्तरभावित्वमस्य नास्ति। तस्माद् दूरापेताऽन्तरङ्गता संयमस्याऽसम्प्रज्ञाते इति दर्शयितुं तदभावेऽभावादित्युक्तम् ॥ ८ ॥ परिणामत्रयसंयमादित्यत्रोपयोक्ष्यमाण-परिणामत्रयं प्रतिपिपादयिषुर्निर्बीजप्रसङ्गेन पृच्छति—“अथ” इति। व्युत्थानसम्प्रज्ञातयोश्चित्तस्य स्फुटतरपरिणामभेदप्रचयाऽनुभवान्न प्रश्नाऽवतारो, निरोधे तु नाऽनुभूयते परिणामो, न चाननुभूयमानो नास्ति, चित्तस्य त्रिगुणतया चलत्वेन गुणानां क्षणमपि अपरिणामस्याऽसम्भवादित्यर्थः। प्रश्नोत्तरं सूत्रं—“व्युत्थान-निरोधपरिणामः” ॥ असम्प्रज्ञातं समाधिमपेक्ष्य सम्प्रज्ञातो व्युत्थानं, निरुध्यनेऽनेनेति निरोधः = ज्ञानप्रसादः<sup>(२)</sup> परं वैराग्यं, तयोर्व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ—व्युत्थानसंस्कारस्याऽभिभवो, निरोधसंस्कारस्याऽऽविर्भावः। चित्तस्य धर्मिणो निरोधलक्षणस्य = निरोधाऽवसरस्य द्वयोरवस्थयोरन्वयः। न हि चित्तं धर्मि सम्प्रज्ञाताऽवस्थायामसम्प्रज्ञातावस्थायां च संस्काराऽभिभवप्रादुर्भावयोः स्वरूपेण भिद्यत इति। ननु यथोत्तरे क्लेशा अविद्यामूला अविद्यानिवृत्तौ निवर्तन्त इति तन्निवृत्तौ न पृथक् प्रयत्नान्तरमास्थीयते एवं व्युत्थानप्रत्ययमूलाः संस्कारा व्युत्थाननिवृत्तावेव निवर्तन्त इति

टि० (१) अन्तरङ्गं = सम्प्रज्ञातसमानविषयत्वेनाऽन्तरङ्गमित्यर्थः। तदभावे = ज्ञानप्रसाद-रूपपरवैराग्येण संयमविलये कृते सति, भावात् = असम्प्रज्ञातोत्पादाद्।

(२) अत्र सूत्रे निरोधपदेनाऽसम्प्रज्ञात एव गृह्यते, न सम्प्रज्ञातोऽपि। निर्बीजसमाध्युपक्रम एव प्रश्नकरणाद् “ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा” इति सूत्रात् सम्प्रज्ञाते स्फुटतरपरिणामाऽनुभवात्तत्र प्रश्नाऽनुपपत्तेश्चत्याशयेनाह “निरोधः = ज्ञानप्रसाद” इति। एतेन निरोधश्च योगद्वयसाधारणो ग्राह्य इति भिक्षुक्तिः प्रत्युक्ता वेदितव्या।



भा० व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्माः न ते प्रत्ययाऽऽत्मका इति<sup>(१)</sup> प्रत्यय-  
निरोधे न निरुद्धा, निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः। तयोरभि-  
भवप्रादुर्भावौ = व्युत्थाभसंस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आ-  
धीयन्ते, निरोधक्षणं चित्तमन्वेति। तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षण-  
मिदं संस्काराऽन्यथात्वं निरोधपरिणामः । तदा संस्कारशेषं  
चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

सू० तस्य प्रशान्तवाहिता संस्काराद् ॥ १० ॥

भा० निरोधसंस्काराद् निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्त-  
वाहिता चित्तस्य भवति । तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा  
संस्कारेण निरोधधर्मसंस्कारोऽभिभूयत इति ॥ १० ॥

टी० तन्निवृत्तौ न निरोधसंस्कारोऽपेक्षितव्य इत्यत आह “व्युत्थानसंस्कारा”  
इति। न कारणमात्रनिवृत्तिः कार्यनिवृत्तिहेतुः। मा भूत्कुविन्दनिवृत्ता<sup>(२)</sup> वपि  
पटस्य निवृत्तिः। अपि तु यत्कारणात्मकं यत्कार्यं तत्कारणनिवृत्तौ तत्का-  
र्यनिवृत्तिः। उत्तरे च क्लेशा अविद्यात्मान इत्युक्तम्। अतस्तन्निवृत्तौ तेषां  
निवृत्तिरुपपन्ना। न त्वेवं प्रत्ययाऽऽत्मानः संस्काराः। चिरनिरुद्धे प्रत्यये  
सम्प्रतिस्मरणदर्शनात्। तस्मात्-प्रत्ययनिवृत्तावपि तन्निवृत्तौ निरोधसंस्का-  
रप्रचय एवोपासनीय इत्यर्थः। सुगममन्यद् ॥ ९ ॥ सर्वथा व्युत्थानसं-  
स्काराऽभिभवे तु बलवता निरोधसंस्कारेण कीदृशः परिणाम इत्यत  
आह,—“तस्य प्रशान्तवाहिता संस्काराद्” ॥ १० ॥ व्युत्थानसं-  
स्कारमलरहितनिरोधपरम्परामात्रवाहिता प्रशान्तवाहिता । कस्मात् पुनः  
संस्कारपाटवमपेक्षते, न तु संस्कारमात्रमित्यत आह “तत्संस्कारमा-  
न्ये” इति। तद् इति निरोधं परामृशति। ये तु “नाऽभिभूयते” इति पठन्ति  
ते तदा व्युत्थानं परामृशन्ति ॥ १० ॥

टी० (१) इति शब्दो हेत्वर्थः। तथा च यतो व्युत्थानसंस्कारा न प्रत्ययात्मका = न वृत्त्युपादान-  
कारणकाः, किन्तु प्रत्ययनिमित्तका, अतो वृत्तिनिरोधेऽपि न निरुद्धा इत्यर्थोऽवसेयः।

\* चित्तोपादानकाः।

† तच्छब्देन।

(२) कुविन्दः = तन्तुवायस्तान्निवृत्तावपि पटनिवृत्तिर्न हि भवतीत्यर्थः।

भा. आ. ५. स्वा. ५



सू० सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

भा० सर्वार्थता चित्तधर्मः, एकाग्रता चित्तधर्मः, सर्वार्थतायाः क्षयः = तिरोभाव इत्यर्थः, एकाग्रताया उदय = आविर्भाव इत्यर्थः । तयोर्धर्मित्वेनाऽनुगतं चित्तं, तदिदं चित्तमपायोपजननयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सू० ततः<sup>(१)</sup> पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

भा० समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त, उत्तरस्तत्सदृश उदितः, समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैव, आ समाधिभूषादिति । स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

सू० एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

टी० सम्प्रज्ञातसमाधिपरिणामाऽवस्थां चित्तस्य दर्शयति—सू० “सर्वार्थ-समाधिपरिणामः” ॥ ११ ॥ विक्षिप्तता सर्वार्थता, सन्न विनश्यतीति, क्षय-स्तिरोभावः, नाऽसदुत्पद्यत इत्युदय आविर्भावः । आत्मभूतयोः सर्वार्थतैकाग्रताधर्मयोर्वापयोपजनौ = सर्वार्थताया अपाय, एकाग्रताया उपजनस्तयोरनुगतं चित्तं समाधीयते = पूर्वाऽपरीभूतसाध्यमानसमाधिविशेषणं भवतीति ॥ ११ ॥ ॥ ततः-परिणामः ॥ १२ ॥ ततः पुनः समाधेः पूर्वापरीभूताया अवस्थाया निष्पत्तौ सत्यां शान्तोदितौ = अतीतवर्त्तमानौ, तुल्यौ च तौ प्रत्ययौ चेति तुल्यप्रत्ययौ, एकाग्रतायान्तु द्वयोः सादृश्यं, ‘समाहितचित्तस्य’ इति समाधिनिष्पात्तिर्दर्शिता । तथैव = एकाग्रमेव । अवधिमाह—“आसमाधिभूषाद्” = भूषाद् इति ॥ १२ ॥

टि० ( १ ) ततः = विक्षिप्तताया निःशेषक्षयादनन्तरम् ।



भा० एतेन = पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणाऽवस्थारूपेण,  
भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणापरिणामोऽवस्थापरिणा-  
मश्चोक्तो वेदितव्यः । तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभव-  
प्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामो<sup>(१)</sup>, लक्षणापरिणामश्च =  
निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः । स खल्वनागतलक्षणम-  
ध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानं लक्षणं  
प्रतिपन्नो यत्राऽस्य स्वरूपेणाऽभिव्यक्तिः, एषोऽस्य द्वितीयो-  
ऽध्वा । न चातीताऽनागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः ।

टी० प्रासङ्गिकं च वक्ष्यमाणौपयिकं च भूतेन्द्रियपरिणामं विभजते—सू० “ए-  
तेन = व्याख्याताः” ॥१३॥ व्याचष्टे—“एतेन” इति । ननु चित्तपरिणतिमात्र-  
मुक्तं, न तु तत्प्रकारा धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामाः, तत्कथं तेषामतिदेश इत्य-  
त आह—“व्युत्थाननिरोधयोः” इति । धर्मलक्षणाऽवस्थाशब्दाः परं नोच्चा-  
रिता, न तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा नोक्ता इति संक्षेपार्थः । तथाहि । व्यु-  
त्थाननिरोधसंस्कारयोरित्यत्रैव सूत्रे धर्मपरिणाम उक्तः । इमं च धर्मपरि-  
णामं दर्शयता तेनैव धर्माऽधिकरणो लक्षणपरिणामोऽपि सूचित एवेत्या-  
ह—“लक्षणपरिणाम” इति । लक्ष्यतेऽनेन लक्षणं कालभेदः । तेन हि  
लक्षितं वस्तु वस्त्वन्तरेभ्यः कालान्तरयुक्तेभ्यो व्यवच्छिद्यते इति । ‘निरो-  
धस्त्रिलक्षणः’ = अस्यैव व्याख्यानं “त्रिभिरध्वभिर्युक्तः” । अध्व-शब्दः काल-  
वचनः । “स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा” = तत्किमध्ववद्  
धर्मत्वमप्यतिपतति, नेत्याह—“धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानं लक्षणं प्रति-  
पन्न” इति । य एव निरोधोऽनागत आसीत् स एव सम्प्रति वर्त-  
मानो, न तु निरोधोऽनिरोध<sup>(२)</sup> इत्यर्थः । वर्तमानतास्वरूपव्याख्यानं—  
‘यत्राऽस्य स्वरूपेण’ = स्वोचितार्थक्रियाकरणस्वरूपेण, अभिव्यक्तिः =

टि० (१) अवस्थितस्यैव धर्मिणः पूर्वधर्मतिरोभावे धर्मान्तरप्रादुर्भावो धर्मपरिणामः । स च निरोध-  
परिणामलक्षणसूत्र उक्तः । अवस्थितस्य धर्मस्याऽनागतादिलक्षणत्यागे सति वर्तमानादिलक्षण-  
रूपो लक्षणपरिणामः । सोऽप्यभिभवप्रादुर्भावशब्देन तत्रोक्त इति भावः ।

(२) न तु प्रागसत्त्वेन निरोधोऽसत्त्वेत्यर्थः ।



भा० तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं=त्रिभिरध्वभिर्युक्तं वर्तमानं लक्षणं  
हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम् । एषोऽस्य तृ-  
तीयोऽध्वा । न चाऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तम् ।  
एवं पुनर्व्युत्थानमुपसंपद्यमानमनागतं लक्षणं हित्वा धर्मत्वम-  
नतिक्रान्तं वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नम् । यत्राऽस्य स्वरूपाऽभि-  
व्यक्तौ सत्यां व्यापार, एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वान् चाऽतीताऽना-  
गताभ्यां लक्षणाभ्यां विमुक्तमिति । एवं पुनर्निरोध, एवं पुन-  
र्व्युत्थानमिति । तथाऽवस्थापरिणामः \*—तत्र निरोधक्षणेभ्यु  
निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति ।  
एष धर्माणामवस्थापरिणामः । तत्र धर्मिणो धर्मैः परि-

टी० समुदाचारः । एषोऽस्य प्रथममनागतमध्वानमपेक्ष्य द्वितीयोऽध्वा । स्यादे-  
तद्द्विजनागतमध्वानं हित्वा चेद्वर्तमानतामापन्नस्तां च हित्वाऽतीततामाप-  
त्स्यते हन्त भोरध्वनामुत्पात्तिविनाशौ स्याताम् न चेष्टेते न ह्यसत् उत्पादो,  
नाऽपि सतो विनाश इत्यत आह—“न च” इति । न चाऽतीताऽनागताभ्यां सा-  
मान्यात्मनाऽवस्थिताभ्यां<sup>(१)</sup> वियुक्त इत्यर्थः । अनागतस्य निरोधस्य वर्तमान-  
तालक्षणं दर्शयित्वा वर्तमानव्युत्थानस्याऽतीततां तृतीयमध्वानमाह—“तथा  
व्युत्थानम्” इति । तत्किं निरोध एवाऽनागतो, न व्युत्थानं, नेत्याह—“एवं  
पुनर्व्युत्थानम्” इति व्युत्थानजात्यपेक्षया पुनर्भावो, न व्यक्त्यपेक्षया ।  
न ह्यतीतं पुनर्भवतीति । स्वरूपाऽभिव्यक्तिः = अर्थक्रियाक्षमस्याऽऽवि-  
र्भावः । स चैवं लक्षणपरिणाम उक्तस्तज्जातीयेषु पौनःपुन्येन वर्तत इ-  
त्याह “एवं पुनः” इति । धर्मपरिणामसूचितमेवाऽवस्थापरिणाममाह “त-  
थाऽवस्था” इति । धर्माणां = वर्तमानाध्वनां बलवत्त्वाबलवत्त्वे अवस्था,  
तस्याः प्रतिक्षणं तारतम्यं परिणामः । उपसंहरति “एष” इति । प-

टि० (१) ननु कीदृशौ तावतीताऽनागतावध्वानौ यौ वर्तमानाऽध्वना न विरुद्धेते, अत आह  
“सामान्येति” । असदुत्पादसद्विनाशयोस्सम्भवात् सामान्यरूपेणाऽवस्थिताभ्यामतीताऽनागता-  
भ्यामवियुक्त इत्यर्थः । उद्भूतयोरेव परस्परं विरोधो, न तूद्भूताऽनुद्भूतयोरिति भावः । एतच्च  
“सामान्यानि त्वतिशयेः सह प्रवर्तन्त” इत्यादिना पूर्वमुपपादितम् । अनुपदमेव च स्पष्टायि-  
ष्यतेऽत्र भाष्यकारैः ॥ \* उच्यते इति शेषः । † वर्तमानताम् ।



भा० गणामो, धर्माणां लक्षणैः परिणामो, लक्षणानामप्यवस्थाभिः  
परिणाम इति । एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षण-  
मपि गुणवृत्तमवतिष्ठते । चलञ्च गुणवृत्तं, गुणस्वाभाव्यन्तु प्रवृ-  
त्तिकारणमुक्तं गुणानामिति । एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिभेदात्  
त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः । परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः ।  
धर्मस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति  
तत्र धर्मस्य धर्मिणिवर्तमानस्यैवाऽध्वस्वतीताऽनागतवर्तमानेषु

टी० रिणामभेदानां सम्बन्धिभेदान्निर्धारयति तन्त्रानुभवाऽनुसारात्—“तत्र ध-  
र्मिण” इति । तात्किमेष परिणामो गुणानां कादाचित्को ? नेत्याह—“एवम्”  
इति । कस्मात्पुनरयं परिणामः सदातन इत्यत आह “चलञ्च” इति ।  
चो-हेत्वर्थे, वृत्तं = प्रचारः । एतदेव कुत इत्यत आह—गुणस्वाभाव्यम्”  
इति । उक्तम्—अत्रैव पुरस्तात् । सोऽयं त्रिविधोऽपि चित्तपरिणामो भू-  
तेन्द्रियेषु सूत्रकारेण निर्दिष्ट इत्याह—“एतेन” इति । एष त्रिविधः परिणामो  
धर्मधर्मिभेदाद् = धर्मधर्मिणोभेदमालक्ष्य<sup>(१)</sup> । तत्र भूतानां पृथिव्यादीनां  
धर्मिणां गवादिर्घटादिर्वा धर्मपरिणामः । धर्माणां चाऽतीताऽनागतावर्त-  
मानरूपता लक्षणपरिणामः । वर्तमानलक्षणाऽऽपन्नस्य गवादेर्बाल्यकौमार-  
यौवनवार्धक्यमवस्थापरिणामः । घटादीनामपि नवपुरातनताऽवस्थापरि-  
णामः । एवमिन्द्रियाणामपि धर्मिणां तत्तन्नीलाद्यालोचनं धर्मपरिणामो,  
धर्मस्य वर्तमानतादिर्लक्षणपरिणामो, लक्षणस्य रत्नाद्यालोचनस्य स्फुट-  
त्वास्फुटत्वादिरवस्थापरिणामः । सोऽयमेवंविधो भूतेन्द्रियपरिणामो धर्मिणो  
धर्मलक्षणाऽवस्थानां भेदमाश्रित्य वेदितव्यः । अभेदमाश्रित्याह—“परमा-  
र्थतस्तु” इति । तु—शब्दोभेदपक्षाद्विशिनष्टि । पारमार्थिकत्वमस्य ज्ञाप्यते  
न त्वन्यस्य परिणामस्य निषिद्ध्यते<sup>(२)</sup>, कस्माद् ? “धर्मस्वरूपमात्रो हि”  
इति । ननु यदि धर्मविक्रियैव धर्मः, कथं तर्ह्यसङ्करप्रत्ययो<sup>(३)</sup> लोके परिणामे-  
ष्वित्यत आह—“धर्मद्वारा” इति । धर्म-शब्देन धर्मलक्षणावस्थाः परिगृह्यन्ते ।  
तद्द्वारेण धर्मिण एव विक्रियेत्येका चाऽसङ्कीर्णा च । तद्द्वाराणामभेदे-

टी० (१) भेदमालक्ष्य=भेदमाश्रित्योक्त इत्यर्थः । (२) न तु परिणामानां त्रित्वं  
निषिद्ध्यत इति तु त्रयोऽपि परिणामा धर्मिण स्वेत्यऽभेदपक्षमाश्रित्य ज्ञाप्यत इत्यर्थः ।  
(३) अयं धर्मपरिणामः, अयं लक्षणपरिणाम इत्यादिभेदव्यवहार इत्यर्थः ।



भा०भावान्यथात्वंभवति, न द्रव्यान्यथात्वम् । यथा सुवर्णं भाजनस्य भित्त्वाऽन्यथाक्रियमाणस्यभावाऽन्यथात्वं भवति, न सुवर्णाऽन्यथात्वमिति । अपर आह—धर्माऽनभ्यधिको धर्मी<sup>(१)</sup> पूर्वतत्त्वाऽनतिक्रमात् । पूर्वाऽपरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येन विपरिवर्त्तित यद्यन्वयी स्याद् इति । अयमदोषः । कस्माद्, एकान्ताऽनभ्युपगमात् । तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति । कस्माद्, नित्यत्वप्रतिषेधाद् । अपेतमप्यस्ति \* विनाशप्रतिषेधात् । संसर्गाच्चा-

टी०ऽपि धर्मिणः परस्पराऽसङ्करात् । ननु धर्मिणो धर्माणामभिन्नत्वे धर्मिणोऽध्वनां च भेदे धर्मिणोऽनन्यत्वेन धर्मेणापीह धर्मिवद् भवितव्यमित्यत आह—“तत्र धर्मस्य” इति । भावः = संस्थानभेदः । सुवर्णादेर्यथाभाजनस्य रुचकस्वास्तिकव्यवदेशभेदो भवति— तन्मात्रमन्यथाभवति, न तु द्रव्यं सुवर्णमसुवर्णतामुपैति, अत्यन्तभेदाऽभावादिति वक्ष्यमाणोऽभिसन्धिः । एकान्तवादिनं<sup>(२)</sup> बौद्धमुत्थापयति—“अपर आह” इति । धर्मा एव हि रुचकादयस्तथोत्पन्नाः परमार्थसन्तो न पुनः सुवर्णं नाम किञ्चिदेकमनेकेष्वनुगतं द्रव्यमिति । यदि पुनर्निवर्त्तमानेष्वपि धर्मेषु द्रव्यमनुगतं भवेत्ततो न चितिशक्तिवत्परिणमेताऽपि तु कौटस्थ्येनैव विपरिवर्त्तित,—परिणामात्मकरूपं परिहाय रूपान्तरेण कौटस्थ्येन परिवर्त्तनं परिवृत्तिः । यथा चितिशक्तिरन्यथाऽन्यथाभावं भजमानेष्वपि गुणेषु स्वरूपादप्रच्युता कूटस्थनित्यैवं सुवर्णाद्यपि स्याद् । न चेष्ट्यते तस्मान्न द्रव्यमतिरिक्तं धर्मेभ्य इति । परिहरति “अयमदोष” इति । “कस्मादेकान्ताऽनभ्युपगमाद्” । यदि चितिशक्तिरिव द्रव्यस्यैकान्तिकी नित्यतामभ्युपगच्छेम तत एवमुपालभ्येमहि । न त्वैकान्तिकी नित्यतामातिष्ठामहे, किन्तु तदेतत् त्रैलोक्यं न तु द्रव्यमात्रं व्यक्तेः = अर्थक्रियाकारिणो रूपादपैति<sup>(३)</sup> । कस्माद्, “नित्य-

टि० (१) धर्मी = सुवर्णादिः, धर्मेभ्यः = कुण्डलादिभ्योऽतिरिक्तो न भवति । कुतः ? पूर्वतत्त्वस्य = धर्मिस्वरूपस्याऽनतिक्रमात् = कुण्डलादिष्वनुगतत्वादित्यर्थः । तदेव स्पष्टयति “पूर्वापर” इति । यदि हि धर्म्यन्वयी स्यात्तर्ह्यतिताद्यवस्थास्वप्नानुगतत्वेन सदातनसत्त्वप्रसङ्गाच्चितिशक्तिवत्कौटस्थ्येनैव तिष्ठेद्, न परिणमेत । तच्चानिष्टं भवतामपीत्यर्थः । (२) एकान्तवादिनं = धर्मधर्मिणोरत्यन्ताऽभेदवादिनमित्यर्थः । (३) अपगच्छति, कूटस्थनित्यत्वाऽभावेन वर्त्तमानतामपहायाऽतीततां प्राप्नोतीति भावः । \* अतीतमपि प्रकृत्यादिधर्मिरूपेणातीतरूपेण



भा० ऽस्य सौक्ष्म्यं, सौक्ष्म्याच्चाऽनुपलब्धिरिति । लक्षणापरिणामो<sup>(१)</sup>  
धर्मोऽध्वसु वर्त्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतवर्त्तमाना-  
भ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः । तथाऽनागतोऽनागतलक्षणयुक्तो  
वर्त्तमानाऽतीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः । तथा वर्त्तमानो वर्त्त-  
मानलक्षणयुक्तोऽतीताऽनागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति ।  
यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो, न शेषासु विरक्तो भवती-

टी० त्वप्रतिषेधात्” प्रमाणेन ॥ यदि हि घटो व्यक्तेर्नाऽपेयात् कपाल-  
शर्कराचूर्णादिष्ववस्थास्वपि व्यक्तो घट इति पूर्ववदुपलब्ध्यर्थक्रिये कु-  
र्यात् तस्मादनित्यं त्रैलोक्यम् । अस्तु तर्ह्यनित्यमेवापलब्ध्यर्थक्रियारहि-  
तत्वेन गगनाऽऽविन्दवदतितुच्छत्वादित्यत आह “अपेतमप्यस्ति” इति ।  
नाऽत्यन्ततुच्छता येनैकान्ततोऽनित्यं स्यादित्यर्थः । कस्माद्, “विनाशप्र-  
तिषेधात्” प्रमाणेन । तथाहि, यत् तुच्छं न तत्कदाचिदप्युपलब्ध्यर्थक्रिये  
करोति, यथागगनारविन्दम् । करोति चैतत् त्रैलोक्यं कदाचिदप्युपलब्ध्यर्थ-  
क्रिये इति ॥ तथोत्पत्तिमद्द्रव्यत्वधर्मलक्षणावस्थायोगित्वादयोऽप्यत्यन्ततु-  
च्छगगननलिननरविषाणादिव्यावृत्ताः सत्त्वहेतव उदाहार्याः । तथाच ना-  
ऽत्यन्तनित्यो येन चितिशक्तिवत्कूटस्थनित्यः स्यात्, किन्तु कथञ्चिन्नित्यः ।  
तथा च परिणामीति सिद्धम् । एतेन मृत्पिण्डाद्यवस्थासु कार्याणां घ-  
टादीनामनागतानां सत्त्वं वेदितव्यम् । स्यादेतद्, अपेतमप्यस्ति चेत्का-  
र्यं कस्मात्पूर्ववन्नोपलभ्यते इत्यत आह—“संसर्गाद्” इति । संसर्गात् =  
स्वकारणलयात्, सौक्ष्म्यं = दर्शनाऽनर्हं, ततश्चाऽनुपलब्धिरिति । तदेवं  
धर्मपरिणामं समर्थं लक्षणपरिणाममपि लक्षणानां परस्पराऽनुगमनेन स-  
मर्थयते—“लक्षणपरिणाम” इति । एकैकं लक्षणं लक्षणान्तराभ्यां समनु-  
गतमित्यर्थः । नन्वेकलक्षणयोगे लक्षणान्तरे नाऽनुभूयेते, तत्कथं तद्योग  
इत्यत आह—“यथा पुरुष” इति । नह्यनुभवाऽभावः प्रमाणासिद्धमपलपति,  
तदुत्पाद एव तत्र तत्सद्भावे प्रमाणमसत् उत्पादाऽसम्भवान्नरविषाणवदिति

टि० चास्त्येवाऽत्यन्तोच्छेदप्रतिषेधादित्यर्थः । (१) लक्षणं परिणामो यस्यैवम्भूतो यो  
धर्मो घटादिः सोऽपि अध्वसु = कालत्रयेषु वर्त्तमानत्वेन सन्नेव, न त्वसन्नित्यर्थः । तत्र हेतुमाह  
“अतीत” इति यतः सूक्ष्माभ्यामनागतवर्त्तमानाऽवस्थाभ्यामवियुक्त एवाऽतीताऽवस्थायुक्तौ  
भवत्यतो धर्मः कालत्रयेऽप्यस्तीति भावः । \* केन प्रतिषेधादित्याकाङ्क्षितं पूरयति  
‘प्रमाणेन’ । ॥ नाऽत्यन्ततुच्छमिति शेषः ।



भा०ति । अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणाऽयोगादध्व-  
सङ्करः प्राप्नोतीति परैर्दोषश्चोद्यत इति। तस्य परिहारः—धर्माणां  
धर्मत्वमप्रसाध्यं, सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यो<sup>(१)</sup> न वर्त्त-  
मानसमय एवाऽस्य धर्मत्वम् । एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात् ।  
क्रोधकाले रागस्याऽसमुदाचारादितिकिञ्च, त्रयाणां लक्षणानां  
युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति सम्भवः । क्रमेण तु स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य  
भावो भवेदिति । उक्तं च—“रूपाऽतिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण  
विरुद्धयन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते । तस्मादसङ्करः ।  
यथा रागस्यैव क्वचित्समुदाचार इति न तदानीमन्यत्राऽभावः ।  
किन्तु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः ।

टी०परोक्तं दोषमुत्थापयति—“अत्रलक्षणपरिणाम” इति । यदाधर्मो वर्त्तमानस्त-  
दैवयद्यतीतोऽनागतश्च तदा त्रयोऽप्यध्वानः सङ्कीर्णैरनु, अनुक्रमेण चाऽध्व-  
नां भावेऽसदुत्पादप्रसङ्ग इति भावः । परिहरति—“तस्य परिहार” इति । वर्त्त-  
मानतैव हि धर्माणामनुभवसिद्धा । ततः प्राक्पश्चात्कालसंबन्धमवगमयति,  
न खल्वसदुत्पद्यते, न च सद्दिनश्यति । तदिदमाह—“एवं हि न चित्तम्” इति ।  
क्रोधोत्तरकालं हि चित्तं रागधर्मकमनुभूयते । यदा च रागः क्रोधसमयेऽनाग-  
तत्वेन नासीत्तत्कथमसावुत्पद्येताऽनुत्पन्नश्च कथमनुभूयेतेति । भवत्वेवं  
तथाऽऽपि कुतोऽध्वनामसङ्कर इति पृच्छति—“किञ्च” इति । किं कार-  
णमसङ्करे? च = पुनरर्थे । उत्तरमाह—“त्रयाणाम्” इति । त्रयाणां लक्ष-  
णानां युगपन्नास्ति सम्भवः । कस्मिन् एकस्यां = चित्तवृत्तौ क्रमेण तु लक्ष-  
णानामेकतमस्य स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य भावो<sup>(२)</sup> भवेत् = सम्भवेत् । लक्ष्या-  
धीननिरूपणतया लक्षणानां लक्ष्याऽऽकारेण तद्वत्ता । अत्रैव पञ्चशिखाऽऽ-

टि० (१) धर्माणां तावद् धर्मत्वं प्राक् साधितत्वाच्च साधनीयम् । सिद्धे च धर्मत्वे धर्माणां लक्ष-  
णभेदः = अवस्थाबहुत्वमपि वक्तव्यं, न पुनस्ताकिञ्चिद् वर्त्तमानमात्रमेवैकं लक्षणमित्यर्थः । तत्र  
हेतुमाह “न वर्त्तमान” इति । न हि वर्त्तमानसमयमात्रेऽस्य धर्मस्य धर्मत्वं किन्त्वतीतादिसमयेऽपीति  
भावः । विपक्षे बाधकमाह “एवं हीति । एवं हि = वर्त्तमानकाल एव धर्मत्वे सति । चित्तं रागधर्मकं  
न स्यात् । क्रोधोदयकाले रागस्याऽसमुदाचाराद् = अनाविर्भावादित्यर्थः ।

(२) लक्षणानां मध्येऽन्यतमस्य लक्षणस्य भावः = अभिव्यक्तिर्मेवैव सर्वस्य, कीदृशस्य  
अन्यतमलक्षणस्य ‘स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य’ = स्वाऽभिव्यञ्जकं दण्डचक्रादि यस्त्वेवाऽञ्जन-  
माविर्भावकं यस्य तस्येत्यर्थः । \* कथमवगमयतीत्यत आह—‘न’ इति ।



भा० तथा लक्षणस्येति । न<sup>(१)</sup> धर्मी<sup>(२)</sup> त्र्यध्वा, धर्मास्तु त्र्यध्वानः । ते लक्षिता अलक्षिताश्च तांतामवस्थाम् प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो, न द्रव्यान्तरतः । यथैकारेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने । यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसाचेति । अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चि-  
टी० चार्थ्यसम्मतिमाह “उक्तञ्च” इति । एतच्च प्रागेव व्याख्यातम् । उपसंहरति “तस्माद्” इति । आविर्भावतिरोभावरूपविरुद्धधर्मसंसर्गादसङ्करोऽध्वनामिति । दृष्टान्तमाह—“यथा रागस्य” इति । पूर्वं क्रोधस्य रागसंबन्धाऽवगमो दर्शित इति, इदानीन्तु विषयान्तरवर्त्तिनो रागस्य विषयान्तरवर्त्तिना रागेण संबन्धावगम इति । दार्ष्टान्तिकमाह—“तथा लक्षणस्य” इति । ननु सत्यप्यनेकान्ताऽभ्युपगमे भेदोऽस्तीति धर्मलक्षणाऽवस्थाऽन्यत्वे तदभिन्नस्य धर्मिणोऽप्यन्यत्वप्रसङ्गः । स एव च नेष्यते । तदनुगमाऽनुभवविरोधादित्यत आह—“न धर्मी त्र्यध्वा” इति । यतस्तद्भिन्नाऽधर्मास्त्र्यध्वानः । धर्माणामध्वत्रययोगमेव स्फोरयति—“ते” इति । लक्षिताः = अभिव्यक्ता वर्त्तमाना इति यावत् । अलक्षिताः = अनभिव्यक्ता अनागता अतीता इति यावत् । तत्र लक्षितां तांतामवस्थां बलवत्त्वदुर्बलत्वादिकां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन निर्दिश्यन्ते । अवस्थान्तरतो, न द्रव्यान्तरतः । अवस्था—शब्देन धर्मलक्षणाऽवस्था उच्यन्ते । एतदुक्तं भवति अनुभव एव हि धर्मिणो धर्मादीनां भेदाऽभेदौ व्यवस्थापयति । नह्यैकान्तिकेऽभेदे धर्मादीनां धर्मिणो धर्मिरूपवद् धर्मादित्वं, नाप्यैकान्तिके भेदे गवाऽश्ववद् धर्मादित्वम् । सचाऽनुभवोऽनैकान्तिकत्वमवस्थापयन्नपि धर्मादिषूपज्ञाऽप्रायधर्मकेष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्माश्च परस्परतो व्यावर्त्तयन् प्रत्यात्ममनुभूयत इति, तदनुसारिणो<sup>(२)</sup> वयं न तमतिवर्त्य<sup>(३)</sup> स्वेच्छया

टि० (१) अयं च लक्षणपरिणामो न धर्मिणो येनाऽननुगतत्वप्रसङ्गः, किन्तु धर्मस्येत्याह ‘न’ इति । यतो धर्मा = घटादय एव त्र्यध्वानः = अतीतादिकालयोगिनो, न धर्मी = मृदादिरतस्ते घटादयो धर्मा एव तांतां तत्रपुण्यतनाद्यवस्थां प्राप्नुवन्तोऽवस्थान्तरत एव भिन्नत्वेन निर्दिश्यन्ते, न धर्मिणः सकाशाद् । द्रव्यस्य धर्मिणः सर्वाऽवस्थास्वनुमतत्वादिति भावः ।

(२) तदनुसारिणः = अनुभवाऽनुसरणशीला इत्यर्थः । (३) तमतिवर्त्य = अनुभवमतिक्रम्येत्यर्थः ।

\* अग्रिमग्रन्याऽनुरोधेन, उपलभ्यमानमपि ( तदभिन्नम् ) इति पाठमुपैक्षिषि ।



भा० दुक्तः, कथम्, अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वाद्वायदा धर्मः  
स्वव्यापारं न करोति तदाऽनागतो, यदा करोति तदा वर्तमानो,  
यदा कृत्वा निवृत्तस्तदाऽतीत, इत्येवं धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामव-  
स्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते । नाऽसौ दोषः।  
कस्माद्, गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात् ।

टी० धर्माऽनुभवान् व्यवस्थापयितुमीशमह इति । अत्रैव लौकिकं दृष्टान्तमाह  
“यथैका रेखा” इति । यथा तदेव रेखास्वरूपं तत्तत्स्थानाऽपेक्षया शतादि-  
त्वेन व्यपदिश्यत एवं तदेव धर्मस्वरूपं तत्तद्धर्मलक्षणाऽवस्थाभेदेनाऽन्य-  
त्वेन प्रतिनिदिश्यत इत्यर्थः । दार्ष्टान्तिकार्थे दृष्टान्तान्तरमाह—“यथा चैकत्वे-  
ऽपि” इति । अत्राऽन्तरे परोक्तं दोषमुत्थायति—“अवस्था” इति । अव-  
स्थापरिणामे = धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामे, कौटस्थ्यदोषप्रसङ्ग उक्तो ध-  
र्मिधर्मलक्षणाऽवस्थानाम्पृच्छति—“कथम्” इति । उत्तरमाह—“अध्वनो-  
व्यापारेण” इति । दध्नः किल योऽनागतोऽध्वा तस्य व्यापारः = क्षीरस्य व-  
र्त्तमानत्वं, तेन व्यवहितत्वाद् हेतोः, यदा धर्मः = दधिलक्षणः, स्वव्यापारं =  
दाधिकाद्यारम्भं\*क्षीरे सन्नपि न करोति तदाऽनागतः, यदा करोति तदा व-  
र्त्तमानः, यदा कृत्वा निवृत्तः सन्नेव स्वव्यापाराद् दाधिकाद्यारम्भात्तदाऽतीत,  
इत्येवं त्रैकाल्येऽपि सत्त्वाद् धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं  
प्राप्नोति । सर्वदा<sup>(१)</sup> सत्ता हि नित्यत्वं, चतुर्णामपि च सर्वदा सत्त्वेऽसत्त्वे वा  
नैत्पादः । तावन्मात्रं<sup>(२)</sup> च लक्षणं कूटस्थनित्यतायाः । न हि चितिशक्तेरपि  
कूटस्थनित्यायाः कश्चिदन्यो विशेष इति भावः । परिहरति—“नासौ दोषः”  
इति । नासौ दोषः । कस्माद् गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दः = अन्योऽन्या-  
ऽभिभाव्याऽभिभावकत्वं, तस्य वैचित्र्यात् । एतदुक्तं भवति<sup>(३)</sup>—यद्यपि सर्वदा  
सत्त्वं चतुर्णामपि गुणिगुणानां, तथापि गुणविमर्दवैचित्र्येण तदात्मभूततद्वि-  
काराऽऽविर्भावतिरोभावभेदेन, परिणामशालितया न कौटस्थ्यं, चितिशक्ते-

टि० (१) परोक्तं कौटस्थ्याऽऽपादनं स्पष्टयति—“सर्वदा” इति । ‘नैत्पादः’=सर्वदा सत्त्वे  
चितिशक्तिवन्नेत्पादः सर्वदाऽसत्त्वे च नरविषाणवन्नात्पाद इति भावः । असत्त्वे वा इति  
दृष्टान्तार्थम् । वाकार इवार्थः । (२) तावन्मात्रं=सर्वदा विद्यमानत्वम्, उत्पादरहितत्वं वा ।  
(३) न सर्वदा विद्यमानत्वमेव कौटस्थ्यमपि त्वविकारितयैकान्तनित्यत्वम् । तच्च पुरुष  
एव नाऽन्यत्रेत्याशयेनाऽऽह “एतदुक्तं भवति” इति । \* दधिताध्यकार्यारम्भमिति यावद् ।



भा० यथा<sup>[१]</sup> संस्थानमादिमद् धर्ममात्रं शब्दादीनां विनाशवि-  
नाशिनां, एवं लिङ्गमादिमद् धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विना-  
शविनाशिनां, तस्मिन्\*विकारसञ्ज्ञेति । तत्रेदमुदाहरणं—मृद-  
धर्मी पिण्डाऽऽकाराद् धर्माद् धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानो धर्मतः  
परिणामते घटाऽऽकार इति । घटाऽकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा  
वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत इति लक्षणातः परिणामते। घटो नवपुरा-  
णतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति । धर्मि-  
णोऽपि धर्मान्तरमवस्था धर्मस्याऽपि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक ए-  
व<sup>[२]</sup> द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति। एवं पदार्थान्तरेष्वपियोज्य-  
मिति। एते<sup>[३]</sup> धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामाधर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता-

टी० स्तु न स्वात्मभूतविकाराऽऽविर्भावतिरोभाव इति कैटस्थ्यमायथाहुः  
—“नित्यं तमाहुर्विद्वांसो यत्स्वभावो न नश्यति” इति । विमर्दवैचित्र्यमेव  
विकल्पवैचित्र्ये हेतुं प्रकृतौ विकृतौ च दर्शयति—“यथा” इति । यथा सं-  
स्थानं = पृथिव्यादिपरिणामलक्षणम्, आदिमद् धर्ममात्रं विनाशि = ति-  
रोभावि, शब्दादीनां = शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणां स्वकार्यमपेक्ष्या-  
ऽविनाशिनाम् = अतिरोभाविनाम् । प्रकृतौ दर्शयति “एवं लिङ्गम्” इति,  
“तस्मिन् विकारसञ्ज्ञा”—न त्वेवं विकारवती चित्तिशक्तिरिति भावः । तदेवं  
परीक्षकसिद्धां विकृतिं ‘च’ प्रकृतिं चेदाहृत्य विकृतावेव लोकसिद्धायां गुण-  
विमर्दवैचित्र्यं धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामवैचित्र्यहेतुमुदाहरति—“तत्रेदमुदा-  
हरणम्” इति । नच्चाऽयं नियमो लक्षणानामेवाऽवस्थापरिणामइतिसर्वेषामेव

टि० (१) यथा अविनाशिनां शब्दादीनां धर्ममात्रं पृथिव्यादिसंस्थानमादिमद् विनाशि च,  
एवं सत्त्वादीनां धर्ममात्रं महत्तत्त्वाख्यं लिङ्गमप्यादिमद् विनाशि चेत्यन्वयः ।

(२) इति = शब्दो हेत्वर्थे, यतो धर्मादीनां सर्वेषामेवाऽवस्थाशब्दवाच्यत्वमत एक एव=अवस्था  
रूप एव धर्मिपरिणामो वास्तवस्तथापि ब्राह्मणवशिष्टन्यायेन त्रिविधभेदेनोपदर्शितइत्यर्थोऽवसेयः ।

(३) एते सर्वे परिणामा धर्मिस्वरूपमनुगता इत्यत एक एव=धर्मरूपः परिणाम एव, सर्वान्  
विशेषान्=लक्षणादिपरिणामान्, अभिप्लवते=स्वस्मिन्नन्तर्भावयतीत्यर्थः । पूर्वं हि धर्मलक्षणाऽव-  
स्थाभेदानामवस्थाशब्दवाच्यत्वादवस्थारूप एवैकः परिणामस्तान्त्रिक्या परिभाषया त्रिधोच्यत  
इत्युक्तमत्र तु त्रयाणां भेदानां धर्मशब्दवाच्यत्वाद् धर्मरूप एवैकः परिणामः पारमार्थिक  
इत्युक्तमिति भेदः । \* तस्मिन्=महत्तत्त्वादिरूपे धर्मे, विकारसञ्ज्ञा = परिणामसञ्ज्ञा ।



भा० इत्येक एव परिणामः सर्वानमून् विशेषानभिप्लवते । अथ कोऽयं परिणामः । अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मन्तिरोत्पत्तिः परिणामः ॥ १३ ॥ तत्र <sup>१)</sup>—

सू० शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती <sup>२)</sup>धर्मी ॥ १४ ॥

भा० योग्यताऽवच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः, स च <sup>३)</sup>फलप्रसवभेदाऽनुमितसद्भावे एकस्याऽन्योऽन्यश्च परिदृष्टः ।

टी० धर्मलक्षणावस्थाभेदानामवस्थाशब्दत्राच्यत्वादेक एवाऽवस्थापरिणामः सर्वसाधारण इत्याह—“धर्मिणोऽपि” इति । व्यापकं परिणामलक्षणमाह—“अवस्थितस्य” इति । धर्मशब्द आश्रितत्वेन धर्मलक्षणाऽवस्थावाचकः ॥ १३ ॥

यस्यैष त्रिविधः परिणामस्तं धर्मिणं सूत्रेण लक्षयति—“तत्र शान्तोदिताऽव्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मी” ॥ १४ ॥ धर्मोऽस्याऽस्तीति धर्मी । नाऽविज्ञाते धर्मे स शक्यो ज्ञातुमिति धर्मं दर्शयति—“योग्यता” इति । धर्मिणो=द्रव्यस्य मृदादेः, शक्तिरेव = चूर्णपिण्डघटाद्युत्पत्तिशक्तिरेव धर्मः, तेषां तत्राऽव्यक्तत्वेन भाव इति यावत् । नन्वेवमव्यक्ततया सन्तस्ते ततः प्रादुर्भवन्तूदकाऽऽहरणादयस्तु तैः स्वकारणादनासादिताः कुतः प्राप्ता इत्यत उक्तं—“योग्यताऽवच्छिन्ना” इति । याऽसौ घटादीनामुत्पत्तिशक्तिः सोदकाहरणादियोग्यताऽवच्छिन्ना, तेनादकाहरणादयोऽपि घटादिभिः स्वकारणादेव प्राप्ता इति नाऽऽकस्मिका इति भावः । अथवा, के धर्मिण इत्यत्रोत्तरं योग्यताऽवच्छिन्ना धर्मिण इति, को धर्म इत्यत्रोत्तरं शक्तिरेव धर्मः, तेषां योग्यतैव धर्म इत्यर्थः । अतस्तद्वान् धर्मीतिसिद्धं भवति । तत्सद्भावे प्रमाणमाह “स च फलप्रसवभेदाऽनुमितः” इति । एकस्य = धर्मिणः, अन्यश्चाऽन्यश्च = चूर्णपिण्डघटादिरूप इत्यर्थः, कार्यभेददर्शनाच्च भिन्न इति यावत्, परिदृष्टः = उपलब्धः । तत्राऽनुभवाऽरोहिणो वर्तमानस्य मृत्पिण्डस्य शान्ता-

टि० (१) तत्र = तेषु परिणामेषु सप्तमी निर्धारणार्था इदं सूत्राऽन्वयि, सूत्रान्तर्गतमित्येके ।

(२) शान्ताः = अतीता, उदिताः = वर्तमाना, अव्यपदेश्याः = भविष्यन्तश्च, ये धर्मानुपातितास्तु = अन्वेतुं शीलं यस्याऽसौ शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्माऽनुपातीत्यर्थः ।

(३) फलप्रसवे = कार्योत्पादे यो भेदः = मृदेव घटस्तन्तुष्वेव पट इत्याकारको विशेषः, तेनाऽनुमितः सद्भावो = अव्यक्ताऽवस्थया कारणेऽवस्थानं यस्य स एवभूता योग्यतारूपो धर्म एकस्य धर्मिणोऽनेकविधो दृष्ट इत्यर्थः ।



भा० तत्र वर्त्तमानः स्वव्यापारमनुभवन् धर्मो धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाऽव्यपदेश्येभ्यश्च भिद्यते । यदा तु सामान्येन समन्वाऽऽगतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात्कोऽसौ केन भिद्येत । तत्र त्रयः खलु<sup>[१]</sup> धर्मिणो धर्माः—शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति । तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः, स्वव्यापारा उदिताः, ते चाऽनागतस्य लक्षणास्य समनन्तरा, वर्त्तमानस्याऽनन्तरा अतीताः, किमर्थमतीतस्याऽनन्तरा न भवन्ति वर्त्तमानाः, पूर्वपश्चिमताया अभावाद् । यथाऽनागतवर्त्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य<sup>[२]</sup> । तस्मान्नाऽतीतस्याऽस्ति समनन्तरः । तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्त्तमानस्येति ।

टी० ऽव्यपदेश्याभ्यां मृच्चूर्णमूदघटाभ्यां भेदमाह—“तत्र वर्त्तमान” इति । यदि न भिद्येत पिण्डवत् ‘तर्हि’ चूर्णघटयोरपि तद्वदेव स्वव्यापारव्याप्तिप्रसङ्ग इति भावः । अव्यक्तस्य तु पिण्डस्य नोक्तं भेद—साधनं सम्भवतीत्याह—“यदा तु” इति । कोऽसौ केन = भेदसाधनेन भिद्येत इति । तदेवं धर्माणां भेदसाधनमभिधाय तं भेदं विभजते—“तत्र यः खलु” इति । उदिता इति = वर्त्तमाना इत्यर्थः । अध्वनां पौर्वापर्यं निगमयति “ते च” इति । चोदयति = “किमर्थम्” इति । किं निमित्तमतीतस्याऽनन्तरा न भवन्ति वर्त्तमाना इत्यर्थः । हेतुमाह—“पूर्वपश्चिमताया अभावाद्” इति । विषयेण विषयिणीमनुपलब्धि<sup>[३]</sup> सूचयति । अनुपलम्भमेवोपलम्भवैधर्म्येण दर्शयति—“यथाऽनागतवर्त्तमानयोः” इति । उपसंहरति—“तद्” इति । तत् = तस्माद्, अनागत एव समनन्तरः पूर्वत्वेन भवति वर्त्तमानस्य नाऽतीतः, अतीतस्य वर्त्तमानः पूर्वत्वेन समनन्तरो नाऽव्यपदेश्यः ।

तस्मादध्वनां \* यविष्ठोऽतीत इति सिद्धम् । स्यादेतद् । † अनुभूयमानाऽनु-

टि० (१) तत्र ये खल्विति पाठान्तरं तु न स्वान्तं रज्जयतीव ।

(२) नैवमतीतस्य वर्त्तमानेन सह पूर्वपश्चिमभाव उपलभ्यत इत्यर्थः ।

(३) यद्यतीतोऽपि घटः पुनर्वर्त्तमानः स्यात्तदा स एवाऽयं घट इति कदाचित्प्रत्यभिज्ञायमान उपलभ्येत । नोपलभ्येत चाऽनो योग्याऽनुपलब्ध्याऽतीतव्यक्तेरनुमज्जनमेव निश्चीयते इति भावः । \* अतिशयेन युवा । † अनुभूयमानावनुभूतयेति पाठान्तरमपि न दुर्बोध्यम् ।



भा० अथाऽव्यपदेश्याः के ? सर्वे<sup>(१)</sup> सर्वात्मकमिति । यत्रोक्तं<sup>२</sup>

“जलभूम्याः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टं, तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेषु” इति। एवं जात्यनुच्छेदेन सर्वे सर्वात्मकमिति । देशकालाकारनिमित्ताऽपवन्धान्न खलु

टी० भूततया उदिताऽतीतौ शक्यावुन्नेतुमव्यपदेश्यास्तु पुनर्धर्मा अव्यपदेश्यतयैव शक्या नोन्नेतुमित्याशयवान् पृच्छति—“अथ” इति । अव्यपदेश्याः के केषु समीक्ष्यामहे\*। अत्रोत्तरमाह “सर्वे सर्वात्मकम् इति यत्रोक्तम्” इति। तदेवोपपादयति—“जलभूम्याः” इति। जलस्य हिरसरूपस्पर्शशब्दवत्, भूमेश्च गन्धरसरूपस्पर्शशब्दवत्याः पारिणामिकं<sup>(३)</sup> वनस्पतिलतागुल्मादिषु मूलफलप्रसवपलत्रादिगतरसादिवैश्वरूप्यं दृष्टम्। सोऽयमनेत्रमात्मिकाया भूमेरनीदृशस्य वा जलस्य न परिणामो भवितुमर्हति । उपपादितं हि नाऽसदुत्पद्यत इति। तथा स्थावराणां पारिणामिकं जङ्गमेषु = मनुष्यपशुमृगादिषु रसादिवैचित्र्यं दृष्टम्। उपभुञ्जानाहिते<sup>(४)</sup> फलादीनि रूपादिभेदसम्पदमासादयन्ति, एवं जङ्गमानां पारिणामिकं स्थावरेषु दृष्टम्। रुधिराऽवसेकात्किल दाडिमीफलानि तालफलमात्राणि भवन्ति । उपसंहरति “एवम्” इति । एवं सर्वे जलभूम्यादिकं सर्वरसाद्यात्मकम्। तत्र हेतुमाह “जात्यनुच्छेदेन” इति । जलत्वभूमित्वादिजातेः सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वेनाऽनुच्छेदात् । ननु सर्वे चेत् सर्वात्मकं हंत भोः सर्वस्य सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सन्निधानात्समानकालीना भावानां व्यक्तिः प्रसज्येत। न खलु सन्निहिताविकलकारणं कार्यं विलम्बितुमर्हत्यत आह—“देशकाल” इति । यद्यपि कारणं सर्वं

दि० ( १ ) सर्वे वस्तु सर्वात्मकं = सर्वशक्तिमदित्यर्थः। एवं च निखिलपरिणामिनि वस्तुनि अवस्थिताः सूक्ष्मरूपेण याः सर्वविकारजननशक्त्यस्ता एवाऽव्यपदेश्या इत्युच्यन्ते इति समाधानाऽर्थो बोध्यः। ( २ ) यत्र = सर्वे सर्वशक्तिमदित्यर्थः, पूर्वाचार्यैरेदं वक्ष्यमाणं प्रमाणमुक्तमित्यर्थः। ( ३ ) स्थावरेषु = इत्यर्थमाह—“वनस्पति” इत्यादिना वनस्पतिलतादिषु यत् फलपुष्पादिगतरसगन्धादिवैचित्र्यं दृष्टं तद् रसादिगुणवतो जलस्य गन्धादिगुणवत्याश्च भूमेः पारिणामिकं = परिणामनिमित्तकमित्यन्वयः । जलभूम्यार्विद्यमाना या रसादिविकारजननशक्तिः साऽव्यपदेश्येत्युच्यते इति भावः। ( ४ ) ते मनुष्यादयः फलादीन्युपभुञ्जाना इति संबन्धः ।

\* केषु वस्तुषु, के भविष्यन्तो धर्मा इति समीक्षार्थं पृच्छामः ।



मा० समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति । य एतेष्वभिव्यक्ताऽन-  
भिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी ।  
यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं <sup>(१)</sup> 'निरन्वयं तस्य भोगाऽभावः । कस्माद्,  
अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाऽधिक्रि-  
येत । तत्स्मृत्यभावश्च । नाऽन्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्याऽस्तीति,  
वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्चस्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्माऽन्यथात्वमभ्यु-  
पगतः प्रत्यभिज्ञायते । तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयम् इति ॥ १४ ॥

टी० सर्वात्मकं तथाऽपि यो यस्य कार्यस्य देशः <sup>(२)</sup> यथा कुङ्कुमस्य काश्मीरः  
तेषां सत्त्वेऽपि पाञ्चालादिषु न समुदाचार इति न कुङ्कुमस्य पाञ्चा-  
लादिष्वभिव्यक्तिः । एवं निदात्रे न प्रावृषः समुदाचार <sup>(३)</sup> इति न तदा शा-  
लीनाम् <sup>(४)</sup> । एवं न मृगी मनुष्यं प्रसूते । न तस्यां मनुष्याकारसमुदाचार  
इति । एवं नाऽपुण्यवान् सुखरूपं भुङ्क्ते, न तस्मिन् पुण्यनिमित्तस्य  
समुदाचार इति । तस्माद् देशकालाऽऽकारनिमित्तानाम् अपबन्धाद्=अप-  
गमान्न समानकालम्, आत्मनां=भावानाम् अभिव्यक्तिरिति । तदेवं धर्मान्  
विभज्य तेषु धर्मिणोऽनुगमं दर्शयति—“य एतेषु” इति । सामान्यं=धर्मि-  
रूपं, विशेषः=धर्मः, तदात्मा=उभयात्मक इत्यर्थः । तदेवमनुभवसिद्धम-  
नुगतं धर्मिणं दर्शयित्वा तमनिच्छतो वैनाशिकस्य क्षणिकं विज्ञानमात्रं  
चित्तमिच्छतोऽनिष्टप्रसङ्गमुक्तं <sup>(५)</sup> स्मारयति । “यस्य तु” इति । “वस्तु-  
प्रत्यभिज्ञानाच्च” इति । न हि देवदत्तेन दृष्टं यज्ञदत्तः प्रत्यभिज्ञानाति ।  
तस्माद् यदचाऽनुभविता स एव प्रत्यभिज्ञातेति ॥ १४ ॥

टि० ( १ ) धर्ममात्रम् इत्यस्य विवरणं ‘निरन्वयम्’ इति । यस्य = योगाचरस्य मते निर्ध-  
र्मिकं विज्ञानमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य मते कर्तृभोक्तृत्वयोर्वैय्यधिकरण्येन कृतनाश-  
कृताऽभ्यागमनप्रसङ्ग इत्यर्थः । ( २ ) यो यस्य देशस्तत्र तस्याऽभिव्यक्तिरिति शेषयित्वा  
व्याख्ययेम् । उदाहरति “यथा” इत्यादिना ( ३ ) समुदाचारः = विद्यमानता आविर्भाव  
इति यावत् । ( ४ ) शालीनामिश्रस्याऽग्रे अभिव्यक्तिपरित्याहरणीयम् । ( ५ ) उक्तम् =  
“तत्प्रतिषेधार्थमेकतस्याऽभ्यास” इति सूत्रे भाष्ये उक्तमित्यर्थः ।

\* पाञ्चालादिषु तेषां सत्त्वेऽपि नाऽऽविर्भाव इत्यर्थः । † अतः ।



सू० क्रमाऽन्यत्वं परिणामाऽन्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

भा० एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्तं<sup>(१)</sup> क्रमान्यत्वं परिणामाऽन्यत्वे हेतुर्भवतीति। तद् यथा चर्णमृत्, पिण्डमृत्, घटमृत्,<sup>(२)</sup> कपालमृत्, कणमृत्, इति च क्रमः । यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः। पिण्डः प्रच्यवते, घट उपजायते इति धर्मपरिणामक्रमः । लक्षणपरिणामक्रमो=घटस्याऽनागतभावाद्वर्तमानभावक्रमः। तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावक्रमः। नाऽतीतस्याऽस्ति क्रमः। कस्मात्, पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वं सा तु नास्त्यतीतस्य, तस्माद् द्वयोरेव टी० “क्रमाऽन्यत्वं परिणामाऽन्यत्वे हेतुः” ॥१५॥ किमेकस्य धर्मिण एक एव धर्मलक्षणाऽवस्थालक्षणः परिणामः? उत बहवो धर्मलक्षणाऽवस्थालक्षणाः परिणामाः। तत्र किं प्राप्तम्—एकत्वाद् धर्मिण एक एव परिणामः। न हि एकरूपात्कारणात्कार्यभेदो भवितुमर्हति। तस्याऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गाद् इति। एवं प्राप्ते उच्यते, “क्रमाऽन्यत्वात्परिणामाऽन्यत्वम्” एकस्या मृदश्चूर्णपिण्डघटकपालकणाऽऽकारपरिणतिपरम्परा क्रमवती लौकिकपरीक्षकै<sup>(३)</sup> रध्यक्षं समीक्ष्यते। अन्यच्चेदं चूर्णपिण्डयोरानन्तर्यम्, अन्यच्च पिण्डघटयोः, अन्यच्च घटकपालयोः। अन्यच्च कपालकणयोः। एकत्र<sup>(४)</sup> परस्याऽन्यत्र पूर्वत्वात्, सोऽयं क्रमभेदः परिणाम एकस्मिन्ननवकल्पमानः<sup>(५)</sup> परिणामभेदमापादयति। एकोऽपि च मृद् धर्मी क्रमोपनिपतिततत्तत्सहकारिसमवधानक्रमेण क्रमवती परिणामपरम्परा मुद्बहन् नैनामाकस्मिकयतीति भावः। धर्मपरिणामाऽन्यत्ववल्लक्षणपरिणामाऽन्यत्वेऽवस्थापरिणामाऽन्यत्वे च समानं क्रमाऽन्यत्वं हेतुरिति। तदेतद्भाष्येणाऽवद्योत्यते “एकस्य धर्मिण” इति। क्रमक्रमवतोर-

टि० (१) इति प्रसक्ते=इत्येवं पूर्वपक्षे प्राप्तं सति, क्रमभेद एव परिणामभेदे हेतुर्भवतीति सिद्धान्त्यत इत्यर्थः । प्रसक्तेरिति पाठे तु इति प्रसङ्गं परिहर्तुमित्येवं लपब्रूये पञ्चमी बोध्या ।

(२) घटोत्पत्तौ मृद्धर्मिणः क्रमं प्रतिपाद्य घटलयेऽपि मृदः क्रममाह “कपालमृत्कणमृद्” इति। सर्वत्र मृच्छब्दो मृद्धर्मिणः सर्वत्राऽनुगतत्वप्रदर्शनार्थः। (३) अप्राप्तशास्त्रजन्यधीप्रकर्षा लौकिकाः, प्राप्तशास्त्रजन्यधीप्रकर्षाः परीक्षकास्तैरित्यर्थः। (४) एकत्र परस्य=चूर्णाऽपेक्षया परस्य पिण्डरूपधर्मस्य घटाऽपेक्षया पूर्वत्वादित्यर्थः। एतेनापेक्षको धर्मधर्मिभाव इत्यपि ध्वनितम्।

(५) एकरिमन् परिणामेऽभ्युपगम्यमानेऽनुपपद्यमान इत्यर्थः ।



भा० लक्षणायोः क्रमः। तथाऽवस्था<sup>(१)</sup> परिणामक्रमोऽपि\* = घटस्या  
 ऽभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते सा च क्षणपरम्पराऽनुपातिना  
 क्रमेणाऽभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति धर्मलक्षणाभ्यां  
 च विशिष्टोऽयं<sup>२</sup> तृतीयः परिणाम इति । त एते क्रमाः, धर्मधर्मि-  
 भेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपा, धर्मोऽपि धर्मो भवत्यन्यधर्मस्वरूपा-  
 पेक्षयेति। यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचारस्तद्वद्वारेण स  
 एवाऽभिधीयते धर्मस्तदाऽयमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते ।  
 चित्तस्य द्वये धर्माः—परिदृष्टाश्चाऽपरिदृष्टाश्च ।

तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टा, वस्तुमात्राऽत्मका अपरिदृष्टाः।

टी० भेदमास्थाय स तस्य क्रम इत्युक्तं “तथाऽवस्थापरिणामक्रम” इति।—तथा हि  
 कीनाशन<sup>(३)</sup> कोष्ठाऽगारे प्रयत्नसंरक्षिता अपि हि व्रीहयो हायनैरतिबहुभिः  
 पाणिस्पर्शमात्रविशीर्यमाणाऽवयवसंस्थानाः परमाणुभावमनुभवन्तो दृश्य-  
 न्ते। न चायां मभिनवानामकस्मादेव प्रादुर्भवितुमर्हति। तस्मात् क्षणपरम्परा-  
 क्रमेण सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मबृहद्बृहत्तरबृहत्तमादिक्रमेण प्राप्तेषु विशिष्टोऽयं  
 लक्ष्यत इति । तदिदं क्रमाऽन्यत्वं धर्मधर्मिभेदमपेक्षत एवेत्याह “त एत” इति।  
 आ विकारेभ्य आ च लिङ्गाद् आपेक्षिको धर्मधर्मिभावो, मृदादेशपि तन्मात्रा-  
 ऽपेक्षया<sup>(४)</sup> धर्मत्वादित्याह “धर्मोऽपि” इति । यदा परमार्थधर्मिण्यलिङ्गेऽभेदोप-  
 चारप्रयोगः, तद्वद्वारेण = सामानाधिकरण्यद्वारेण धर्म्येव धर्म इति यावत्, त-  
 दैक एव परिणामो धर्मिपरिणाम एवेत्यर्थः। धर्मलक्षणाऽवस्थानां धर्मिस्वरूपा-  
 ऽभिनिवेशात्। तदनेन धर्मिणो दूरोत्सारितं कूटस्थनित्यत्वमित्युक्तप्राय-  
 म् । धर्मपरिणामं प्रतिपादयन् प्रसङ्गेन चित्तधर्माणां प्रकारभेदमाह “चि-  
 त्तस्य” इति । परिदृष्टाः = प्रत्यक्षाः, अपरिदृष्टा = अपरोक्षाः । तत्र प्रत्यया-  
 त्मकाः प्रमाणादयो रागादयश्च, वस्तुमात्रा इत्यप्रकाशरूपतामाह ।

- टि० (१) यद्यप्यवस्थापरिणामक्रमो धर्मपरिणामवन्नाऽध्यक्षं समीक्ष्यते, तथाप्यनुमानेन तं साध-  
 यति “तथा” इति । \* अपीयतोऽग्रे उच्यत इति शेषः । (२) विशिष्टः = धर्मलक्षणपरिणामयोः  
 प्रतिक्षणमनुत्पादादवस्थापरिणामस्य च प्रतिक्षणमुत्पादाद् धर्मलक्षणाभ्यामतिशयित इत्यर्थः ।  
 (३) कीनाशन = कृषिबलेनेत्यर्थः । \* अयम् = प्रशियिलाऽवयवसंस्थानत्वेन परमाणुभावः ।  
 (४) गन्धतन्मात्रादिसूक्ष्मभूताऽपेक्षयेत्यर्थः ।



भा० ते च सप्तैव भवन्ति अनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः।  
“निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् । चेष्टा शक्तिश्च  
चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिता” इति ॥ १५ ॥

अतो<sup>(१)</sup> योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये  
संयमस्य विषय उपक्षिप्यते—

टी० स्यादेतद्, अपरिदृष्टाश्चेन्न सन्त्येवेत्येत आह—“अनुमानेन” इति ।  
अनुमानेन प्रापितो वस्तुमात्रेण सद्भावो येषां ते तथोक्ताः । पञ्चान्मान-  
साधर्म्यादागमोऽप्यनुमानं, <sup>(२)</sup>सप्ताऽपरिदृष्टान् कारिकया संगृह्णाति—“नि-  
रोध” इति। निरोधो<sup>(३)</sup> वृत्तीनाम् = असम्प्रज्ञाताऽवस्था चित्तस्याऽऽगमतः,  
संस्कारशेषभावोऽनुमानतश्च \* समाधिगम्यते । धर्मग्रहणेन पुण्याऽपुण्ये  
उपलक्षयति। क्वचित्कर्मेतिपाठस्तत्राऽपि तज्जनिते पुण्याऽपुण्ये एव गृह्येते,  
ते चाऽऽगमतः, सुखदुःखोपभोगदर्शनाद्वाऽनुमानतो गम्येते । संस्कारस्तु  
स्मृतेरनुमीयते । एवं त्रिगुणत्वाच्चित्तस्य चलं च गुणवृत्तमिति प्रतिक्ष-  
णपरिणामोऽनुमीयते । एवं जीवनं = प्राणधारणप्रयत्नभेदोऽसंविदितश्चि-  
त्तस्य धर्मः श्वासप्रश्वासाभ्यामनुमीयते । एवं चेतसश्चेष्टा = क्रिया यथा  
यथा तैस्तैरिन्द्रियैः शरीरप्रदेशैर्वा सम्प्रयुज्यते साऽपि तत्संयोगादेवाऽनु-  
मीयते । एवं शक्तिरप्युद्धृतानां कार्याणां सूक्ष्माऽवस्था चेतसो धर्मः स्थू-  
लकार्याऽनुभवादेवाऽनुमीयत इति ॥ १५ ॥

अतः परमाऽऽपादपरिसमाप्तेः संयमविषयस्तद्वशीकारसूचनी विभूतिश्च  
वक्तव्या, तत्रोक्तप्रकारं परिणामत्रयमेव तावत्प्रथममुपात्तसकलयोगाङ्गस्य

टि० (१) अतः परं बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये=योगिनिज्ञासितार्थसाक्षात्काराय, धारणादिनिष्ठस्य  
योगिनः संयमस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते=विविच्य प्रदर्श्यते इत्यर्थः ।

(२) निराश्रमधर्मयोरगमगम्यत्वात्कथमनुमानमात्रप्रापितसदभावत्वमित्याशङ्क्याह “पश्चा-  
त्साधर्म्य” इति । एतेन प्रत्यक्षादनु = पश्चान्मानमित्यनुमानमिति व्युत्पत्त्याऽऽगमपदमनुमानवाच-  
कमपीत्युक्तम् । (३) कस्य निरोध इत्याकाङ्क्षां पूरयति-‘वृत्तीनाम्’ इति तस्यार्थमाह—“सम्प्रज्ञा-  
तेति” चित्तस्य सम्प्रज्ञातावस्था, आगमतः = योगशास्त्रात् समाधिगम्यत इत्यर्थः ।

\* एतच्च प्रथमे पादे ११ इति सूत्रे स्पष्टम् ।



सू० परिणामत्रयसंयमादतीताऽनागतज्ञानम् ॥ १६ ॥  
 भा० धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामेषु संयमाद् योगिनां भवत्यती-  
 ताऽनागतज्ञानम् । धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः,  
 तेन\* परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीताऽनागतज्ञानं तेषु  
 सम्पादयति ॥ १६ ॥

सू० शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराऽध्यासात्सङ्करस्तत्प्र-  
 विभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

भा० तत्रवाग् वर्णेष्वेवाऽर्थवती, श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्

टी० योगिनः संयमविषयतयोपक्षिपति-सू० “परिणामत्रयसंयमादतीताऽना-  
 गतज्ञानम् ॥ १६ ॥ ननु यत्र संयमस्तत्रैव साक्षात्करणं तत्कथं परिणाम-  
 त्रयसंयमोऽतीताऽनागते साक्षात्कारयेदित्यत आह—“तेन” इति । तेन परि-  
 णामत्रयं साक्षात्क्रियमाणं तेषु परिणामेष्वनुगते येऽतीताऽनागते तद्विषयं ज्ञा-  
 नं सम्पादयति । परिणामत्रयसाक्षात्करणमेव तदन्तर्भूताऽतीतानागतसाक्षा-  
 त्करणात्मकमिति न विषयभेदः संयमसाक्षात्कारयोरित्यर्थः ॥ १६ ॥ अयमपरः  
 संयमस्य विषय उपक्षिप्यते, सू० “श-नम्” । अत्र वाचकं शब्दमाचिख्यासुः  
 प्रथमं तावद् वाग्व्यापारविषयमाह—“तत्र” इति । वाग् = वागिन्द्रियं वर्ण-  
 व्यञ्जकमष्टस्थानम् । यथाह—“अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।  
 जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च” इति । सा वाग् वर्णेष्वेव यथा  
 लोकप्रतीतिसिद्धेष्वर्थवती, न च वाचक इत्यर्थः । श्रोत्रव्यापारविषयं निरू-  
 पयति—“श्रोत्रम्” इति । श्रोत्रं पुनर्ध्वनेरुदानस्य<sup>(१)</sup> वागिन्द्रियाऽभिधातिनोयः  
 परिणतिभेदो वर्णात्मा तेनाऽऽकारेण परिणतं तन्मात्रविषयं, न तु वाचक-

टि० (१) ध्वनेरित्यस्यार्थमाह “उदानस्य” इति । हृदयदेशादामत्य वागिन्द्रियाऽभिहतस्यो-  
 दानाख्यवायोर्षो वर्णाकारः परिणामविशेषस्तन्मात्रविषयं श्रोत्रं, न तु ध्वन्यपरिणामभूतवा-  
 चकपदविषयमित्यर्थः ।

\* संयमेन । † वर्णाऽऽकारेण ।



भा० पदं पुनर्नादाऽनुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यम् इति । वर्णा<sup>[१]</sup> एकसमया-

टी० विषयमित्यर्थः । यथालोकप्रतीतिसिद्धेभ्यो वर्णैभ्यो वाचकं भिनत्ति-“पदम्”  
इति। पदं पुनर्वाचकं नादाऽनुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यं—यथा प्रतीतिसिद्धान् ना-  
दान्—वर्णान् प्रत्येकं गृहीत्वाऽनु=पश्चाद्, या संहारति=एकत्वमापादयति  
गौरित्येतदेकं पदमिति, तथा पदं गृह्यते<sup>[२]</sup>। यद्यपि प्राच्योऽपि बुद्ध्यो वर्णाका-

टि० (१) वर्णाः प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते प्रामाणिकैरिति सम्बन्धः । अस्तु मिलितानां  
वाचकत्वमित्याशङ्क्य किं वास्तवः समूह आश्रीयते, किं वा कार्पनिकः? । न तावदाद्य इत्याह  
“एकसमयाऽसम्भवित्वाद्” इति । उच्चरितप्रध्वस्तानां वर्णानामेकसमयस्थित्यनर्हत्वात् परस्पर-  
निरनुग्रहात्मानः=असंवेदस्वभावा वर्णाः । अतो न वास्तवः समूह एषां संभवतीत्यर्थः । कथ-  
मुच्चरितप्रध्वंसिनो वर्णा इत्यत आह—“ते” इति । यतो वर्णाः पदत्वमप्राप्याऽत एवार्थमनुप-  
स्थाप्य क्षणेनैवाऽविर्भूय तिरोभूता उपलभ्यन्तेऽत उच्चरितप्रध्वंसिन इत्यर्थः । ये हि पदार्था  
एकस्मिन् देशे सहाऽवस्थिततयाऽनुभूयन्ते तेषु हि बहुषु समूहव्यपदेशः । यथैकस्मिन् देशे  
सहाऽवस्थिततयाऽनुभूयमानेषु धवखादिरपलाशेषु समूहव्यपदेशः । न च वर्णाः सहाऽवस्थितत-  
याऽनुभूयन्त इति न तेषां समूह इति भावः । नाऽपि कार्पनिकः समूहः सम्भवति । परस्पर-  
राश्रयप्रसङ्गाद् एकार्थप्रत्यायकत्वसिद्धौ तदुपाधिना वर्णेषु पदत्वप्रतीतिः, तत्सिद्धौ चैकार्थ-  
प्रत्यायकत्वसिद्धिरिति । ननु त्वयाऽप्यभिव्यक्त एव स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इत्यभ्युपगमोऽन्य-  
था तस्य नित्यत्वेन सर्वदार्थोत्पादप्रसङ्गः स्याद्, निरपेक्षस्य हेतोः सदातनत्वाद् । एवञ्च किं  
प्रत्येकं वर्णा व्यञ्जयन्ति स्फोटं, किं वा सम्भूयेति तवाऽपि पक्षे चोद्यं प्रसरति । यथाहुः कुमा-  
रिलभट्टाः “यस्याऽनवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः । सोऽपि पर्यनुयोगेन नैकेनाऽपि  
विमुच्यते” इति चेद्, अत्राहुः । यथा हि रत्नतत्त्वज्ञानं प्रथमप्रतीतौ स्फुटं न चकास्ति, अपि  
तु द्वित्रिचतुषाञ्चादिदर्शनजनितसंस्कारपरिपाकसच्चिवे चरमे चेतसि यथावदभिव्यज्यते, एवं  
ध्वनयोऽपि प्रत्येकं व्यञ्जयन्तोऽपि न द्रागित्येव स्फुटतरं स्फोटात्मानमवभासयन्ति, अपि तु  
पूर्वपूर्वाऽभिव्याजिजनितसंस्कारसच्चिवोऽन्त्यो ध्वनिः स्फुटतमं स्फोटमवभासयतीत्यन्यत्र विस्तरः ।

(२) गौरित्येतदेकं पदमित्येवमेकत्वमापादयति या बुद्धिस्तया बुद्ध्यया ग्रहणतिरिक्तं पदं  
गृह्यते तद्वाचकमित्यर्थः । एतेनैतदुक्तं भवति—वर्णव्यतिरिक्त एकप्रयत्नभ्यो नादा-  
ऽभिव्यङ्गोऽन्तःकरणग्राह्यो ध्वनिविशेषः शब्द एव वाचकः । स च स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति  
व्युत्पत्त्या स्फुटयते=अभिव्यज्यते वर्णैरिति व्युत्पत्त्या वा स्फोट इत्युच्यते शाब्दिकैरिति ।  
न च वर्णा एवाऽनुभूयन्ते, न तु तदतिरिच्यमानशरीरः स्फोट इति साम्प्रतम् । गौरित्येकं



भा०ऽसम्भवित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मानस्ते पदमसंस्पृश्याऽनुप-  
स्थाप्याऽऽविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते ।  
वर्णाः\*पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितःसहकारिवर्णा-

टी०रं पदमेव प्रत्येकं गोचरयन्ति तथाऽपि न विशदं प्रथतोचरमे तु विज्ञाने त-  
दतिविशदमिति नादाऽनुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमुक्तम् । यस्तु<sup>(१)</sup>वैजात्यादेकपदा-  
ऽनुभवमविज्ञाय वर्णनेव वाचकानाऽऽतिष्ठते तं प्रत्याह-“वर्णा”इति । ते  
खल्वमी वर्णाः प्रत्येकं वाच्यविषयां धियमादधीरन् नागदन्तका इव शिक्या-  
ऽवलम्बनं, संहता वा ग्रावाण इव पिठरधारणम् । न तावत्प्रथमः कल्पः । एक-  
स्मादर्थप्रतीतेरनुत्पत्तेः, उत्पत्तौ वा द्वितीयादीनामनुच्चारणप्रसङ्गः । निष्पा-  
दितक्रिये कर्मणि विशेषाऽनाधायिनः साधनस्य साधनन्यायाऽतिपातात् । त-  
स्माद् द्वितीयः परिशिष्यते । सम्भवति हि ग्रावाणां संहतानां पिठरधारणमेक-  
समयभावित्वाद्वा वर्णानां तु यौगपद्याऽसम्भवोऽतः परस्परमनुग्राह्याऽनुग्रा-  
हकत्वाऽयोगात्संभूयाऽपि नार्थधियमादधते । ते पदरूपमेकमसंस्पृशन्तस्तादा-  
त्म्येनाऽत एवाऽनुपस्थापयन्त आविर्भूतास्तिरोभूता अयःशलाकाकल्पाः  
प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते । यदि पुनः पदमेकं तादात्म्येन संस्पृशेयुर्वर्णास्त-  
तो नोक्तदोषप्रसङ्ग इत्याह-“वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा”इति । सर्वाऽभिधान-  
शक्तिप्रचितः=सर्वाभिरभिधानशक्तिभिर्निश्चितो, गौः, गणः, गौरं, नग,

\* वर्ण—इत्यादि, द्योतयन्तीत्यन्तमेकं वाक्यमिति बोध्यम् ।

टि० पदं गामानय शुक्लमित्येकं वाक्यमित्येवं नानावर्णपदातिरिक्तैकपदवाक्यावगतेः सर्वजनीनत्वा-  
द् । न चेयमेकत्वबुद्धिरभिन्नवस्तुनिर्भासा परस्परव्यतिरिच्यमानात्मनो वर्णनेव गोचरयितुमर्हति ।  
एकत्वनानात्वयोरेकत्राऽसमवायाद् । नाऽप्ययमौपाधिक एकत्वप्रत्ययः । उपाधेर्दुर्निरूपत्वात् ।  
तथाहि एकबुद्धिग्राह्यतारूपो वोपाधिः स्याद्, एकार्थधीहेतुतारूपो वा । न तावदाद्यः । एक-  
बुद्धिनिर्ग्राह्याणामपि धवखादिरपलशानामेकत्वनिर्भासप्रत्ययाऽनियतत्वाद् । अन्यथा धवखादि-  
पलशा इति न जातु स्याद् । नाऽपि द्वितीयः । किं प्रत्येकं वाचका उत मिलिता इत्यादिना  
वर्णेष्वेकार्थधीहेतुताया अनुपदं निराकरिष्यमाणत्वाद् इति दिक् ।

(१) यस्तु=उपवर्णाऽचार्यमताऽनुयायी शबरस्वामी, कुमारिलभट्टश्च इत्यर्थः ।



भा० न्तरप्रतियोगित्वाद्द्वैश्वरूप्यमिवाऽऽपन्नः पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्चपूर्वेणाविशेषेऽवस्थापितइत्येवंवहवोवर्णाः क्रमाऽनुरोधिनाऽर्थसङ्केतेन

टी० इत्यादिषु हि गकारो गोत्वाद्यर्थाऽभिधायिषु दृष्ट इति तत्तदभिधानशक्तिः । एवं, सोमः शोचिरित्यादिष्वीश्वरार्थाऽभिधायिषु पदेष्वोवर्णो दृष्टः सोऽपि तत्तदभिधानशक्तिः । एवं सर्वत्रोहनीयम् । स चैकैको वर्णो गकारादिः सहकारि, यद्वर्णान्तरमोकारादितदेव प्रतियोगि = प्रतिसंबन्धि यस्य तत्तथोक्तस्तस्यभावस्तत्त्वं तस्माद्द्वैश्वरूप्यं = नानात्वमिवाऽऽपन्नं न तु नानात्वमापन्नस्तस्य तत्त्वादेव, पूर्वो वर्णः = गकार उत्तरेणोकारेण गणादिपदभ्यो व्यावर्त्य उत्तरश्चौकारो गकारेण शोचिरादिपदभ्यो व्यावर्त्य विशेषे = गोत्ववाचके गोपदस्फोटेऽवस्थापितोऽनुसंहारबुद्धौ । अयमभिसन्धिः — अर्थप्रत्ययो हि वर्णान्नियतक्रमतया परस्परमसम्भवान्निराशक्यः कर्तुमानं च संस्कारद्वारा<sup>(१)</sup>ऽऽग्नेयादीनामिव परमाऽपूर्वं वा स्वर्गे वा जनयितव्येऽनियतक्रमाणामपि साहित्यमर्थबुद्धयुपजनने वर्णानामिति साम्प्रतम् । विकल्पाऽसहत्वात् । स खल्वयं वर्णोऽनुभवजन्यः संस्कारः स्मृतिप्रसवहेतुः<sup>(२)</sup>, अन्योवाऽऽग्नेयादिजन्य इवाऽपूर्वाभिधानः । न तावदनन्तरः । कल्पनागौरवाऽऽपत्तेः । स एवं<sup>(३)</sup> तावददृष्टपूर्वः कल्पनीयस्तस्य च क्रमवर्द्धिर्वर्णाऽनुभवेरेकस्य जन्यत्वं न सम्भवतीति तज्जातीयाऽनेकाऽवान्तरसंस्कारकल्पनेति गौरवम् । नचैष<sup>(४)</sup> ज्ञापकहेत्वङ्गमज्ञातस्तदङ्गतामनुभवतीति । न खलु

टि० ( १ ) ननु यथा स्वरूपतः साहित्याऽभावेऽप्याग्नेयादियागानां संस्कारद्वारा साहित्यं परिकल्प्य परमाऽपूर्वजनकत्वमभ्युपेयते तथा वर्णानां स्वरूपतः साहित्याऽभावेऽपि संस्कारद्वारा साहित्यमादाय कथं नाऽर्थहेतुत्वमभ्युपेयम् । यदाहुः — “यथाऽऽग्नेयादिकर्माणि क्रमवर्तीनि सन्त्यऽपि । संहस्य कुर्वते कार्यमेवं वर्णास्तथैव नः” इति, इत्याशङ्कं निषेधति “न च । संस्कारद्वारा” इति । ( २ ) स्मृतिप्रसवहेतुः = भावनाऽपरनामा स्मृतिजननहेतुरित्यर्थः ।

( ३ ) कल्पनागौरवमेवाह “स एव” इति । स एव = अपूर्वाख्यः संस्कार एवेत्यर्थः । आग्नेयादिषु शास्त्रबलात्तथा कल्पनेऽप्यत्र तथा कल्पने मानाभाव इत्यन्यत्र विस्तरः ।

( ४ ) न कवंले कल्पनागौरवं, किन्त्वितरेतराश्रयदोषोऽपीत्याशयेनाऽऽह “नचैव” इति । अत्रेदं बोध्यम् । न हि शब्दः स्वरूपतोऽङ्गतो वाऽविदितोऽविदितसङ्गतिरर्थहीनेतुश्चक्षु-



टी० संबन्धोऽर्थप्रत्यायनाऽङ्गमज्ञातोऽङ्गतामुपैति । स्मृतिफल<sup>(१)</sup>प्रसवाऽनु-  
मितस्तु संस्कारः स्वकारणाऽनुभवविषयनियतो न विषयान्तरे<sup>(२)</sup> प्रत्ययमाधा-  
तुमुत्सहते। अन्यथा<sup>(३)</sup> यत्किञ्चिदेवैकमनुभूय सर्वः सर्वं जानीयाद् इति ।  
नच प्रत्येकवर्णाऽनुभवजनितसंस्कारपिण्डलब्धजन्मस्मृतिदर्पणसमारोहि-  
णो वर्णाः समधिगतसहभावा वाचका इति साम्प्रतं, क्रमाऽक्रमविपरीत-  
क्रमाऽनुभूतानां तत्राऽविशेषणार्थधीजननप्रसङ्गाद्<sup>(३)</sup> । नचैतत्स्मरणज्ञानं  
पूर्वाऽनुभववर्तिनीं परस्परतां गोचरयितुमर्हति। तस्माद् वर्णेभ्योऽसम्भवन्न-  
ऽर्थप्रत्यय एकपदाऽनुभवमेव स्वनिमित्तमुपकल्पयति। नचैष पदेऽपि प्रस-  
ङ्गः। तादृि प्रत्येकमेव प्रयत्नभेदभिन्ना ध्वनयो व्यञ्जयन्तः परस्परविस-  
दृशतत्तत्पदव्यञ्जकध्वनिभिस्तुल्यस्थानकरणनिष्पन्नाः सदृशाः सन्तो-  
ऽन्योऽन्यविसदृशैः पदैः पदमेकं सदृशमापादयन्तः प्रतियोगिभेदेन तत्सा-  
दृश्यानां भेदात्तदुपधानादेकमपि अनवयवमपि सावयवमिवाऽनेकात्मकमि-  
वाऽवभासयन्ति। यथा नियतवर्णपरिमाणसंस्थानं मुखमेकमपि मणिंकृषा-  
णदर्पणादयो विभिन्नवर्णपरिमाणसंस्थानमनेकमादर्शयन्ति, न परमार्थतः  
सादृश्योपधानकल्पिता भागा एव निर्भागस्य पदस्य वर्णाः। तेन  
तद्वुद्धिर्वर्णरूपिणा पदभेदे स्फोटमभेदमेव निर्भागमेव सभेदमिव स-  
भागमिवाऽऽलम्बते। अतो गोपदस्फोटभेदस्यैकस्य गकारो भागो गौरा-  
दिपदस्फोटसादृश्येन न निर्वह्यति स्वभागिनम्\*इत्याकारेण विशिष्टो नि-

टि० रादिबद्, अपि तु विदितो विदितसङ्गतिर्विदितसमस्तज्ञापनाङ्गद्वय धूमादिबद् प्रत्यायकः।  
अत एवाचरितस्य वधिरेणाऽगृहीतस्य गृहीतस्य वाऽगृहीतसङ्गतेर्वा नाऽर्थप्रत्यायकत्वम्।  
एवञ्चापूर्वाख्योऽस्य संस्कारः प्रत्यायनाङ्गमित्यर्थप्रत्ययात् प्रागवगन्तव्यः। न च तदाऽस्या-  
ऽवगमोपायोऽस्ति। अर्थप्रत्ययास्तु तदवगमे इतरेतराश्रयप्रसङ्गः। संस्काराऽवसायादर्थप्रत्ययो-  
ऽर्थप्रत्ययाच्च संस्काराऽवसाय इति । (१) अस्तु तर्हि भावनाख्यः संस्कार इत्यत आह “स्मृ-  
तिफल” इति । विषयान्तरे=अर्थप्रत्ययजनने इत्यर्थः । (२) अन्यथा=यो यद्गोचरा-  
नुभवयोगिनः संस्कारः स तत्रैव धियमावृत्ते, नाऽन्यत्रतिनियमाऽनस्युपगमे सति इत्यर्थः ।

( ३ ) वननवनरीदीनजसराजादिपदस्यार्थभेदप्रतीत्यभावप्रसङ्गादिति भावः। न हि येनैव  
क्रमेणाऽनुभूयते तेनैव क्रमेण स्मर्यत इति नियमः। क्रमेणाऽनुभूतानां व्युत्क्रमेणापि स्मरण-  
दर्शनीयत्वाद् “न चेतद्” इति । \*स्वः=आत्मा भागः कश्चितोऽवयवो यस्य तं गोपदस्फोटम्।



भा० अवच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाऽभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारौकार-  
विसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति । तदेतेषामर्थसङ्केतेना-  
ऽवच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं  
टी० धारयति । एवमोकारोऽपि भागः शांचिरादिपदसदृशतया न शक्तो निर्धारयि-  
तुं स्वभागिनं गोपदस्फोटमिति गकारेण विशिष्टो निर्धारयति । असहभावि-  
नामपि च संस्कारद्वारेणाऽस्ति सहभाव इति विशेष्यविशेषणभावोपपत्तिः । न  
च भिन्नविषयत्वं संस्कारयोः, भागद्वयविषययोरनुभवयोस्तज्जन्मनोश्च सं-  
स्कारयोरेकपदविषयत्वात् । केवलभागाऽनुभवेन पदमव्यक्तमनुभूयतेऽनुसं-  
हारधिया तु भागाऽनुभवयोनिसंस्कारलब्धजन्मना व्यक्तमिति विशेषः ।  
अव्यक्ताऽनुभवाश्च प्राञ्चः संस्काराधानक्रमेण व्यक्तमनुभवमादधाना दृष्टा,  
यथा दूराद्वनस्पतौ हस्तिप्रत्यया<sup>(१)</sup> अव्यक्ता व्यक्तवनस्पतिप्रत्ययहेतवः । न-  
चेयं विधा वर्णानामर्थप्रत्यायने सम्भाविनी । नो खलु वर्णाः प्रत्येकमव्यक्तमर्थ-  
प्रत्ययमादधत्यन्ते व्यक्तमिति शक्यं वक्तुम् । प्रत्यक्षज्ञान एव नियमाद् व्यक्ता-  
ऽव्यक्तत्वस्य । वर्णाधेयस्त्वर्थप्रत्ययो न प्रत्यक्षः । तदेष वर्णेभ्यो जायमानः  
स्फुट एव जायेत, न वा जायेत, न त्वस्फुटः । स्फोटस्य तु ध्वनिव्यङ्ग्यस्य प्र-  
त्यक्षस्य सतः स्फुटाऽस्फुटत्वे कल्प्येते इत्यसमानम् । एवं प्रत्येकवर्णाऽनुभ-  
वजनितसंस्कारसहितश्रोत्रलब्धजन्मन्यनुसंहारबुद्धौ संहता वर्णा एकपद-  
स्फोटभावमापन्नाः प्रयत्नविशेषव्यङ्ग्यतया<sup>२</sup> प्रयत्नाविशेषस्य च नियत-  
क्रमापेक्षतया क्रमाऽन्यत्वे तदभिव्यञ्जकप्रयत्नविशेषाऽभावेन तदभि-  
व्यक्त्यभावप्रसङ्गात् क्रमाऽनुराधिनीऽर्थसङ्केतेनाऽवच्छिन्नाः सङ्केताऽवच्छे-  
दमेव लौकिकं सभागपदविषयं दर्शयन्ति । इयन्तो = द्वित्राः, त्रिचतुराः,  
पञ्चषा, एते सर्वाऽभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्ना-

टि० (१) यथा दूरादवस्थितः सहकारतरुः पूर्वं हस्तिपलालकूटसाधारणेन रूपेण प्रतिभासते, पुन-  
रालोच्यमानो वृक्षात्मना प्रकाशते, पुनश्च सहकारात्मना स्फुटं प्रतीयते, तद्वदिति भावः । सर्वत्रोप-  
लभ्यमानमपि 'अस्तिप्रत्यया' इति पाठं तच्च विन्द्यनुसारेणैषैक्षिषि । (२) प्रयत्नविशेष-  
व्यङ्ग्यतया क्रमाऽनुराधिनि इत्यग्निमेणाऽन्वयः । तदुपपादनप्रकारपरः शेषग्रन्थाः



भा० वाचकं वाच्यस्य सङ्केत्यते। तदेकं पदमेकबुद्धिविषय एकप्रयत्नाक्षिप्तम्। अभागमक्रममवर्णं बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाऽभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनाऽनुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धव-

टी० दिमन्तमर्थमवद्यांतयन्ति । तत्किमिदानीं सङ्केताऽनुसारेण वर्णानामेव वाचकत्वम्। तथाच न पदं नाम किञ्चिदेकमित्यत आह—“तदेतेषाम्” इति। ध्वनिनिमित्तः क्रमो ध्वनिक्रमः। उपसंहृतो ध्वनिक्रमो येषु ते तथोक्ताः। बुद्ध्या निर्भास्यते प्रकाश्यते इति बुद्धिनिर्भासः, सङ्केताऽवच्छिन्नाः। स्थूलदर्शिलोकाऽऽशयाऽनुरोधेन गकारौकारविसर्जनीया इत्युक्तम्। गकारादीनामपि तद्भागतया तादात्म्येन वाचकत्वात्। प्रतीयनुसारस्त्वेकमेव पदं वाचकमित्यर्थः। एतदेव स्पष्टयति—“तदेकम्” इति। तदेकं पदं लोकबुद्ध्या प्रतीयत इति संबन्धः। कस्मादेकमित्यत आह—“एकबुद्धिविषय” इति। गौरित्येकं पदमित्येकाकाराया बुद्धेर्विषयो यतस्तस्मादेकम्। तस्य व्यञ्जकमाह—“एकप्रयत्नाक्षिप्तम्” इति। रस इति पदव्यञ्जकात्प्रयत्नाद्विलक्षणः सरः, इति पदव्यञ्जकः प्रयत्नः, सचोपक्रमतः सर—इति पदाऽभिव्यक्तिलक्षणफलाऽवच्छिन्नः पूर्वाऽपरीभूत एकस्तदाऽऽक्षिप्तम्। भागानां सादृश्यापधानभेदकल्पितानां परमार्थसतामभावाद् अभागम्। अत एव पूर्वाऽपरीभूतभागाऽभावादक्रमम्। ननु वर्णाः पूर्वाऽपरीभूतास्ते चाऽस्य भागा इति कथमक्रमभागं चेत्यत आह—“अवर्णम्” इति। न ह्यस्य वर्णा भागाः, किन्तु सादृश्यापधानभेदात्पदमेव। तेन तदाऽऽकारेणाऽपरमार्थसता प्रथते। न हि माणि कृपाणदर्पणादिवर्तीनि मुखानि मुखस्य परमार्थसतोऽवयवा इति। बौद्धम् = अनुसंहारबुद्धिविदितम्। अन्त्यवर्णप्रत्ययस्य व्यापारः = संस्कारः पूर्ववर्णाऽनुभवजनितसंस्कारसहितः, तेनोपस्थापितं = विषयीकृतम्। वर्णाऽनुभवतत्संस्काराणां च पदविषयत्वमुपपादितमधस्ताद्। स्यादेतद् अभागमक्रममवर्णं चेत् पदतत्त्वं कस्मादेवंविधं कदाचिन्न प्रथते। न हि लाक्षारसाऽवसेकोपधानाऽऽपादिताऽरुणभावः स्फटिकमणिस्तदपगमे स्वच्छो धवलो नानुभूयते। तस्मात्परमार्थिका एव वर्णा इत्यत आह “परत्र” इति। प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाऽभिधीयमानैः = उच्चार्यमाणैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरना-



भा० त्मं प्रतिपत्त्या प्रतीयते, तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभाग=एताव-  
तामेवज्जातीयकोऽनुसंहार एकस्याऽर्थस्य वाचक इति। सङ्केतस्तु  
पदपदार्थयोरितरेतराऽध्यासरूपः स्मृत्याऽऽत्मको, योऽयं<sup>(१)</sup> शब्दः

टी० दियोऽयं वाग्व्यवहारो विभक्तवर्णपदानिबन्धनः, तज्जनिता वासना  
साप्यनादिरेव तदनुविद्धया=तद्वासितया लोकबुद्ध्या विभक्तवर्ण-  
रचितपदावगाहिन्या सिद्धवत्=परमार्थवत् सम्प्रतिपत्त्या=संवादेन वृद्धा-  
नां पदं प्रतीयते । एतदुक्तं भवति-अस्ति कश्चिदुपाधिर्य उपधेयेन संयुज्यते  
वियुज्यते च । यथा लाक्षादिः । तत्र तद्वियोगे स्फटिकः स्वाभाविकेन स्वच्छ-  
ध्वलेन रूपेण प्रकाशत इति युज्यते। पदप्रत्ययस्य तु प्रत्ययभेदोपनीतध्वनि-  
भेदादन्यतोऽनुत्पादात्तस्य च सदा सादृश्यदोषरूपिततया वर्णात्मनैव प्रत्य-  
यजनकत्वमिति कुतो निरुपाधिनः पदस्य प्रथा<sup>(२)</sup>। यथाहुः-“ध्वनयः सदृशा-  
ऽऽत्मानो विपर्ययासस्य हेतवः । उपलम्भकमेतेषां विपर्ययासस्य कारणम् ।  
उपायत्वाच्च नियतः पददर्शितदर्शिनाम्। ज्ञानस्यैव च बाधेयं लोके ध्रुवमुप-  
प्लव” इति । यतः पदाऽऽत्मा विभक्तवर्णरूपितः प्रकाशते। अतः स्थूलदर्शी-  
लोको वर्णानेव पदमभिमन्यमानस्तानेव प्रकारभेदभाजोऽर्थभेदे सङ्केतयती-  
त्याह “तस्य” इति । तस्य पदस्याऽऽजानत<sup>(३)</sup> एकस्याऽपि सङ्केतबुद्धितः स्थू-  
लदर्शिलोकहिताय वर्णाऽऽत्मना विभागः । विभागमाह-“एतावताम्”  
इति । एतावतां न न्यूनानामधिकानां वा, एवं जातीयको नैरन्तर्यक्रमवि-  
शेषः । अनुसंहार=एकबुद्ध्युपग्रह, एकस्याऽर्थस्य=गोत्वादेर्वाचक इति ।  
ननु यद्येकस्याऽर्थस्याऽयं शब्दो वाचक इति सङ्केतो, हन्त भोः शब्दार्थयोर्ने-  
तरेतराध्यासस्तर्हीत्यत आह,—“सङ्केतस्तु” इति । स्मृतावात्मा=स्वरूपं

\* स्मृत्यात्मक इत्यस्य पाणिन्याद्यनुशासनबाध्य इत्यर्थ इति शाब्दिकमञ्जूषाकारः ।

आधुनिकनामादिकल्पनाव्यावर्त्तनाय स्मृत्यात्मक इति, इति मिश्रः ।

टि० ( १ ) सङ्केतस्याऽध्यासरूपत्वं स्पष्टयति—योऽयमित्यादिना, भवतीत्यन्तेन।

( २ ) रुदितहासितादौ वर्णाभिन्नत्वेन ध्वनेः प्रतीतिसत्त्वेऽपि परन्तु सादृश्यदोषसंवलित-  
तया वर्णात्मनैव ध्वनीनां प्रत्ययजनकत्वोपलब्धेर्न निरुपाधिकपदत्वप्रतीतिरिति भावः ।

( ३ ) आजानतः = स्वभावतः पदस्यैकस्याऽपि सङ्केतबुद्ध्या वर्णात्मन विभाग इत्यन्वयः ।



भा० सोऽयमर्थः, योऽर्थः स शब्द इत्येवमितरेतराऽध्यासरूपः स-  
ङ्केतो भवति, इत्येवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराऽध्यासात्सङ्की-  
र्णा, गौरिति<sup>(१)</sup> शब्दो, गौरित्यर्थो गौरितिज्ञानमाय एषाम्प्रविभा-  
गज्ञः स सर्ववित् । सर्वपदेषु चाऽस्ति वाक्यशक्तिः, वृक्षइत्युक्ते-  
ऽस्तीति गम्यते, न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति । तथा न ह्यसाधना

टी० यस्य सतथोक्तः । न हि कृत इत्येव सङ्केतोऽर्थमवधारयत्यपि तु स्मर्य-  
माणः । एतदुक्तं भवति—अभिन्नाकार एव सङ्केते कथञ्चिद् भेदं विकल्प्य  
षष्ठी<sup>(२)</sup> प्रयुक्तेति । य एषां प्रविभागज्ञः स तत्र<sup>(३)</sup> संयमे भवति सर्व-  
वित्=सर्वभूतरुतज्ञ इति । तदेवं विकल्पितवर्णभागमेकमनवयवं पदं व्यु-  
त्पाद्य कल्पितपदविभागं वाक्यमेकमनवयवं व्युत्पादयितुमाह,—“सर्वप-  
देषु चाऽस्तिवाक्यशक्तिः” इति । अयमभिसन्धिः—परप्रत्यायनाय शब्दः  
प्रयुज्यते । तदेव च परं प्रति प्रतिपादयितव्यं यत्तैः प्रतिपित्सितम् । तदेव  
च तैः प्रतिपित्सतं, यदुपादानादिगोचरः । न पदार्थमात्रं तद्गोचरः, किन्तु  
वाक्यार्थ, इति वाक्यार्थपरा एव सर्वे शब्दाः । तेन स एव तेषामर्थः । अतो  
यत्राऽपि केवलस्य पदस्य प्रयोगस्तत्रापि पदान्तरेण<sup>(४)</sup> सहैकीकृत्य ततोऽर्थो  
गम्यते न तु केवलात् । कस्मात्, तन्मात्रस्याऽसामर्थ्यात् । तथाच वाक्यमेव  
तत्र तत्र वाचकं, न तु पदानि । तद्भागतया<sup>(५)</sup> तु तेषामप्यस्तिवाक्यार्थ-  
वाचकशक्तिः पदार्थ इव पदभागतया वर्णानाम् । तेन यथा वर्ण  
एकैकः सर्वपदार्थाऽभिधानशक्तिप्राचित एवं पदमप्येकैकं सर्ववाक्यार्था-  
ऽभिधानशक्तिप्राचितम् । तदिदमुक्तं—“सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः, वृक्ष  
इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते ” = अध्याहृताऽस्तिपदसहितं वृक्ष इति पदं  
वाक्यार्थे वर्तत इति\* तद्भागत्वाद् वृक्षपदं तत्र वर्तत इत्यर्थः । कस्मात्

टि० ( १ ) सङ्करमाह—“गौः” इत्यादिना । ( २ ) षष्ठी = पदपदार्थयोरिति षष्ठीत्यर्थः ।  
( ३ ) तत्र = प्रविभागविषये संयमे क्रियमाणे सतीत्यर्थः । ( ४ ) पदान्तरेण = अध्याहृताऽ-  
स्त्यादिपदान्तरेणेत्यर्थः । ( ५ ) तद्भागतया = वाक्याऽवयवतयेत्यर्थः । \* अतः ।



भा० क्रियाऽस्तीति । तथाच, पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपो,  
नियमार्थो<sup>[१]</sup>ऽनुवादः कर्तृकर्मकरणानां चैत्राऽग्नितण्डुलाना-  
मिति । दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचनं, श्रोत्रियँश्छन्दोऽधीते, जीवति  
प्राणान् धारयति<sup>[२]</sup> । तत्र वाक्ये पदार्थोऽभिव्यक्तिः । ततः

टी० पुनरस्तीति गम्यत इत्यत आह—“न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति”  
इति । लोक एव हि पदानां<sup>१</sup>ऽमर्थोऽवधारणोपायः, स च केवलं पदार्थमस्यर्थे-  
नाभिसमस्य<sup>[३]</sup> सर्वत्र वाक्यार्थीकरोति । सोऽयमव्यभिचारः सत्तया पदार्थ-  
स्य । अत एव शब्दवृत्तिविदां<sup>[४]</sup> व्यवहारः—“यत्रान्यत् क्रियापदं नास्ति तत्रा-  
ऽस्ति भवन्तीपरः प्रयोक्तव्य” इति । क्रियाभेदाऽव्यभिचारि प्रातिपदिकमु-  
क्त्वा क्रियाभेदं कारकाऽव्यभिचारिणं दर्शयति— “तथाच पचतीत्युक्ते”  
इति । पचतीत्युक्ते हि कारकमात्रस्य तदन्वययोग्यस्याऽवगमाद् अन्यव्या-  
वृत्तिपरस्तद्भेदानामनुवादः । तदेवं भेद एव वाक्यार्थ इति । तथाऽनपेक्षमपि  
पदं वाक्यार्थे वर्त्तमानं दृश्यत इति सुतरामस्ति वाक्यशक्तिः पदानामि-  
त्याह—“दृष्टञ्च” इति । नचैतावताऽपि श्रोत्रियादिपदस्य स्वतन्त्रस्यैवं-  
विधाऽर्थप्रत्यायनं, न यावदस्यादिभिरभिसमासोऽस्य भवति । तथाचाऽस्या-  
ऽपि वाक्याऽव्यवत्वात्कल्पितत्वमेवेति भावः । स्यादेतत्, पदानामेव चेद्वा-  
क्यशक्तिः, कृतं तर्हि वाक्येन; तेभ्य एव तदार्थाऽवसायादित्यत आह—  
“तत्र वाक्य” इति । उक्तमेतच्च केवलं पदात्पदार्थः प्रतिपित्सितः प्रती-

टि० ( १ ) नन्वाऽऽक्षेपस्वीकारे कारकाच्चकपदानां कुत्राऽपि प्रयोगो न स्यादित्यत आह  
“नियमार्थोऽनुवाद” इति । कारकान्तरव्यावृत्त्यर्थं श्रेत्रादिकर्त्रादिकारकाणां प्रयोगः क्रियत इति  
भावः । एतच्च “पदार्थोऽभिसम्बन्धस्योपलब्धिर्भवति वाक्ये” इत्यादिनाऽर्थवत्सूत्रे महाभाष्ये-  
ऽपि स्पष्टमुपदिष्टमिति तत् एव निरीक्ष्यम् । ( २ ) छन्दोऽधीत इति वाक्यस्यार्थे श्रोत्रिय इति  
पदरचनं दृष्टं, प्राणान्धारयतीति वाक्यार्थे जीवतीति पदं दृष्टमित्यर्थः । ( ३ ) अभिसमस्य = अ मे-  
संबन्ध ( ४ ) शब्दवृत्तिविदां = “अस्ति भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्य-  
ते” इति वदतां कात्यायनमुनिमुख्यानामित्यर्थः । को व्यवहार इत्यत आह “यत्र” इति ।  
अस्ति = असम्भावुः, भवन्तीपरः = लट्परक इत्यर्थः । भवन्तीति लटः संज्ञा प्राचाम् ।



पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं<sup>[१]</sup> क्रियावाचकं कारकवाचकं वा, अन्यथा भवति । अश्वः, अजापय इत्येवमादिषु नामाऽऽख्या-  
त सारूप्यादानिर्ज्ञातं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति ।  
तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः । तद् यथा—श्वेतते प्रासाद  
इति क्रियार्थः । श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः, क्रिया-

टी० यत्, न यावदेतत्पदाऽन्तरेणाऽभिसमस्यत इति । तथा च वाक्यात्पदा-  
न्यपोद्धृत्यकल्पितानि वाक्यार्थाच्चाऽपोद्धृत्य तदेकदेशं कारकं वा, क्रियां वा  
तत्पदं प्रकृत्यादिविभागकल्पनया व्याकरणीयं = व्याख्येयम्\* । किमर्थं पुन-  
रेतावता क्लेशेनाऽन्वाऽऽख्यायत इत्यत आह—“अन्यथा” इति । घटो  
भवति, भवति भिक्षां देहि, भवति तिष्ठति, इति नामाऽऽख्यातयोश्च  
साम्याद् । एवम्, अश्वस्त्वम्, अश्वो यातीति । एवमजापयः पिब, अजा-  
पयः शत्रून् इति नामाऽऽख्यातसारूप्यादानिर्ज्ञातं नामत्वेनाऽऽख्यातत्वेन  
वा, अन्वाऽऽख्यानाऽभावे निष्कृष्याऽज्ञानं कथं क्रियायां वा कारके वा  
व्याक्रियेत । तस्माद्वाक्यात्पदान्यपोद्धृत्य व्याख्यातव्यानि, न तु अन्वा-  
ऽऽख्यानादेव पारमार्थिको विभागः पदानामिति । तदेवं शब्दरूपं व्युत्पाद्य  
शब्दार्थप्रत्ययानां सङ्केताऽऽपादितसङ्कराणामसङ्करमाख्यातुमुपक्रमते—  
“तेषां शब्दार्थप्रत्ययानाम्प्रविभाग” इति । “तदयथा श्वेतते प्रासाद इति  
क्रियार्थः शब्दः” = स्फुटतरो ह्यत्र पूर्वाऽपराभूतायाः क्रियायाः साध्य-  
रूपायाः, सिद्धरूपः क्रियार्थः श्वेत इति भिन्नः शब्दः<sup>(२)</sup> । यत्राऽपि शब्दा-  
र्थयोः सिद्धरूपत्वं तत्राऽप्यर्थादास्ति शब्दस्य भेद इत्याह—“श्वेतः प्रासाद  
इति कारकार्थः शब्द” इति । अभिहितत्वाच्च कारकविभक्तेरभावः ।

टि० ( १ ) यतो वाक्यार्थेऽपि पदरचना भवत्यतः सन्देहस्थलं पदं प्रकृतिप्रत्ययविभा-  
गेनाऽन्वाख्याय वाक्येन विवरणीयमित्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह “अन्यथा” इति । भवति-  
इति पदमाख्यातत्वेन, घटो भवतीत्यर्थकम् ? उत संबुद्धयन्तत्वेन, भवति भिक्षां देहीत्यर्थकम्,  
आहो सप्तम्यन्तत्वेन, भवति तिष्ठतीत्यर्थकम् ? एवमश्व—इति पदं श्विधातोर्लुङि निष्पन्नत्वेन,  
लुङ् गमनमकार्षीरित्यर्थकम्, उत घोटकवाचकत्वेनाऽश्वो यातीत्यर्थकम् ? एवमजापय—इति  
पदं षष्ठीनत्पुरुषत्वेन, वर्कस्या दुग्ध पिबेत्यर्थकम् ? उत ण्यन्तजिधातोर्लुङि निष्पन्नत्वेन, शत्रून्  
पराभावितवानित्यर्थकमित्येवं नामाऽऽख्यातसारूप्यस्थले वाक्यार्थप्रतिपत्तिर्न भवेद्यदि विभज्य  
पदं नाऽन्वाऽऽख्यायेतेति भावः । ( २ ) श्वेतते—इति तिङन्ताऽभिहितसाध्यरूपाक्रियायाः सका-  
शात्, श्वेत—इति कृदभिहितः सिद्धरूपः क्रियार्थो भिन्न इति भावः । \*अन्वाख्येयमित्यपि रम्यम्



भा० कारकात्मा तदर्थः<sup>[१]</sup> प्रत्ययश्च । कस्मात् । सोऽयमित्यभिसंबन्धादे<sup>[२]</sup> काकार एव प्रत्ययः सङ्केते इति । यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः । स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न बुद्धिसहगत, एवं शब्द<sup>(१)</sup>, एवं प्रत्ययो नेतरैतरसहगत इति । अन्यथा शब्दोऽन्यथाऽर्थोऽन्यथा प्रत्यय इति विभागः । एवं तत्प्रविभागसंयमाद्<sup>[३]</sup> योगिनः सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यत इति ॥ १७ ॥

टी० अर्थ विभजते—“क्रियाकारकात्मा तदर्थः” इति । तयोः शब्दयोरर्थः क्रियात्मा कारकात्मा चेत्यर्थः । प्रत्ययं विभजते “प्रत्ययश्च” इति । च शब्देन तदर्थ-इत्येतत्पदमत्राऽनुकृष्यते । तद्<sup>[४]</sup> त्राऽन्यपदार्थप्रधानं संबध्यते । स एव क्रियाकारकात्माऽर्थो यस्य स तथोक्तः । नन्वभेदेन प्रतीतेः शब्दार्थप्रत्ययानां सङ्करात्कृतः प्रविभाग इत्याशयवान् पृच्छति—“कस्माद्” इति । उत्तरमाह—“सोऽयमित्यभिसंबन्धाद्” इति । सङ्केतोपाधिरेकाकारप्रत्ययो न तु तात्त्विक इत्यर्थः । सङ्केतस्य निमित्तता दर्शिता, सङ्केत इति सप्तम्या । परमार्थमाह—“यस्तु श्वेतोऽर्थः” इति अवस्था नवपुराणत्वादयः, सहगतः = सङ्कीर्णः । एवं प्रविभागसंयमाद् योगिनः सर्वेषाम्भूतानां पशुमृगसरीसृपवयः प्रभृतीनां यानि रुतानि\* तत्राऽप्यव्यक्तं पदं तदर्थः, तत्प्रत्ययश्च इति । तदिह मनुष्यवचनवाच्यप्रत्ययेषु कृतः संयमः समानजातीयतया तेष्वपि कृत एवेति तेषां रुतं तदर्थभेदं तत्प्रत्ययं च योगी जानातीति सिद्धम् ॥ १७ ॥

टि० ( १ ) श्वेतं—इत्यस्य क्रिया = साध्यरूपोऽर्थः, श्वेत—इति शब्दस्य कारकं = सिद्धरूपोऽर्थ इति भावः । ( २ ) सोऽयमित्यभिसंबन्धाद् = श्वेतं या क्रिया सोऽयं श्वेतरूपः कारको गुणो, यश्च श्वेत इत्यस्मात् श्वेताऽऽकारः प्रत्ययः सोऽयं श्वेत इत्यस्मादपि श्वेताऽऽकारः प्रत्यय इत्यभेदप्रत्यभिज्ञानादित्यर्थ इति विज्ञानः ।

( ३ ) यथाऽर्थो न शब्दप्रत्ययसहगत एवं शब्दाऽपि नाऽर्थप्रत्ययसहगतः । स्वमेव प्रत्ययोऽपि न शब्दार्थसहगत इत्यर्थः । \* तानि जानातीति शेषः ।

( ४ ) ननु परीक्षका अपि शास्त्रदृष्ट्या शब्दार्थप्रत्ययविभागं जानन्त्येवेति कथं न तेषां सर्वभूतशब्दज्ञानमुत्पद्यते इत्यत आह—“तत्प्रविभागसंयमाद्” इति । संयमजन्य एव शब्दार्थप्रत्ययविभागसाक्षात्कारः सर्वभूतरुतज्ञानहेतुरिति भावः ।

( ५ ) तद् = अनुवर्तमानं तदर्थ इति पदमित्यर्थः ।



सू० संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्<sup>(१)</sup> ॥१८॥  
 भा० द्वये खल्वमी<sup>(२)</sup> संस्काराः, = स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारू-  
 पा, विपाकहेतवो धर्माऽधर्मरूपाः । ते पूर्वभवाऽभिसंस्कृताः  
 परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः<sup>(३)</sup>,  
 तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः । न च देशका-  
 लनिमित्ताऽनुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम् । तदित्थं सं-  
 स्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः । परत्रा-  
 ऽप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम् ।

अत्रेदमाख्यानं श्रूयते— भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसा-  
 क्षात्करणाद् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो-  
 टी० सू० “संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्” ॥१८॥ ज्ञानजा हि संस्काराः  
 स्मृतर्हेतवः, अविद्यादिसंस्कारा अविद्यादीनां क्लेशानां हेतवः, विपाकहे-  
 तवः = विपाको = जात्यायुर्भोगरूपः, तस्य हेतवो धर्माऽधर्मरूपाः । प-  
 र्वेषु भवेषु अभिसंस्कृताः = निष्पादिताः स्वकारणैः । यथा<sup>(४)</sup> संस्कृतं व्य-  
 ञ्जनं, कृतमिति गम्यतोपरिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनान्येव धर्माश्चि-  
 त्तस्य तद्वदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः । तेषु श्रुतेष्वनुमितेषु सपरिकरेषु संयमः  
 संस्काराणां द्वयेषां साक्षात्क्रियायै समर्थः । अस्तु तत्र संयमात्तत्साक्षा-  
 त्कारः पूर्वजातिसाक्षात्कारस्तु कुत इत्यत आह—“न च देश” इति ।  
 निमित्तम् = पूर्वशरीरम् इन्द्रियादि च, साऽनुबन्ध<sup>(५)</sup> संस्कारसाक्षात्कार  
 एव नान्तरीयकतया जात्यादिसाक्षात्कारमाक्षिपतीत्यर्थः । स्वसंस्कारसंयमं  
 परकीयेष्वतिदिशति—“परत्राऽप्ये<sup>(६)</sup> वम्” इति । अत्र श्रद्धोत्पादे हेतुमनुभव-  
 तआवद्यस्य जैगीषव्येण संवादनुपन्यस्यति—“अत्रेदमाख्यानं श्रूयते” इति ।

- टी० (१) संयमसिद्धिप्रकरणादत्र “संस्कारसंयमेन” इति सूत्रस्यादौ देयम् ।  
 (२) अमी = सूत्रोक्ताः संस्कारा द्विविधा इत्यर्थः । के ते द्वये इत्याह “स्मृति” इ-  
 त्यादिना । (३) यथा परिणामचेष्टादयः सप्त चित्तधर्मा अतीन्द्रियास्तद्वद्वासनारू-  
 पा धर्माऽधर्मरूपाश्च संस्काराश्चित्तधर्मा अप्यतीन्द्रिया इत्यर्थः ।  
 (४) संस्कृत—शब्दो निष्पादितेत्यर्थपर इत्यत्र दृष्टान्तमाह “यथा” इति ।  
 (५) अनुबन्धाः = मातृपितृजन्मभूमिनगरकालादयः । तैः सह वर्तत इति साऽनुबन्धः ।  
 (६) परत्राऽपीति भाष्यस्याऽनाऽगतावस्थानां भाविजन्मसंस्काराणां साक्षात्करणाद्  
 भाविजन्मज्ञानमित्यर्थ इति कश्चिद् . अत्र योग्यनुभव एव शरणम् ।



भा० विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवद् । अथ भगवानाऽऽवध्यस्तनु-  
 धरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन  
 त्वया<sup>[१]</sup> नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु  
 पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति ।  
 भगवन्तमावध्यं जैगीषव्य उवाच—दशसु<sup>[२]</sup> महासर्गेषु भव्यत्वा-  
 दनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता  
 देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं<sup>[३]</sup> तत्सर्वं  
 दुःखमेव प्रत्यवैमि । भगवानाऽऽवध्य उवाच—यदिदमायुष्मतः  
 प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे  
 निक्षिप्तमिति । भगवान् जैगीषव्य उवाच—विषयसुखाऽपेक्षयै-  
 वेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तं, कैवल्याऽपेक्षया दुःखमेव । बुद्धि-  
 सत्त्व<sup>[४]</sup> स्यायं धर्मास्त्रिगुणाः । त्रिगुणाश्च प्रत्ययो हेयपक्षे  
 न्यस्त इति ।<sup>[५]</sup> दुःखस्वरूपस्तृष्णातन्तुस्तृष्णादुःखसन्तापाऽप-  
 गमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वाऽनुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ॥ १८ ॥

सू० प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

भा० प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

टी० महाकल्पोमहासर्गः । तनुधर इति निर्माणकायसम्पदुक्ता । भव्यः = शोभनो,  
 विगलितरजस्तमोमल इत्यर्थः । प्रधानवशित्वम् = ऐश्वर्यं, तेन हि प्रधानं  
 विक्षोभ्य यस्मै यादृशीं कायेन्द्रियसम्पदं दित्सति तस्मै तादृशीं दत्ते, स्व-  
 कीयानि च कायेन्द्रियाणि सहस्राणि निर्मायाऽन्तरिक्षे दिवि भुवि च यथेच्छं  
 विहरतीति । सन्तोषो हि तृष्णाक्षयो बुद्धिसत्त्वस्य प्रशान्तता धर्मः ॥ १८ ॥

“प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्” ॥ १९ ॥ प्रत्ययस्य = परचित्तमात्रस्य साक्षात्कर-  
 णादिति ॥ १९ ॥ यथा संस्कारसाक्षात्कारस्तदनुबन्धपूर्वजन्मसाक्षात्कार-

टि० (१) त्वया सुखदुःखयोर्मध्ये किमधिकमुपलब्धमित्यन्वयः । (२) किं दुःखबहुलः संसारः  
 किं वा सुखबहुल इति पृष्टो जैगीषव्यो दुःखबहुत्वप्रातपादनाय सर्वं दुःखमेवेत्याह “दशसु”  
 इत्यादिना । ( ३ ) यत्किञ्चित्सुखमनुभूतमित्यर्थ इति वि० । ( ४ ) कैवल्याऽपेक्षया दुःख-  
 मुपपादयति “बुद्धिसत्त्वस्य” इति । ( ५ ) ननु सन्तोषमपि यदि दुःखमेव, कथं तर्हि “सन्तोषाद-  
 नुत्तमसुखलाभ” इत्यादिना सन्तोषस्य सुखहेतुत्वाऽभिधानमित्यत आह—“दुःख” इत्यादि । रज्जु-  
 रिव बन्धकत्वेन तृष्णारूपस्तन्तुदुःखरूपः प्रसिद्धस्तदपगमाच्च सन्तोषस्य सुखत्वमुक्तमिति भावः ।



सू० नच तत्सालम्बनं तस्याऽविषयीभूतत्वाद्<sup>(१)</sup> ॥२०॥  
भा० रक्तं प्रत्ययं जानाति <sup>(२)</sup> अमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जा-  
नाति । परप्रत्यस्य यदाऽऽलम्बनं तद्योगिचित्तेन नाऽऽलम्बनी-  
कृतं परप्रत्यमात्रं तु योगिचित्तस्याऽऽलम्बनीभूतमिति ॥ २० ॥

सू० कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्र-  
काशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥ २१ ॥

भा० कायरूपे संयमाद् रूपस्य या ग्राह्या शक्तिस्तां प्रति बध्ना-  
ति । ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुःप्रकाशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानमु-  
त्पद्यते योगिनः । एतेन शब्दाद्यन्तर्द्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥२१॥

टी० माक्षिपत्येवं परचित्तसाक्षात्कारोऽपि तदालम्बनसाक्षात्कारमाक्षिपेदिति  
प्राप्त आह—“न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वाद्” ॥२०॥ सानुबन्ध-  
संस्कारविषयोऽसौ संयमः, अयन्तु परचित्तमात्रविषय इत्यभिप्रायः ॥२०॥

सू० “काय—अन्तर्द्धानम्” ॥२१॥ पञ्चात्मकः कायः । स च रूप-  
वत्तयाचाक्षुषो भवति । रूपेण हि कायश्च तद्रूपं च चक्षुर्ग्रहणकर्मशक्ति-  
मनुभवति । तत्र यदा रूपे संयमविशेषो योगिना क्रियते तदा रूपस्य  
ग्राह्यशक्तिः रूपवत्कायप्रत्यक्षताहेतुः स्तम्भ्यते<sup>(३)</sup> \* तस्माद् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे  
सत्यन्तर्द्धानं योगिनः, ततः परकीयचक्षुर्जनितेन प्रकाशेन = ज्ञानेनाऽसम्प्र-  
योगः, चक्षुर्ज्ञानाऽविषयत्वं योगिनः कायस्येति यावत् । तस्मिन् कर्तव्ये-  
ऽन्तर्द्धानं कारणमित्यर्थः—“एतेन” इति । काये शब्दस्पर्शरसगन्धसंयमात्  
तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे श्रोत्रत्वग्रसनाघ्राणप्रकाशाऽसम्प्रयोगे तदन्तर्धा-  
नम्<sup>(४)</sup> इति सूत्रमूहनीयम् ॥ २१ ॥

टि० ( १ ) इदं भाष्यमेवाति विज्ञानमिक्षोरस्थान एव व्यामोहो, वृत्त्यादिविरोधात् ।

( २ ) रक्तं प्रत्ययं = रागयुक्तं परचित्तं जानाति, न त्वस्मिन्विषये रक्तमिति विशिष्य  
जानातीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह “परप्रत्यय” इति ।

( ३ ) रूपवत्कायप्रत्यक्षताहेतुर्या रूपस्य ग्राह्यशक्तिः सा स्तम्भ्यते = प्रतिबध्यते इत्यर्थः ।

( ४ ) तदन्तर्द्धानं = शब्दाद्यन्तर्द्धानमित्यर्थः । योगिनः शब्दादिकं न केनचिद्  
अव्यक्षयत इति भावः । \* स्तम्भ्यत इति पाठस्त्वकर्मकत्वाऽभिप्रायेण ।



सू० सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त-  
ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

भा० आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं—सोपक्रमं, निरुपक्रमं च ।  
तत्र यथाऽऽर्द्रवस्त्रं वितानितं<sup>(१)</sup> लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा  
सोपक्रमम् । यथा च तदेव सम्पिशितं चिरेण संशुष्येद् एवं  
निरुपक्रमम् । यथा चाग्निः शुष्के कक्षे<sup>(२)</sup> मुक्तो वातेन सम-  
न्ततो युक्तः क्षेपीयसा\* कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम् । यथा वा  
स एवाऽग्निस्तृणाराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा  
निरुपक्रमम् । तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं—सोपक्रमं नि-  
रुपक्रमं च । तत्संयमाद् अपरान्तस्य = प्रायणास्य ज्ञानम् ।  
अरिष्टेभ्यो वेति । त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमा-

टी० सू० “सोपक्रमं-वा” ॥ २२ ॥ आयुर्विपाकं च कर्म द्विविधं—सो-  
पक्रमं, निरुपक्रमं च । यत् खल्वैकभविकं कर्म जात्यायुर्भोगहेतुस्तदा-  
ऽऽयुर्विपाकम् । तच्च किञ्चित्कालाऽनपेक्षमेव भोगदानाय प्रस्थितं दत्त-  
बहुभोगमल्पाऽवशिष्टफलं प्रवृत्तव्यापारं केवलं तत्फलस्य सहसा भोक्तु-  
मेकेन शरीरेणाऽशक्यत्वाद्विलम्बते । तदिदं सोपक्रमम् । उपक्रमः = व्या-  
पारस्तत्सहितमित्यर्थः । तदेव तु दत्तस्तोकफलं तत्कालमपेक्ष्य फलदा-  
नाय व्याप्रियमाणं कादाचित्कमन्दव्यापारं निरुपक्रमम् । एतद्वै निदर्श-  
नाभ्यां विशदयति—“तत्र यथा” इति । अत्रैवाऽतिवैशद्याय निदर्शना-  
न्तरं दर्शयति—“यथा वाऽग्निः” इति । परान्तम् = महाप्रलयमपेक्ष्या-  
परान्तो मरणं, तास्मिन् कर्मणि धर्माधर्मयोः संयमादपरान्तज्ञानमात-  
तश्च योगी सोपक्रममात्मनः कर्म विज्ञाय बहून् कायान् निर्माय सहसा  
फलं भुक्त्वा स्वेच्छया म्रियते । प्रासङ्गिकमाह<sup>(३)</sup> “अरिष्टेभ्यो वा” इति ।  
अरिवत् त्रासयन्तीत्यरिष्टानि त्रिविधानि मरणचिह्नानि । विपरीतं वा सर्वं =

टि० (१) वितानितं=विस्तारितम् । लघीयसा=अतिस्वल्पेन । (२) कक्षे=तृणे । \*क्षेपीयसा  
= अतिशीघ्रेण । (३) प्रसङ्गात् सर्वजनसंवेदनीयानि मरणसूचकचिह्नान्योह्यर्थः ।



भा० धिदैविकं चेति । तत्राऽऽध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति<sup>(१)</sup> । ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति । तथाऽऽधिभौतिकं यमपुरुषान् पश्यति, पितृनतीतानकस्मात्पश्यति । आधिदैविकं—स्वर्गमकस्मात्सिद्धान् वा पश्यति, विपरीतं<sup>(२)</sup> वा सर्वमिति । अनेन\*वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति ॥२२॥

सू० मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

भा० मैत्री करुणा मुदितेति तिस्रो भावनाः । तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते । दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते । पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते । भावनातः<sup>(३)</sup> समाधिर्यः स संयमस्ततो बलान्यवन्ध्यवीर्याणि जायन्ते, पापशीलेषूपेक्षा<sup>(४)</sup> न तु भावना । ततश्च तस्यां

टी० माहेन्द्रजालादिव्यातिरेकेण ग्रामनगरादि स्वर्गमभिमन्यते मनुष्यलोकमेव देवलोकमिति ॥ २२ ॥

सू० “मैत्र्यादिषु बलानि” ॥ २३ ॥ मैत्र्यादिषु संयमान्मैत्र्यादिवलान्यस्य भवन्ति । तत्र मैत्रीभावनातो बलं येन जीवलोकं सुखाकरोति । ततः सर्वहितो भवति । एवं करुणाबलात्प्राणिनो दुःखाद् दुःखहेतोर्वा समुद्धरति । एवं मुदिताबलाज्जीवलोकस्य माध्यस्थ्यमाधत्ते । वक्ष्यमाणौपयिकं भावनाकारणत्वं समाधेराह “भावनातः समाधिर्यः संयमः” इति । यद्यपि धारणध्यानसमाधित्रय-

टि० (१) काऽवरुद्धकर्णः सन् घोषं = स्वदेहाम्यन्तरभवं ध्वनिं न शृणोतीत्यर्थः । नेत्रेऽवष्टब्धे = निमीलिते सति, अङ्गुल्यादिना भ्रामिते वा अन्तर्बह्विकणतुर्यं ज्योतिर्न पश्यतीत्यर्थः ।

(२) एतच्च “कृपणोऽपि वदान्यः स्याद् वदान्यः कृपणो यदि । प्रकृतोर्विकृतिश्चेत्स्यात्तद् पञ्चत्वमृच्छति” इत्यादिना स्कान्दादिषु स्पष्टम् ।

(३) न केवलं भावनामात्रान्मैत्र्यादिवलानि भवन्त्यपि तु भावनोत्तरं मैत्र्यादिसंयमादित्याह—“भावनातः” इति ।

(४) ननु मैत्र्यादिष्वित्यादिपदेन प्रथमपादोक्तापेक्षा कथं न सङ्गृहीतेत्यत आह—“पापशीलेषु” इति ।

\* अरिष्टेन वा ।



भा० नास्ति समाधिरिति। अतो न बलमुपेक्षातस्तत्र संयमाऽभा-  
वाद् इति ॥ २३ ॥

सू० बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

भा० हस्तिबले संयमाद् हस्तिबलो भवति, वैनतेयबले संयमाद्  
वैनतेयबलो भवति, वायुबले संयमाद्वायुबल इत्येवमादि ॥ २४ ॥

सू० प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-  
ज्ञानम् ॥ २५ ॥

भा० ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसस्तस्या य आलोकस्तं योगी  
सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वाऽर्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥ २५ ॥

सू० भुवनज्ञानं सूर्ये संयमाद् ॥ २६ ॥

टी० भेव संयमो न समाधिमात्रं तथाऽपि समाध्यन् नरं, कार्योत्पादात्समाधेः  
प्राधान्यात् तत्र संयम उपचरितः । क्वचिद्भावना समाधिरिति पाठः । तत्र  
भावनासमाधी समूहस्य संयमस्याऽवयवौ<sup>(१)</sup> हेतू भवतः । वीर्यं = प्रयत्नः,  
तेन मैत्र्यादिबलवतः पुंसः सुखित्वादिषु परेषां कर्तव्येषु प्रयत्नोऽवन्ध्यो  
भवतीति । उपेक्षा = औदासीन्यम् । न तत्र भावना, नाऽपि सुखितादिवद्  
भाव्यं किञ्चिदस्तीति ॥ २३ ॥

सू० “बलेषु हस्तिबलादीनि” ॥ २४ ॥ यस्य बले संयमस्तस्य बलं  
लभत इति ॥ २४ ॥

सू० “प्रवृत्त्या-ज्ञानम्” ॥ २५ ॥ सूक्ष्मे व्यवहिते विप्रकृष्टे वार्थे  
संयमने विन्यस्य तमर्थमधिगच्छतीति ॥ २५ ॥

सू० “भुवनज्ञानं सूर्ये संयमाद्” । आ ध्रुवाद-इतो मेरुपृष्ठात् \* । तदेवमनेन

टि० (१) संयमस्याऽवयवौ भावनासमाधी समूहस्य संयमस्य हेतू भवतः । समूहस्य  
समूहसाध्यत्वाद् । \* मेरुपृष्ठोपलक्षिताद् इतो = भूर्लोकाद् भुगलोकपर्यन्तं भुवर्लोकः ।



भा० तत्प्रस्तारः<sup>(१)</sup> सप्तलोकाः, तत्राऽवीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदि-  
 तेषां भूर्लोकः, मेरुपृष्ठादारभ्याऽऽध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रो-  
 ऽन्तरिक्षलोकः, तत्परः स्वर्लोकः पञ्चविधो, माहेन्द्रस्तृतीयो  
 लोकः,<sup>(२)</sup> चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः, त्रिविधो ब्राह्मः । तद्यथा—  
 जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति । “ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः<sup>(३)</sup>  
 प्राजापत्यस्ततो महान् । माहेन्द्रश्चस्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि  
 प्रजा” इतिसंग्रहश्लोकः । तत्राऽवीचेरुपर्युपरिनिविष्टाः षण्महा-  
 नरकभूमयो घन<sup>(४)</sup>सलिलानलानिलाऽऽकाशतमः प्रतिष्ठा महा-  
 कालाऽम्बरीषरौरवमहारौवकालसूत्रान्धतामिसूः । यत्र स्वकर्मा-  
 पार्जितदुःखवेदनाः<sup>(५)</sup> प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य<sup>(६)</sup> जायन्ते  
 ततो महातलरसातलाऽतलसुतलवितलतलाऽतलपातालाख्या-  
 नि सप्त पातालानि । भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः

टी० सङ्ग्रहश्लोकाऽन्तेन संक्षेपतः सप्तलोकानुपन्यस्य विस्तरेणाह-  
 “तत्राऽवीचेः” इति । घन—शब्देन पृथिव्युच्यते । भूमिः = स्थानमि-  
 त्यर्थः । एते महानरका अनेकोपनरकपरिवारा बोद्धव्याः । एतानेव नामा-  
 ऽन्तरेणोपसंहरति—“महाकाल” इति ।

टि० (१) भुवनपदार्थमाह—“तत्प्रस्तारः” इत्यादिना । तस्य भुवनस्य प्रस्तारः = विन्या-  
 सः सङ्क्षेपविस्तराभ्यामुच्यत इति शेषः । प्रस्ताव इति पाठान्तरम् । सङ्क्षेपेण तावदाह—“स-  
 प्तलोका” इति । लोकान् विभजते—“तत्रावीचेः” इति । अवीचिर्नाम नरकविशेषो, यतो-  
 ऽधो नाऽन्यो लोक इति । <sup>१</sup>इत्येवेति, इत्येवम् इति चाऽपि झिष्टम् ।

(२) पञ्चविधस्वर्गाणामवान्तरभेदमाह—“माहेन्द्र” इति । भूर्भुवर्लोकाऽपेक्षया तृती-  
 यो लोको माहेन्द्राऽऽख्य एक स्वर्गः । एवमेतल्लोकापेक्षया चतुर्थो महर्लोकः प्राजापत्या-  
 ऽऽख्यो द्वितीयः स्वर्ग इत्यर्थः ।

(३) जनतपःसत्याद्यभूमित्रयोपेतो ब्रह्मलोकः । ततोऽधो, महान् = महारितीनामा  
 प्रजापतिलोकः । ततोऽधः स्वारीतीनामा माहेन्द्रलोकः । ततोऽधो द्यौर्लोको यत्र दिवि तारा  
 वर्तन्ते । ततोऽधो भूर्लोकः, यत्र भुवि प्रजा = मनुष्यादयो वर्तन्त इत्यर्थः । (४) घनशब्देन  
 पार्थिवाः शिलाशकलशर्करादयो गृह्यन्ते । घनादीनामुत्तरोत्तराणां षण्णां यथाक्रममाधारभूता  
 महाकालादयः षड् नरकभूमयो वर्तन्ते इत्यर्थः । (५) दुःखवेदनाः = दुःखमोगिनः ।

(६) कष्टं = दुःखफलकं दीर्घमायुराक्षिप्य = गृहीत्वा । \*न तु नरक इति भावः ।



भा० सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः । तस्य राजतत्रैदूर्यस्फटिक-  
हेममणिमयानि शृङ्गाणि<sup>(१)</sup> । तत्र वैदूर्यप्रभानुरागान्नीलोत्पल-  
पत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः, श्वेतः पूर्वः, स्वच्छः पश्चिमः,  
कुरुण्डकाभः\*उत्तरः । दक्षिणपार्श्वे चाऽस्य<sup>(२)</sup> जम्बूः । यतो ऽयं जम्बू-  
द्वीपः । तस्य सूर्यप्रचाराद् रात्रिदिवं लग्नमिव विवर्तते । तस्य<sup>(३)</sup>  
नीलश्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्विसहस्राऽऽयामाः ।  
तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसाहस्राणि— रमणकं  
हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति । निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो  
द्विसहस्राऽऽयामाः, तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसाह-  
स्राणि—हरिवर्षं किम्पुरुषं भारतमिति । सुमेरोः<sup>(४)</sup> प्राचीना  
भद्राश्वा माल्यवत्सीमानः, प्रतीचीना केतुमाला गन्धमादनसी-  
मानः, मध्ये वर्षमिलावृतम् । तदेतद् योजनशतसहस्रं सुमेरो-

टी० तस्य सूर्यप्रचाराद् रात्रिदिवं लग्नमिव विवर्तते । यमेवाऽस्य भागं सूर्य-  
स्त्यजति तत्र रात्रिः, यमेवभागमलङ्करोति तत्र दिनमित्यर्थः । सकलजम्बू-  
द्वीपपरिमाणमाह 'तदेतद्योजनशतसहस्रम्' इति । किम्भूतं योजनानां शतसह-

टि० (१) यथाक्रमं पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरभागेषु वर्तन्ते इति शेषः । (२) अस्य सुमेरो-  
रुपरि दक्षिणपार्श्वे जम्बूनामा वृक्षः, यतो=यन्नाम्नाऽयं जम्बूद्वीप इत्युच्यत इत्यर्थः ।

(३) तस्य सुमेरोः, उदीचीनाः=उत्तरस्यां दिशि विद्यमाना द्विसहस्रयोजनविस्तारा  
नीलादयस्त्रयः पर्वता वर्तन्ते तदन्तरेषु=तेषां पर्वतानामवकाशेषु प्रत्येकं नवसहस्रयोजनवि-  
स्ताराणि रम्यकादीनि त्रीणि वर्षाणि तिष्ठन्ति । तत्र नीलगिरिर्मैरूत्तरादिकुसुलानो वर्तते,  
नीलस्योत्तरे भागे रमणकं वर्षं, श्वेतस्योत्तरे हिरण्मयं, शृङ्गवत उत्तरे समुद्रपर्यन्तमुत्तराः  
कुरव इत्यर्थः । एवं पुराणाऽनुसारेण दक्षिणदिश्यापि व्यवस्था बोध्या ।

(४) सुमेरोः पूर्वदिशि तत्संयुक्तो मास्यवान्नामपर्वतः । तमेव सीमानं कृत्वा समुद्रपर्य-  
न्ता भद्राश्वनामानो देशाः । एवं सुमेरोः पश्चिमदिशि तत्संयुक्तो गन्धमादननामा पर्वतः । तं  
सीमानं कृत्वा समुद्रपर्यन्ताः केतुमालनामानो देशा इत्यर्थः ।

\* कुरुण्डकं=स्वर्णवर्णः पुष्पविशेषः ।



भा० दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम् । स खल्वयं शतसहस्राऽऽयामो  
जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिनावलयाऽऽकृतिना वेष्टि-  
तः । ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशालमलमगधपुष्कर-  
द्वीपाः सप्तसमुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलाऽवन्तसा  
इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः <sup>(१)</sup> सप्तसमुद्रवेष्टि-  
ता <sup>(२)</sup> वलयाऽऽकृतयो लोकाऽलोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजन-  
कोटिपरिसङ्ख्याताः । तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये  
व्यूढम्, अण्डं च प्रधानस्याऽणुरवयवो यथाकाशे खद्योतः । तत्र  
पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरगन्धर्वकिन्नरकि-  
पुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचाऽपस्मारकाऽप्सरोग्रह्वराक्षसकु-  
ष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति । सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो दे-  
वमनुष्याः । सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः । तत्र मिश्रवनं नन्दनं  
चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि । सुधर्मा देवसभा, सुदर्शनं पुरं,

टी० “सूमित्याह-सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम्” इति । तदर्धेन =  
पञ्चाशता योजनसहस्रेण, व्यूढं = संक्षिप्तम् । यतोऽस्य मध्यस्थः सुमेरुः ।  
सप्तसमुद्राश्च सर्षपराशिकल्पा द्विगुणा द्विगुणा इति संबन्धः । यथा सर्षपरा-  
शिर्न व्रीहिराशिरिवोच्छ्रितो नाऽपि भूमिसमस्तथा समुद्रा अमी इत्यर्थः । वि-  
चित्रैः शैलैरवन्तसैरिव सह वर्तन्ते इति सविचित्रशैलाऽवन्तसा द्वीपाः । तदेत-  
त्सर्वं सद्द्वीपविपिननगनगरनीरधिमालावलयं लोकाऽलोकपरिवृतं विश्वम्भ-  
रामण्डलं ब्रह्माण्डमध्ये व्यूढं संक्षिप्तं, सुप्रतिष्ठितं संस्थानं = सन्निवेशो  
यस्य तत्तथोक्तम् । ये यत्र प्रति वसन्ति तत्र तान् दर्शयति—“तत्र-  
पाताल” इति । सुमेरोः सन्निवेशमाह—“सुमेरुः” इति । तदेवं भूलोकं

टि० (१) वर्तन्ते इति शेषः । सप्तसमुद्रा इत्यस्य विशेषणमिदम् ।

(२) समुद्रादिसहितानां सप्तद्वीपानां समुच्चिद्य प्रमाणमाह—“सप्तसमुद्र” इति ।  
एते सप्तद्वीपाः सप्तसमुद्रसहिताः सप्तसमुद्राद् बहिःस्थितेन लोकालोकपर्वतेन परिवृताः  
पञ्चाशद्योजनकोटिपरिमिता इत्यर्थः ।



भा० वैजयन्तः प्रासादः । ग्रहनक्षत्रतारकास्तु १) ध्रुवे निबद्धा वायु-  
विक्षेपनियमनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपय्युर्परि सन्निविष्टा  
विपरिवर्तन्ते । माहेन्द्रनिवासिनः षड् देवनिकायाः,—त्रिदशा  
अग्निष्वात्ता, याम्याः, तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्त्तिनः,  
परिनिर्मितवशवर्त्तिनश्चेति । सर्वे सङ्कल्पसिद्धा आग्निमा-  
द्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औप-  
पादिकदेहा उत्तमाऽनुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः । महति  
लोके प्राजापत्ये पञ्चाविधो देवनिकायः—कुमुदाः, ऋभवः, प्र-  
तर्दना, अञ्जनाभाः, प्रचिताभा इति । एते महाभूतवशिनो  
ध्यानाऽऽहाराः कल्पसहस्रायुषः । प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके  
चतुर्विधो देवनिकायो—ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहा-  
कायिका अमरा इति । एते भूतेन्द्रियवशिनः २) द्वितीये तपसि

टी० सप्रकारमुक्त्वा सप्रकारमेवाऽन्तरिक्षलोकमाह—“ग्रह” इति । वि-  
विक्षेपो = व्यापारः । स्वर्लोकमादर्शयति—“माहेन्द्रनिवासिन” इति । देव-  
निकायाः = देवजातयः । षण्णामपि देवानिकायानां रूपोत्कर्षमाह—“सर्वे  
सङ्कल्पसिद्धा” इति । सङ्कल्पमात्रादेवैषां विषया उपनमन्ति । वृन्दारकाः =  
पञ्चाः, कामभोगिनो = मैथुनप्रिया, औपपादिकदेहाः = पित्रोः संयोग-  
मन्तरेणाऽकस्मादेव दिव्यशरीरमेषां धर्मविशेषाऽतिसंस्कृतेभ्योऽणुभ्यो,  
भवतीति । महर्लोकमाह—“महति” इति । महाभूतवशिनः = यद् य-  
देतेभ्यो रोचते तत्तदेव महाभूतानि प्रयच्छन्ति । तदिच्छातश्च महाभूतानि  
तेन तेन संस्थानेनाऽवतिष्ठन्ते । ध्यानाहाराः = ध्यानमात्रतृप्ताः पुष्टा  
भवन्ति । जनलोकमाह—“प्रथम” इति । उक्तक्रमेण ३) “भूतेन्द्रियवशिन”

टि० (१) ग्रहाः सूर्यादयः, नक्षत्राणि अधिन्यादीनि, तारका इतराणि क्षुद्रज्योतीषि एते  
ग्रहादयो मेढिकांष्ठवन्निश्चलतया स्थिते ध्रुवसञ्ज्ञके ज्योतिषि वायुऽज्ज्वा बद्धा वायोः प्रातिनिय-  
तसञ्चारेण लब्धप्रचारा भुवर्लोके गात्र इव भ्रमन्तीत्यर्थः ।

(२) भूतेन्द्रियवशिन इत्यस्याऽग्रे द्विगुणाद्विगुणोत्तराऽऽयुष इति पाठो यद्यपि केषु  
चित्पुस्तकेषूपलभ्यते तथाऽपि वाचस्पत्यानुगान्नापन्यस्तः । ब्रह्मलोकस्थितानामायुः पूर्वोक्ता-  
त्कल्पसहस्राद् द्विगुणं, तदुत्तरस्य तद्विगुणमिति च तदर्थ इति विज्ञानमिश्रः ।

(३) तद् यथा जनलोक इत्याद्युक्तक्रमेण प्रथमे ब्रह्मलोकमेवेदं जनलोके इत्यर्थः ।



भा० लोकेत्रिविधो देवनिकायः—अभास्वरा, महाभास्वरा, सत्यमहा-  
भास्वरा इति । एते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्त-  
रायुषः सर्वे ध्यानाऽऽहारा ऊर्ध्वरेतसः\*ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अ-  
धरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः । तृतीये ब्रह्मणाः सत्यलोके चत्वारो  
देवनिकायाः—अच्युताः, शुद्धनिवासाः, सत्याभाः, सञ्ज्ञासञ्ज्ञिन-  
श्चेति अकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरिस्थिताः प्रधानव-  
शिनो यावत्सर्गायुषः । तत्राऽच्युताः—सवितर्कध्यानसुखाः शुद्धनिवा-  
साः—सविचारध्यानसुखाः, सत्याभा—आनन्दमात्रध्यानसुखाः,

टी० इति । भूतानि पृथिव्यादीनि इन्द्रियाणि = श्रोत्रादीनि यथा नियो-  
क्तुमिच्छन्ति तथैव नियुज्यन्ते । उक्तक्रमाऽपेक्षया द्वितीयं ब्रह्मणस्तपो-  
लोकमाह—“द्वितीय” इति । “भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिन” इति । प्रकृतिः =  
पञ्चतन्मात्राणि तद्वशिनः, तदिच्छातो हि तन्मात्राण्येव कायाऽऽकारेण  
परिणमन्त इत्यागमिकाः । “द्विगुण” इति । आभास्वरेभ्यो द्विगुणा-  
ऽऽयुषो महाभास्वराः, तेभ्योऽपि द्विगुणायुषः सत्यमहाभास्वरा इत्यर्थः ।  
“ऊर्ध्वम्” इति । ऊर्ध्वं सत्यलोके अप्रतिहतज्ञानाः । अवीचेस्तु<sup>(१)</sup> प्रभृति  
आ तपोलोकं सूक्ष्मव्यवहितादि सर्वं विजानन्तीत्यर्थः । तृतीयं ब्रह्मणो  
लोकमाह—“तृतीय” इति । अकृतो भवनस्य = गृहस्य न्यासो यैस्ते  
तथोक्ता, आधाराऽभावादेव स्वप्रतिष्ठाः, = स्वेषु शरीरेषु प्रतिष्ठा येषां ते  
तथोक्ताः । प्रधानवशिनः = तदिच्छातः सत्त्वरजस्तमांसि प्रवर्तन्ते ।  
यावत्सर्गायुषः = तथाच श्रूयते— “ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रति-  
सञ्चरे । परस्याऽन्ते कृताऽत्मानः प्रविशन्ति परम्पदम्” इति । तदेवं  
चतुर्णां देवनिकायानां साधारणधर्मानुक्त्वा नामविशेषग्रहणेन धर्मविशेषा-  
नाह—“तत्र” इति । अच्युता नाम देवाः स्थूलाविषयध्यानसुखाः । तेन  
ते तृप्यन्ति । शुद्धनिवासा नाम देवाः सूक्ष्मविषयध्यानसुखाः । तेन ते  
तृप्यन्ति । सत्याभा नाम देवा इन्द्रियविषयध्यानसुखाः । तेन ते

टि० (१) अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषया इति भाष्यस्याऽर्थमाह—“अवीचेः” इति ।

\* अस्खलितवीर्याः ।



भा० सञ्ज्ञासञ्ज्ञिनश्चाऽस्मितामात्रध्यानसुखाः।तेऽपि त्रैलोक्य-  
मध्ये प्रतितिष्ठन्ति<sup>(१)</sup>, त एते सप्तलोका सर्व एव ब्रह्मलोकाः<sup>(२)</sup> ।  
विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते न लोकमध्ये न्यस्ता इति ।  
एतद् योगिना साक्षात्कर्त्तव्यं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा, ततोऽन्य-  
त्रापि<sup>(३)</sup>।एवन्तावदभ्यसेद् यावद्विदं सर्वं दृष्टमिति ॥ २६ ॥

सू० चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

भा० चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराव्यूहं \* विजानीयाद् ॥ २७ ॥

सू० ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

टी० तृप्यन्ति । सञ्ज्ञासञ्ज्ञिनो नाम देवा अस्मितामात्रध्यानसुखाः । तेन ते  
तृप्यन्ति । ते एते सर्वे संप्रज्ञातसमाधिमुपासते । अथाऽसम्प्रज्ञातसमाधि-  
निष्ठा विदेहप्रकृतिलयाः कस्मान्न लोकमध्ये न्यस्यन्त इत्यत आह—“विदेह-  
प्रकृतिलयास्तु” इति । बुद्धिवृत्तिमन्तो हि दर्शितविषया लोकयात्रां वहन्तो  
लोकेषु वर्तन्ते, न चैवं विदेहप्रकृतिलयाः सत्यपि साऽधिकारत्व इत्यर्थः ।  
तदेतद् आसत्यलोकम् आ चाऽवीचेर्योगिना साक्षात्करणीयं, सूर्यद्वारे=सु-  
षुम्नायां नाड्याम् । न चैतावताऽपि तत्साक्षात्कारो भवतीत्यत आह—“तत”  
इति । ततोऽन्यत्रापि=सुषुम्नाया अन्यत्रापि† योगोपाध्यायोपदिष्टेषु । ‘या-  
वद्विदं सर्वं = जगद्दृष्टम्’ इति । बुद्धिसत्त्वं हि स्वभावत एव विश्वप्रका-  
शनसमर्थं तमोमलावृतं यत्रैव रजसोद्घाटयते तदेव प्रकाशयति, सूर्यद्वार-  
रसंयमोद्घाटितं भुवनं प्रकाशयति । न चैवमन्यत्राऽपि प्रसङ्गः । तत्संयमस्य  
तावन्मात्रोद्घाटनसामर्थ्यादिति सर्वमवदातम् ॥ २६ ॥

टि० (१) ते=एते अच्युतादयश्चत्वारोऽपि ब्रह्माण्डमध्य एव तिष्ठन्ति न ब्रह्माण्डाद् बहिरि-  
त्यर्थः । एते न मुक्ता इति भावः ।

(२) हिरण्यगर्भस्य लिङ्गदेहेन सर्वलोकव्यापनाद् वस्तुतः सर्व एव लोका ब्रह्मलोका  
इत्यर्थः । \* व्यूहः=सन्निवेशविशेषः ।

(३) ततः=सूर्यद्वारादन्यत्राऽपि संयमं कृत्वा साक्षात्करणीयमित्यर्थः । संयमाऽवधिषाह  
“एवम्” इति । † अन्यत्रेत्यस्यार्थमाह—“योगोपाध्याय” इति ।



भा० ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं<sup>(१)</sup> जामीयाद् । ऊर्ध्व-

विमानेषु<sup>२</sup> कृतसंयमस्तानि विजानीयाद् ॥ २८ ॥

सू० नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

भा० नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं<sup>(३)</sup> विजानीयाद् । वातपित्त-  
श्लेष्माणस्त्रयो दोषाः सन्ति, धातवः सप्त—त्वग्लोहितमांसस्ना-  
य्वस्थिमज्जाशुक्राणि, पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यामि<sup>(४)</sup> तेष विन्यासः ॥ २९ ॥

सू० कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

भा० जिह्वाया अधस्तात् तन्तुः, ततोऽधस्तात् कण्ठः, ततोऽध-  
स्तात्कूपः । तत्र संयमात् क्षुत्पिपासे न बाधते ॥ ३० ॥

सू० कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

भा० कूपादध उरसि कूर्माऽऽकारा नाडी, तस्यां कृतसंयमः स्थि-  
रपदं लभते । यथा सर्पो गोधा वेति<sup>(५)</sup> ॥ ३१ ॥

टी० तत्र तत्र जिज्ञासायां योगिनस्तत्र तत्र संयमः । एवं क्षुत्पिपासानिवृत्ति-  
हेतुः संयमः स्थैर्यहेतुश्च संयमः सूत्रपदैरुपदिष्टो भाष्येण च निगदव्याख्या-  
तेन व्याख्यात इति न व्याख्यातः ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

टि० (१) इयता कालेनामुं राशिभिर्दं नक्षत्रं ग्रास्यतीत्यादिकां गतिमित्यर्थः ।

(२) ऊर्ध्वविमानेषु = आदित्यादिरथेष्वित्यर्थः । तानि = आदित्यादिरथानीत्यर्थः ।

(३) कायव्यूहं = कायस्थपदार्थानां विन्यासविशेषमित्यर्थः । तमेव विन्यासविशेषमाह  
“वातपित्त” इत्यादिना ।

(४) शुक्राद् मज्जा बाह्या, मज्जातोऽस्थीनीत्येवं पूर्वं पूर्वं बाह्यामित्यर्थः ।

(५) कुण्डलितसर्पवदवस्थिततया कूर्माकारं हृदयपुण्डरीकारूपं नाडीचक्रम् । तत्र कृत-  
संयमो योगी स्थिरपदं = स्थिरां चित्तवृत्तिं लभत इत्यर्थः । नाड्याः कूर्माऽऽकारत्वे दृष्टान्त-  
द्वयं “यथा सर्पो, गोधा वा” इति । कुण्डलित इति शेष इति विज्ञानमिक्षुः । गोधायाः कुण्ड-  
लितत्वाऽभावात् स्थिरपद एव निदर्शनद्वयं कथञ्चिद् व्याख्येयमिति तु युक्तमवैमि ।



सू० मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

भा० शिरःकपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिः, तत्र संयमात्<sup>(१)</sup>  
सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम् ॥ ३२ ॥

सू० प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

भा० प्रातिभं नाम तारकं, तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपं, य-  
थोदये प्रभा भास्करस्य<sup>(२)</sup> तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्राति-  
भस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥ ३३ ॥

सू० हृदये चित्तसंविद् ॥ ३४ ॥

भा० यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं  
तस्मिन् संयमाच्चित्तसंविद् ॥ ३४ ॥

टी० सू० “मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्” ॥ ३२ ॥ मूर्द्धशब्देन सुषुम्ना  
नाम नाडी लक्ष्यते, ‘तत्र संयम इति’ \* ॥ ३२ ॥

सू० “प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥ प्रातिभा = ऊहः, तद्भवं प्रातिभं,  
प्रसङ्गख्यानहेतुसंयमवतो हि तत्प्रकर्षे प्रसङ्गख्यानोदयपूर्वलिङ्गं यदूहजं  
ज्ञानं तेन सर्वं विजानाति योगी, तच्च प्रसङ्गख्यानसन्निधापनेन संसारा-  
त्तारयतीति तारकम् ॥ ३३ ॥

सू० “हृदये चित्तसंविद्” ॥ ३४ ॥ हृदयपदं व्याचष्टे—“यदिद-  
मस्मिन् ब्रह्मपुरे” इति । बृहत्त्वादात्मा ब्रह्म तस्य पुरं निलयः । तद्धि  
तत्र विजानाति स्वमिति । दहरं = गर्तं तदेव पुण्डरीकमधोमुखं वेश्म  
मनसः । चित्तसंवेदनत्वे हेतुमाह—“तत्र विज्ञानम्” इति । तत्र संयमा-  
च्चित्तं विजानाति स्ववृत्तिविशिष्टम् ॥ ३४ ॥

टि० (१) शिरःकपालमध्ये यच्छिद्रं तच्छिद्रस्याऽन्तर्यत्प्रभास्वरं ज्योतिस्तत्र संयमादित्यर्थः ।

(२) यथा सूर्योदयस्य पूर्वलिङ्गं प्रभा तद्वत् प्रसङ्गख्यानस्य पूर्वलिङ्गं प्रातिभं ज्ञानमित्यर्थः ।  
स्वप्रातिभोत्थमनौपदेशिकं ज्ञानं प्रातिभमित्युच्यते इति बोध्यम् । \* न सार्वत्रिकः ।



सू० सत्त्वपुरुषयोरत्यन्ताऽङ्गीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः  
परार्थत्वात् स्वाऽर्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥३५॥

भा० बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशी  
कृत्य सत्त्वपुरुषाऽन्यताप्रत्ययेन परिणतम् । तस्माच्च सत्त्वात्परिणा-  
मिनोऽत्यन्तविधर्मा शुद्धोऽन्यश्चित्तिमात्ररूपः पुरुषः । तथोरत्यन्ता  
ऽसङ्कीर्णयोः प्रत्ययाऽविशेषो भोगः पुरुषस्य । दर्शितविषयत्वात्-  
टी० सू० “सत्त्व-ज्ञानम् ॥३५॥ यत्र” प्रकाशरूपस्याऽतिस्वच्छस्य नितान्ताभि-

भूतरजस्तमस्तया विवेकख्यातिरूपेण परिणतस्य बुद्धिसत्त्वस्याऽऽत्य-  
न्तिकश्चैतन्यादसङ्करस्तत्र कैव कथा रजस्तमसोर्जडस्वभावयोरित्याशयवान्  
सूत्रकारः सत्त्वपुरुषयोरित्युवाच । इममेवाऽभिप्रायं गृहीत्वा भाष्यकारो-  
ऽप्याह—“बुद्धिसत्त्वप्रख्याशीलम्” इति । न प्रख्याशीलमात्रमपि तु  
विवेकख्यातिरूपेण परिणतम् । अतो नितान्तशुद्धप्रकाशतयाऽत्यन्तसारूप्यं  
चैतन्येनेति सङ्कर इत्याह\* “समान” इति । सत्त्वेनोपनिबन्धनम् = अ-  
विनाभावः सम्बन्धः । समानं सत्त्वोपनिबन्धनं ययो रजस्तमसोस्ते  
तथोक्ते । वशीकारः = अभिभवः, । असङ्करमाह—“तस्माच्च” इति ।  
चकारोऽप्यर्थकः । न केवलं रजस्तमोभ्यामित्यर्थः<sup>(१)</sup> । ‘परिणामिनः’, इति  
वैधर्म्यपरिणामिनः पुरुषादुक्तम् । प्रत्ययाऽविशेषः = शान्तघोरमूढरू-  
पाया बुद्धेश्चैतन्यबिम्बोद्ग्राहेण चैतन्यस्य शान्ताद्याऽऽकाराऽध्यारोपः,  
चन्द्रमस इव स्वच्छसलिलप्रतिबिम्बितस्य तत्कम्पनात् कम्पनाऽऽरोपः ।  
भोगहेतुमाह—“दर्शितविषयत्वाद्” इति । असकृद् व्याख्यातम् । ननु  
बुद्धिसत्त्वमस्तु पुरुषभिन्नं, भोगस्तु पुंसः कुतो भिद्यते इत्यत आह

टि० (१) बुद्धिपुरुषयोरित्यनुक्त्वा सत्त्वपुरुषयोरिति वदतः सूत्रकारस्याऽभिप्रायमाह “यत्र”  
इत्यादि । \* ‘इत्यत आह’ इति पाठान्तरं तु चित्तमुद्देशयति ।

(२) न केवलं रजस्तमोभ्यामसङ्कीर्णः पुरुषोऽपि तु यद्बुद्धिसत्त्वं सत्त्वपुरुषाऽन्यता-  
रूपेण परिणतं तस्मादपि बुद्धिसत्त्वात्परिणामिनो भिन्नः पुरुष इत्यर्थः ।



भा० स भोगप्रत्ययः सत्त्वस्य परार्थत्वाद् दृश्यः। यस्तु तस्माद्विशिष्टाश्चिन्तामात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात्पुरुषविषया प्रज्ञा जायते। न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वाऽऽत्मना पुरुषो दृश्यते। पुरुष एव प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं पश्यति। तथा-  
हुक्तं,—“विज्ञातारमरे केन विज्ञेयीयाद्” इति ॥ ३५ ॥

सू० ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शाऽऽस्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

टी० “स” इति, स भोगप्रत्ययः = भोगरूपः प्रत्ययः सत्त्वस्य। अतः परार्थत्वाद् दृश्यो भोगः। सत्त्वं हि परार्थं संहतत्वात्, तद्धर्मश्च भोग इति सोऽपि परार्थः, यस्मै च परस्मा असौ तस्य भोक्तुर्भोगः, अथवाऽनुकूलप्रतिकूलवेदनीयो हि सुखदुःखाऽनुभवो भोगः। नचाऽयमात्मानमेवाऽनुकूलयति, प्रतिकूलयति वा। स्वात्मानि वृत्तिविरोधात्। अतोऽनुकूलनीयप्रतिकूलनीयार्थो भोगः। स भोक्ता आत्मा। तस्य दृश्यो भोग इति। यस्तु तस्मात्परार्थाद्विशिष्ट इति = परार्थादिति पञ्चम्यन्यपदाऽध्याहारेण व्याख्याता। स्यादेतत्, पुरुषविषया चेत्प्रज्ञा हन्तभोः पुरुषः प्रज्ञायाः प्रज्ञेय इति प्रज्ञान्तरमेव तत्र तत्रेत्यनवस्थापात इत्यत आह—“नचपुरुषप्रत्ययेन” इति। अयमभिसन्धिः। चित्ता जडः प्रकाशयते, न जडेन चितिः। पुरुषप्रत्ययस्त्वचिदात्मा कथं चिदात्मानं प्रकाशयेत्। चिदात्मा त्वपराधीनप्रकाशो जडं प्रकाशयतीति युक्तम्। बुद्धिसत्त्वात्मना—इत्यचिद्वरूपतादात्म्येन जडत्वमाह। बुद्धिसत्त्वगतपुरुषप्रतिबिम्बाऽऽलम्बनात्पुरुषालम्बनं, दर्पणवन्मुखाऽऽलम्बनं\* न तु पुरुषप्रकाशनात्पुरुषाऽऽलम्बनम्। बुद्धिसत्त्वमेव तु तेन प्रत्ययेन संक्रान्तपुरुषप्रतिबिम्बं पुरुषच्छायापन्नं चैतन्यमालम्बत इति पुरुषार्थः। अत्रैव श्रुतिमुदाहरति—“तथा हुक्तम्” इति। ईश्वरेण। “विज्ञातारम्” इति। न केनचिदित्यर्थः ॥ ३५ ॥ स च स्वार्थसंयमो न यावत्प्रधानं स्वकार्यं पुरुषज्ञानमभिनिर्वर्त्तयति तावत्, तस्य पुरस्ताद् या विभूतीराधत्ते ताः सर्वा दर्शयति—सू० “ततः जायन्ते” ॥ ३६ ॥

\* क्वाचि क्रमप्यमुमुचितत्वादन्यवीविशम् ।

टि० (१) ततः=अभ्यस्यमानास्त्वार्यसंयमाद्, व्युत्थानकालेऽपि योगिनः प्रातिभादिसञ्चिकाः



भा० प्रातिभात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाऽतीताऽनागतज्ञानं, श्रावणाद् दिव्यशब्दश्रवणं, वेदनाद् दिव्यस्पर्शाऽधिगमः, आदर्शाद् दिव्यरूपसंविद्, आस्वादाद् दिव्यरससंविद्, वार्त्तातो दिव्यगन्धविज्ञानम्, इत्येतानि नित्यं जायन्ते ॥ ३६ ॥

सू० ते समाधावुपसर्गा<sup>(१)</sup> व्युत्थाने सिद्धयः ॥३७॥

भा० ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गाः। तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वाद्<sup>(२)</sup>, व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः ॥३७॥

टी० तदनेन योगजधर्माऽनुगृहीतानां मनःश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां यथासंख्यं प्रातिभज्ञानदिव्यशब्दाद्यपरोक्षहेतुभाव उक्तः। श्रोत्रादीनां पञ्चानां दिव्यशब्दाद्युपलम्भकानां तान्त्रिक्यः सञ्ज्ञाः श्रावणाद्याः। सुगमं भाष्यम् ॥३६॥ कदाचिदात्मविषयसंयमप्रवृत्तस्तत्प्रभावादमूर्थान्तरसिद्धीराधिगम्य कृतार्थम्मन्यः संयमाद्विरमेदत आह—“ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः” ॥ ३७ ॥ व्युत्थितचित्तो हि ताः सिद्धीरभिमन्यते जन्मदुर्गत इव द्रविणकणिकामपि द्रविणसम्भारमां योगिना तु समाहितचित्तेनोपनताभ्योऽपि ताभ्यो विरन्तव्यम्। अभिसंहितापत्रयाऽऽत्यन्तिकोपशमरूपपरमपुरुषार्थः<sup>(३)</sup> स खल्वयं कथं तत्प्रत्यनीकासु सिद्धिषु रज्येतेति सूत्रभाष्ययोरर्थः ॥ ३७ ॥

टि० सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः। तत्र मनसोऽतीताऽनागतविप्रकृष्टव्यवहितसूक्ष्मपदार्थज्ञानसामर्थ्यं प्रातिभमित्युच्यते। एवं श्रोत्रस्य दिव्यशब्दश्रवणसामर्थ्यं श्रावणमित्युच्यते। एवमग्रेऽपि त्वगादीनां तत्तत्सामर्थ्यं वेदनादिपदेनोच्यते इति। यत्तु विज्ञानभिक्षुणा तत् इत्यस्य पुरुषसाक्षात्कारादित्यर्थ इत्युक्तम्। तन्मन्दम्, तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वादित्यागामिसूत्रे भाष्ये प्रातिभादीनां पुरुषदर्शनप्रतिबन्धकत्ववचनात्प्रातिभादीनां साक्षात्कारफलत्वस्याऽयुक्तत्वाद्। न हि यद् यस्य प्रतिबन्धकं तत् तस्य फलमिति त्वदन्यः कश्चिद्भिद्भ्योऽप्यभ्युपैति। यत्तु चकाराद्यभावेन नेदं स्वार्थसंयमफलं सिद्धयन्तरमिति, तदपि नाअध्याहारेण तथार्थकरणे प्रत्यवायाऽभावाद्। विनाऽपि चकारम्, “अह-रहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्” इत्यादौ समुच्चयस्य दृष्टत्वाच्चा। तस्मात्पूर्वोक्तसंयमस्यैवेदं पुरुषसाक्षात्कारात्प्राक्तं सिद्धयन्तरमिति वाचस्पत्यमेव सूत्राऽवतरणं शोभनमित्यलं बहुना।

(१) उपसर्गाः=विघ्नाः। (२) तस्य समाहितचित्तस्य यद्दर्शनं पुरुषसाक्षात्कारस्तत्प्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः। (३) अभिसंहितः=अभिलषितो दुःखत्रयाऽऽत्यन्तिकनिवृत्तिरूपः परमपुरुषार्थो येन स तथाक्तः। \* धनलेशम्। † धनराशिम्।



सू० बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य  
परशरीराऽऽवेशः ॥ ३८ ॥

भा० लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशयवशाद्बन्धः  
प्रतिष्ठेत्यर्थः<sup>(१)</sup>, तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधि-  
बलाद् भवति, प्रचारसंवेदनं च चित्तस्य समाधिजमेव। कर्म-  
बन्धक्षयात् स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरा-  
न्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति, निक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनु-  
पतन्ति, यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति  
निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि परशरीराऽऽवेशे  
चित्तमनुविधीयन्त इति ॥ ३८ ॥

टी० तदेवं ज्ञानरूपमैश्वर्यं पुरुषदर्शनान्तं संयमफलमुक्त्वा क्रियारूपमैश्व-  
र्यं संयमफलमाह-“बन्धकारण-आवेशः” ॥ ३८ ॥ ‘समाधिबलाद्’ इति ।  
बन्धकारणविषयसंयमबलात्<sup>(२)</sup> । प्राधान्यात्समाधिग्रहणम् । प्रचरत्य-  
नेनाऽस्मिन्निति प्रचारः, चित्तस्य गमाऽऽगमाऽध्वानो नाडयः । तस्मिन्  
प्रचारे संयमात्तद्वेदनं, तस्माच्च<sup>(३)</sup> । बन्धकारणशैथिल्यान्न तेन प्रतिबद्धय-  
ते, अप्रतिबद्धमप्युन्मार्गेण गच्छन्न स्वशरीरादप्रत्युहं निष्क्रामति, न च  
परशरीरमाविशति । तस्मात्तत्प्रचारोऽपि ज्ञातव्यः । इन्द्रियाणि च चित्ताऽनु-  
सारीणि परशरीरे यथाऽधिष्ठानं निविशन्ते इति ॥ ३८ ॥

टि० (१) लोलीभूतस्य = चञ्चलस्वभावस्याऽत एवैकत्राऽप्रतिष्ठस्य मनसो धर्माऽधर्मवशाद् एकस्मि-  
न्नेव शरीरे या प्रतिष्ठा स बन्ध इत्यर्थः ।

(२) समाधिबलादित्यस्यार्थमाह “बन्ध” इति बन्धस्य कारणं यददृष्टे तद्विषयो यः  
संयमस्तद्वलादित्यर्थः । ननु भाष्ये संयमबलादित्यनुक्त्वा समाधिबलादित्येव कथमुक्तं तत्रा-  
ऽऽह “प्राधान्याद्” इति । धारणाध्याने अन्तरा समाधेरलाभात् समाधिशब्देन तयोरापि  
ग्रहणसम्भव इति भावः ।

(३) चकारः पूर्वोक्तादृष्टविषयकसंयमसमुच्चायकः । परशरीरावेशे साध्य उभयोः  
संयमयोः समुच्चय एव न तु विकल्प इत्याशयेनाह “बन्धकारण” इति । अनेनादृष्टसंय-  
मफलमुक्तम् । प्रचारसंयमफलमाह, “अप्रतिबद्धम्” इत्यादिना ।



## सू० उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९॥

भा० समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं, तस्य क्रिया पञ्च-  
तयी = प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः, समं नयनात्समान-  
श्चाऽऽनाभिवृत्तिः, अपनयनादपानं, उन्नयनादुदानादुन्नयनवृत्तिः, उन्नयना-  
दुदानाशिशिरोवृत्तिः, व्यापी व्यान इति। तथा प्रधानः प्राणः ।

टी० “उदान—श्च” ॥ ३९॥ समस्तेन्द्रियवृत्तिर्जीवनं<sup>(१)</sup> प्राणादिलक्षणा = प्राणा-  
दयो लक्षणं यस्याः सा तथोक्ता द्वयीन्द्रियाणां वृत्तिर्बाह्याऽऽभ्यन्तरी च।  
बाह्या रूपाद्यालोचनलक्षणा, आभ्यन्तरी तु जीवनम्। स हि प्रयत्नभेदः श-  
रीरोपगृहीतमारुतक्रियाभेदे हेतुः सर्वकरणसाधारणः। यथाहुः—“सामान्यकरण-  
वृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च” इति। तैरस्य लक्षणीयत्वात्। तस्य = प्रय-  
त्नस्य, क्रिया = कार्यं पञ्चतयी। प्राण आ नासिकाऽग्रादा च हृदयादव-  
स्थितः। अशितपीताहारपरिणतिभेदं रसं तत्र तत्र स्थाने समम् = ३-  
रूपं नयन् समान, आ हृदयादा च नाभेरस्य स्थानम्। मूत्रपुरीषगर्भादीनाम-  
पनयनहेतुरपान, आ नाभेरा च पादतलादस्य वृत्तिः। उन्नयनाद् = ऊ-  
र्ध्वनयनाद् रसादीनामुदान, आ नासिकाऽग्रादा च शिरसो वृत्तिरस्या व्यापी  
व्यानः। एषामुक्तानां प्रधानं प्राणः, तदुत्क्रमे सर्वोत्क्रमश्रुतेः—“प्राणमुत्क्रा-  
मन्तमनु सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति” इति। तदेवं प्राणादीनां क्रियास्थानभेदेन भेदं

टि० (१) अत्र समस्तेन्द्रियशब्देनाऽन्तःकरणत्रयमेव गृह्यते, न तु बाह्येन्द्रियाण्यपि। सुषुप्तौ  
चक्षुराद्यपगमेऽपि प्राणव्यापारदर्शनाद्। अत एव कपिलाचार्यैरीश्वरकृष्णैश्चाऽन्तःकरणप्रस्ता-  
वे “त्रयाणां स्वालक्षण्यम्” इत्यनेनाऽसाधारणीरग्यवसायादिवृत्तीर्यथायथमुक्त्वा “सामान्य-  
करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च” इत्यभिहितम्। एतेन समस्तेन्द्रियशब्देन बाह्याभ्यन्तरोम-  
येन्द्रियग्रहणं वदन् विज्ञानभिक्षुर्गल्हस्तितो वेदितव्यः। किञ्च “सामान्यकरणवृत्तिरिति”  
सूत्रव्याख्याने ‘अन्तःकरणत्रयस्य साधारणी वृत्तिः प्राणादिः’ इत्युक्त्वा, अत्र तद्विरुद्धं वदन्  
कथमात्मानं टीककं मन्यते इति स एव वाच्यः।



भा० उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग, उत्क्रान्तिश्च प्राय-  
यणकाले भवति, तां वशित्वेन<sup>(१)</sup> प्रतिपद्यते ॥ ३६ ॥

सू० समानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिभिर्न प्रतिहृत्यते ॥ ४० ॥

भा० जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलति<sup>(२)</sup> ॥ ४० ॥

सू० श्रोत्राऽऽकाशः संयमाद् दिव्यं  
श्रोत्रम् ।

भा० सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा, सर्वशब्दानां च । यथोक्तं “तुल्य-

टी० तदेवं प्राणादीनां क्रियास्थानभेदेन भेदं प्रतिपाद्य सूत्रार्थमवतारयति—“उ-  
दानजयाद” इति । उदाने कृतसंयमस्तज्जयाज्जलादिभिर्न प्रतिहन्यते, उत्क्रा-  
न्तिश्चाऽर्चिरादिमार्गेण भवति प्रयाणकाले । तस्मात्तामुत्क्रान्तिं वशित्वेन  
प्रतिपद्यते । प्राणादिसंयमात्तद्विजये विभूतय एताः क्रियास्थानविजयादि-  
भेदात् प्रतिपत्तव्याः ॥ ३९ ॥

० “समान—म्” ॥ तेजसः शरीरस्योपध्मानम् = उत्तेजनम् ॥ ४० ॥

स्वार्थसंयमादन्वाचयशिष्टं \* श्रावणाद्युक्तम् । सम्प्रति श्रावणाद्यर्थादेव संय-  
मः श्रावणादि भवतीत्याह—“श्रोत्र—श्रोत्रम्” ॥ ४१ ॥ संयमविषयं श्रोत्रा-  
ऽऽकाशयोः सबन्धमाधाराऽऽधेयभावमाह—“सर्व” इति । सर्वश्रोत्राणामाह-  
ङ्कारिकाणामप्याकाशं = कर्णशष्कुलीविवरं प्रतिष्ठा, तदायतनं श्रोत्रम् । त-  
दुपकाराऽपकाराभ्यां<sup>(१)</sup> श्रोत्रस्योपकाराऽपकारदर्शनात् । शब्दानां च श्रोत्र-  
सहकारिणाम्<sup>(२)</sup> । पार्थिवादिशब्दग्रहणे कर्त्तव्ये कर्णशष्कुलीसुषिरवर्त्ति श्रोत्रं

टि० (१) वशित्वेन = उदानसंयमाज्जितोदानत्वेन, ताम् = अर्चिरादिमार्गेणोत्क्रान्तिं, प्रति-  
पद्यते = लभत इत्यर्थः । उदानवशित्वं विना नोर्ध्वोत्क्रमणं भवत्यत उदानजया स्यादिति भावः ।

(२) ज्वलति = सतीवत् स्वशरीरं दहतीत्यर्थ इत्येके । केचित्तु—अग्निमावेष्ट्य व्य-  
वस्थितस्य समानाऽऽख्यस्य प्राणस्य वशीकरणेनाऽग्नेर्निरावरणत्वसम्पादनात्तेजसा प्रज्वल-  
न्निव योगी प्रतिभातीत्याहुः । (३) श्रोत्रस्याऽऽहङ्कारिकत्वात् कथमाकाशाऽऽयतन-  
त्वमित्यत आह—“तदुपकाराऽपकाराभ्याम्” इति । (४) श्रोत्रसहकारिणां शब्दानामपि  
आकाशं प्रतिष्ठेत्यर्थः । प्रतिष्ठात्वमुपपादयति “पार्थिवादि” इत्यादिना । \* इतरफलेनोद्देश्येन  
सहानुशिष्टत्वेनाऽऽनुपाङ्गिकम् ।



भा० देशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति" इति। तच्चैतदा-  
काशस्य लिङ्गमनावरणं चोक्तम् । तथाऽमूर्तस्यानावरणदर्शना-

टी० स्वाश्रय-नभो-गताऽसाधारणशब्दमपेक्षते, गन्धादिगुण (१) सहकारिभि-  
र्घ्राणादिभिर्बाह्ये पृथिव्यादिवर्त्तिगन्धाद्यालोचने कार्ये दृष्टम् । आहङ्कारि-  
कमपि घ्राणरसनत्वक्चक्षुःश्रोत्रं ~~हृत्पादौ~~ ~~हृत्पादौ~~ भूतोपकाराऽपकाराभ्यां  
घ्राणादीनामुपकाराऽपकारदर्शनादि ~~आन~~ ~~गन्धादिगुण~~ आहङ्कारिकमयः-  
प्रतिममयस्कान्तमणिकल्पेन वक्तृवक्त्रसमुत्पन्नेन वक्त्रस्थनशब्देनाकृष्टं स्व-  
वृत्तिपरम्परया वक्तृवक्त्रमागतं शब्दमालोचयति । तथाच दिग्देशवृत्तिशब्द-  
प्रतीतिः प्राणभृन्मात्रस्य नासतिबाधके प्रमाणीकृता भविष्यतीति । तथा-  
च पञ्चाशिखस्य वाक्यं--"तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति"  
इति । तुल्यदेशानि श्रवणानि = श्रोत्राणि येषां चैत्रादीनां ते तथोक्ताः । स-  
र्वेषां श्रवणान्याकाशवर्त्तीनीत्यर्थः । तच्च श्रोत्राऽधिष्ठानमाकाशं शब्दगुणत-  
न्मात्रादुत्पन्नं शब्दगुणकं \*येन शब्देन सहकारिणा पार्थिवादीन् शब्दान् गृ-  
ह्णाति । तस्मात्सर्वेषामेकजातीया श्रुतिः शब्दे इत्यर्थः । तदनेन श्रोत्राऽधि-  
ष्ठानत्वमाकाशस्य शब्दगुणत्वं च दर्शितमिति । तच्च = एकदेशश्रुतित्व-  
माकाशस्य लिङ्गम् । साह्येकजातीया शब्दव्यञ्जिका श्रुतिर्यदाश्रया तदेवा-  
काशशब्दवाच्यम् । नहीदृशीं श्रुतिमन्तरेण शब्दव्यक्तिः, न चेदृशी श्रुतिः (२)  
पृथिव्यादिगुणस्तस्य स्वाऽऽत्मनि व्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वाऽनुपपत्तेरिति । अनावर-  
णंचाऽऽकाशलिङ्गम् ।

टि० (१) श्रोत्रं पार्थिवादिशब्दग्रहणे कर्तव्ये स्वाश्रयनभोगताऽसाधारणशब्दमपेक्षते इत्यत्र  
दृष्टान्तमाह-पृथिव्यादि-इत्यादिना, दृष्टमित्यन्तेन । \*किंशब्दगुणकमित्यत आह 'येन' इति ।

(२) ननु पृथिव्यादय एव श्रोत्रेन्द्रियाऽऽश्रया भवन्तु, तत्कथमाकाशसिद्धिरित्या-  
शङ्कां धारयति । "न चेदृशी" इति । तत्र हेतुमाह "तस्य" इति । आकाशाश्रया श्रुतिर्व्य-  
ञ्जिका, पार्थिवादिशब्दाश्च व्यङ्ग्या, इत्येवं सम्भवति सति एकस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभा-  
वोऽन्याय्य इति भावः । न च कर्णशक्कुल्येव श्रवणेन्द्रियाश्रय इति साम्प्रतम् । परलोकग-  
मनकाले कर्णशक्कुल्यभावाद् निराश्रयश्रोत्रेन्द्रियगमनाऽनुपपत्तेः । कर्णविवरपिधानेऽपि  
शब्दश्रवणप्रसङ्गाच्च । न च विवरपिधाने शब्दा एव श्रोत्रे न गच्छन्तीति वाच्यम् । मि-  
त्र्यादिव्यवहितशब्दश्रवणेन मित्र्यादिवत्कर्णाच्छिद्रस्थद्रव्याणामपि शब्दाऽऽगमनाऽप्रतिबन्ध-  
कत्वकल्पनात् । तस्मात् कर्णशक्कुल्यवच्छिन्नं नम एव श्रोत्राधारतया सिद्ध्यति इति दिक् ।



भा० द्विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य शब्दग्रहणाऽनुमितं श्रोत्रं,  
 बधिराऽबधिरयोरेकः शब्दं न गृह्णातीति <sup>(१)</sup> तस्मा-  
 च्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम् । अत्राकाशयोः संबन्धे कृतसंय-  
 मस्य योगिनो दिव्यं <sup>(२)</sup> श्रोत्रं प्रवर्त्तते ॥ ४१ ॥

सू० कायाऽसंयमाल्लघुतूलसमाप-  
 त्तेश्चाऽऽकाशस्य ॥ ४२ ॥

टी० यद्याकाशनाऽभविष्यदन्योन्यं सम्पीडितानि मूर्त्तानि न सूचीभिरप्यभेत्य-  
 न्त, ततश्च सर्वैरेव सर्वमावृतं स्याद् । न च मूर्त्तद्रव्याभावमात्रादेवानावरणम्,  
 अस्याभावस्य भावाश्रितत्वेन तदभावेऽभावाद्, <sup>(३)</sup> न च चितिशक्तिस्त-  
 स्याऽऽश्रया भवितुमर्हति । अपरिणामितयाऽवच्छेदकत्वाऽभावात् । न च  
 दिक्कालादयः पृथिव्यादिद्रव्यव्यतिरिक्ताः सन्ति । तस्मात्तादृशः परिणतिभेदो  
 न भवति एवेति सर्वमवदातम् । अनावरणे चाऽऽकाशलिङ्गे सिद्धे यत्र यत्रा-  
 नावरणं तत्र सर्वत्राऽऽकाशमिति सर्वगतत्वमप्यस्य सिद्धमित्याह—“ तथा-  
 ऽमूर्त्तस्य ” इति । श्रोत्रसङ्गावे प्रमाणमाह—“ शब्दग्रहण ” इति । क्रिया हि  
 करणसाध्या दृष्टा । यथा छिदादिर्वास्यादिसाध्या । तदिह शब्दग्रहणाक्रिययापि  
 करणसाध्यया भवितव्यम् । यच्च करणं तच्च श्रोत्रमिति । अथास्याश्चक्षुरादय  
 एव कस्मात्करणं न भवन्तीत्यत आह “ बधिराऽबधिरयोः ” इति । अन्व-  
 यव्यतिरेकाभ्यामवधारणम् । उपलक्षणं <sup>(१)</sup> चैतत्तात्त्वन्वातयोश्चक्षुस्तेजसोः-  
 रसनोदकयोर्नासिकापृथिव्योः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यत्वगाद्यप्युहनीयम् ॥ ४१

\* चकारो विकल्पार्थकः । अत्र च लघुमवन एवोभयोः संयमयोर्विकल्पो बोध्यो, न त्वा-  
 काशगमन इति ध्येयम् ।

टि० ( १ ) इति = शब्दो यत इत्यर्थे । एवञ्च यत इमावन्वयव्यतिरेकौ तस्माच्छ्रोत्रमेव  
 शब्दविषयं = शब्दो विषयो यस्य तत्तथेत्यर्थो बोध्यः ।

( २ ) दिव्यत्वं च तन्मात्रादिरूपसूक्ष्मशब्दादिग्राहकत्वम् ।

( ३ ) उपलक्षणं चैतत् । साङ्ख्यीये राक्षान्तेऽभावाऽनभ्युपगमाच्चेत्यस्यापि ।



भा० यत्र कायस्तत्राऽऽकाशं<sup>(१)</sup> तस्याऽवकाशदानात्कायस्य । तेन  
सम्बन्धः प्राप्तिः । तत्र कृतसंयमो योगी तत्सम्बन्धं लघुषु तूला-  
दिष्वऽऽपरमाणुभ्यः समः यत्तत्सम्बन्धो लघुः, लघु-  
त्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति । ततस्तूर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य  
रश्मिषु विहरति ततो यथेष्टं पानं भवतीति ॥ ४२ ॥

सू० बहिरकल्पिता व्यान गतिः प्रकाशा-  
ऽऽवरणक्षयः ॥ ४३ ॥

भा० शरीराद्वहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहानामधारणात्सा यदि श-  
रीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते ।

टी० सू० “काय—गमनम्” ॥ ४२ ॥ कायाऽऽकाशसम्बन्धसंयमाद्वा लघुनि  
वा तूलादौ कृतसंयमात् समापत्तिं = चेतसस्तत्स्थतदञ्जनतां लब्ध्वेति ।  
सिद्धिक्रममाह—“जले” इति ॥ ४२ ॥

अत्रमपि परशरीरावेशहेतुं संयमं क्लेशकर्मविपाकक्षयहेतुमाह—सू०  
“बहिः—क्षयः” । विदेहामाह “शरीराद्” इति । अकल्पिताया महाविदेहाया य  
उपायस्तत्प्रदर्शनाय कल्पितां विदेहामाह “सा यदि” इति । वृत्तिमात्रं कल्पना-

टि० ( १ ) कायाऽऽकाशयोर्दृष्टः सम्बन्धोऽमीष्टस्तादृशमेवाह “यत्र” इति ।  
यत्र=आसनादौ, शरीरं तिष्ठति तत्र शरीराऽवच्छेदेनाऽऽकाशमपि वर्तते इत्यर्थः । तत्र हेतु-  
माह—“तस्याऽवकाशदानाद्” इति आकाशस्याऽवकाशप्रदातृत्वादित्यर्थः । फलितमाह—  
तेन इति । तेनाऽऽकाशेन सह यः कायस्य सम्बन्धः स प्राप्तिरूपः, व्यापनमिति यावत् ।  
तत्र = पूर्वोक्ते सम्बन्धे, कृतसंयमो योगी तत्सम्बन्धं जित्वा = साक्षात्कारेण स्वेच्छाऽधीनं  
कृत्वा, लघुर्भवतीत्यग्निमेणाऽन्वयः । द्वितीयं हेतुं व्याचष्टे—लघुषु इत्यादिना, आ परमाणु-  
भ्यः = परमाणुपर्यन्तेषु, सूक्ष्मपदार्थेषु तूलादिषु संयमात्तेषु चेतसः समापत्तिं लब्ध्वा  
जितसम्बन्धः = स्वाधीनीकृतकायाऽऽकाशसम्बन्धो वा लघुर्भवतीत्यर्थः । लघूभवनानन्तरं यया  
परिपाद्याऽऽकाशगमनं भवति तामाह—“लघुत्वाच्च” इत्यादिना ।



ना व्या तु शरीरानि

स्थैव मनसो वहिर्वृत्तिः सा खल्व

ऽकल्पिता । तत्र

ल्पितां महाविदेहामिति,

यया परशरीराण्या

। ततश्च धारणातः प्रका-

शात्मनो बुद्धिसत्त्व

= क्लेशकर्मविपाकत्रयं रज-

स्तमोमूलं तत्र

॥

सू०

१२

यथैवत्वसंयमाद्

भा० तत्र

शब्दादयो विशेषाः सहाऽऽकारादिभिर्धर्मैः

टी० ज्ञानमात्र

दहामाह—“या तु” इति । उपायोपेयते कल्पिता-

ऽकल्पितयोराह—“तत्र” इति । किं परशरीरावेशमात्रमितो, नेत्याह—“ततश्च”

इति । ततो धारणातो = महाविदेहाया मनःप्रवृत्तेः सिद्धेः, क्लेशश्च कर्म

च ताभ्यां विपाकत्रयं जात्यायुर्भोगास्तदेतद्रजस्तमोमूलम् <sup>(१)</sup> विगलितर-

जस्तमसः सत्त्वमात्राद् विवेकख्यातिमात्रसमुत्पादात्, तदेतद्विपाकत्रयं

रजस्तमोमूलतया तदात्मकं सद् बुद्धिसत्त्वमावृणोति । तत्क्षयाच्च निरावरणं

योगिचित्तं यथेच्छं विहरति विजानाति चेति ॥ ४३ ॥

“स्थूलं—जयः” ॥ ४४ ॥ स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चाऽन्वयश्चाऽर्थवत्त्वं

चेति स्थूलस्वरूपसूक्ष्माऽन्वयाऽर्थवत्त्वानि, तेषु संयमात्तज्जयः । स्थूलमाह

“तत्र” इति । पार्थिवाः पाथसीयास्तैजसा वायवीया आकाशीया शब्दस्प-

र्शरूपरसगन्धा यथासम्भवं विशेषाः षड्जगान्धारवादयः शीतोष्णादयो

नीलपीतादयः कषायमधुरादयः सुरभ्यादयः । एते हि नामरूपप्रयोजनैः

परस्परतो भिद्यन्त इति विशेषाः । एतेषां पञ्च पृथिव्यां, गन्धवर्जं

चत्वारोऽप्सु, गन्धरसवर्जं त्रयस्तेजसि, गन्धरसरूपवर्जं द्वौ नभरवति,

शब्द एवाकाशे । त एत ईदृशा विशेषाः सहाकारादिभिर्धर्मैः स्थूल-

टि० (१) न तु सत्त्वमूलमित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—“विगलित” इति । यतो रजस्तमःसम्पर्करहि-  
तात्सत्त्वमात्राद्विवेकख्यातिमात्रमेव समुत्पद्यते, न क्लेशादि । अतो न क्लेशादि सत्त्वमूलं,  
किन्तु रजस्तमोमूलमिति भावः ।



भा०स्थूलशब्देन परिभाषिताः शब्दाः। अनात्कायस्य । तेन  
रूपं स्वसामान्यम्<sup>(१)</sup>। मूर्तिः। तत्संबन्धं लघुषु तूला-  
णामी, सर्वतोगतिराकाशः। चितसंबन्धो लघुः, लघु-  
टी०शब्देन परिभाषिताः शास्त्रे । अनाभितन्तुमात्रे विवृत्य

गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव भाः। अश्वतीति ॥४२॥

भोग्यता” । अपां धर्माः—“स्नेहो जलं मज्जा पुष्टिबलाधानं  
शैत्यं रक्षा<sup>(३)</sup> पवित्रत्वं सन्धानं चोदका गुणाः” ।

पावकं दग्धं पाचकं लघु भास्वरम् । प्रध्वंस्योज्ज्वलायदि श-  
लक्षणम्” । वायवीया धर्माः—“तिर्यग्याने पवित्रत्वं, पो-

चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः” । आकाशीया धर्माः

“सर्वतो गतिरव्युहो<sup>(४)</sup> विष्टम्भश्चेति च त्रयः । आकाशधर्मा व्याख्याता  
पूर्वधर्मविलक्षणाः” । त एत आकारप्रभृतयो धर्मास्तैः सहेति । आकाश

सामान्यविशेषो गोत्वादिः । द्वितीयं रूपमाह—“द्वितीयं रूपं स्वसामान्यम्  
इति । मूर्तिः = सांसिद्धिकं काठिन्यं, स्नेहो जलं मज्जा पुष्टिबलाधानं

हेतुः, वह्निरुष्णता—औदर्यं सौर्यं भौमे च सर्वत्रैव तेजसि समवेतोष्ण

तेति । सर्वं चैतद् धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षयाऽभिधानम् । वायुः प्रणामी

वहनशीलः । तदाह—“चलनेन तृणादीनां शरीरस्याऽटनेन च । सर्वं वायु

सामान्यं नामित्वमनुमीयते” । सर्वतो गतिराकाशः, सर्वत्र शब्दोपलब्धि

दर्शनात् । श्रौत्राऽऽश्रयाऽऽकाशगुणेन हि शब्देन पार्थिवादिशब्दोपलब्धि

टि० (१) स्वसामान्यं=स्वस्वसामान्यमित्यर्थः । यस्य यत्सामान्यं तद्वर्शयति—“मूर्तिः” इत्य-  
दिना । मूर्तिमती भूमिः, स्नेहवज्जलमित्येवं वक्तव्येऽपि मूर्तिर्भूमिरित्याद्यभिधानं धर्मधर्मिणो  
सामान्यविशेषयोस्तादोत्म्यप्रतिपादनायेत्यवधेयम् । (२) वृत्तिः = सर्वभूताऽऽधारता, भेदः  
विस्तरणं, क्षमा = सहिष्णुता । (३) रक्षा = दुर्गादिद्वारा रक्षकत्वं, सन्धानं = विशिष्टानां मेक-  
(४) आक्षेपः = पातनं, नोदनं = कम्पनम् । (५) सर्वतो गतिः = व्यापित्वम्, अव्यूहः  
सर्वपार्थिवविश्लेषकाणत्वम्, अविष्टम्भः = अवाकाशप्रदातृत्वम् ।



याचोक्तम्- "एकजाति-

३। सामान्यविशेष-

तभेदाऽवयवाऽनु-

५३ वा स्वयवाऽनु-

२॥३॥ क॥ त्त्यादिसामान्य-

प्रत्यादयः सुरभि-

सत्त्यादीनिजम्बीरपनसा-

॥ वेनैतेषामेतेरसादयो विशे-

३६ पृथिव्यादीनामेकैकया

षड्जं॥ स्मान्नव्यावृत्तिरिति ।

तदेवं सामान्यं मूर्त्युद्युक्तं विशेषाश्च शब्दादय उक्ताः । य-गद्गः।सामान्य-

विशेषाश्रयो द्रव्यमिति तान् प्रत्याह “सामान्य” इति । सामान्याशेषसमु-

दायोऽत्र दर्शने द्रव्यम् । येऽपि तदाश्रयो द्रव्यमास्थिषत तैरपि तत्समुदायो-

अभ्यमानो नापह्नोतव्यः। न च तदपह्नवे तयोराधारो द्रव्यमिति भवति।

तस्माच्च देवाऽस्त द्रव्यं न त ताभ्यां तत्समुदायाच्च तदाधारमपरं द्रव्यमुपल-

आमदे। गावभ्योऽगावसमदायादिव च तदाधारमपरं पृथग्विधं शिखरं समूहो

द्रव्यमिदं यत्कम्। तत्र समूहमात्रं द्रव्यमिति भ्रमाऽपनुत्तये समूहविशेषाद्द्रव्य-

विधि विधिर्गणितं समग्रप्रकारनाह—“द्विष्टो हि” इति। यस्मादेवं तस्मान्न

मिति निर्धारयतु सन्तुष्टमिति ।  
 प्राप्ताप्राप्तं तन्नामित्यर्थः । द्वाभ्याम्प्रकाराभ्यां तिष्ठतीति द्विष्टः।एक प्रकार-

व्यावृत्तिरेषां भूतानामित्यर्थः । (२) प्रत्यस्त-

७०० (१) षड्जादिधर्मात्रेण संजातयान्तरात्, मेदः=अयान्तरविभागो येषामवयवानां ते

अवान्तरावभागावाचकशब्दनामुत्तरि । तदुदाहरणमाह—“शरीरम्” इत्यादिना ।

(३) यद्यपि भूम्यादीनां सृष्ट्यादिधर्मा अपि परस्पर व्यावसायिकता तात्त्विकतया विभक्त्युपायानामेव प्रमाणसिद्धांतोऽत्र निरूपितः । यथा जम्बीररूपभूमिसकाशात्

भूम्याद्यन्तराद् भूम्याद्यन्तरस्य व्यावर्तिका गन्धादय एव तान्त्रिक्या परिभाषया

पनसाऽऽमलकादिभूमेव्यवर्तिका मधुरादयः । अतः शब्दादयः । † पाषाणमयः ।

विशेषा उच्यन्त इति भाषः

\* ये=वैशेषिकादयः ।

ॐ पाषाणेभ्यः ।



तत्संबन्धं लघुषु तूला-

भा०गतः समूहः—उभय- जेतसंबन्धो लघुः, लघु-

मनुष्या द्वितीयो भागः—

भेदविवक्षितः । नानाभितन्तुमात्रे विहृत्य

सङ्घ इति विधोः अर्थमेव प्रतीयते ॥४२॥

तसिद्धा माह—“स्नेहः—प्रकाश-

शरीरं वृद्धः—विं सन्धानं चोदका गुणाः” ।

टी० माह—“प्रत्यस्तमित” इति । प्रध्वंस्योज्ज्वल-

त्यस्तमितभेदा अवयवा यस्मात्प्रतीताः ।

वनशब्देभ्यः समूहः प्रतीयते । युताऽयुतसिद्धाऽवयवत्वं चोदकाः ।

गात समूह एकोऽवगम्यते । युताऽयुतसिद्धाऽवयवत्वं चोदकाः ।

त्येन चोदाहरणच—युताऽयुतसिद्धाऽवयवत्वं चोदकाः ।

प्रकारमाह—शब्देनोपात्तभेदाऽवयवाऽनुगतः समूह उभये देवमनुष्या-

इति । उभयमनुष्या इति हि शब्देनोभयशब्दवाच्यस्य समूहस्य भागौ भिन्ना-

वृत्तौ । ननु उभयशब्दात्तदवयवभेदो न प्रतीयते, तत्कथमुपात्तभेदाऽवयवा-

ऽनुगत इत्यत आह—“ताभ्याम्” इति । ताभ्यां भागाभ्यामेव च समू-

होऽभिधीयते । उभयशब्देन भागद्वयवाचिशब्दसहितेन समूहो वाच्यः ।

वाक्यस्य वाक्याऽर्थवाचकत्वादिति भावः । पुनर्द्वैविध्यमाह—“स च”

इति । भेदेन चाऽभेदेन च विवक्षितः । भेदविवक्षितमाह—“आम्राणां वनं

ब्राह्मणानां सङ्घः” इति । भेद एव षष्ठीश्रुतेः, यथा गर्गाणां गौरिति ।

अभेदविवक्षितमाह—“आम्रघनं ब्राह्मणसङ्घः” इति । आम्राश्च ते

वनं चेति, समूहसमूहिनोरभेदं विवक्षित्वा सामानाधिकरण्यमित्यर्थः ।

विधान्तरमाह—“स पुनर्द्वैविध” इति । युतसिद्धाऽवयवः समूहः

टि० (१) उभावयवौ येषां त उभये । के ते, देवमनुष्या इति । अत्र हि उभयशब्दवाच्यस्य

समूहस्यावान्तरविभागौ देवमनुष्यशब्दाभ्यामुपात्तावित्यस्यत्र शब्देनोपात्तभेदत्वमिति भावः ।

(२) अप्रतीताऽवयवभेद एकः समूहोऽवगम्यत इत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—“तद्वाचक-

शब्दाऽप्रयोगाद्” इति । अवयवबोधकशब्दाऽनुपादानादित्यर्थः ।



सिद्धि  
श्री जगदीश  
सिद्धिचर  
कार ने  
दीये सुख  
६० लाख  
एक घर  
मही ने  
हु, यही  
उप मही  
बुक की  
मिला।  
कमिया  
की अन  
श्री  
लिखित  
राज्य के  
के पाती  
का सुखान  
आगामी  
रही है।  
ब ७९ फ  
समान =

[illegible][illegible]

पाकिस्तान  
वादी नेता  
बंदी में  
कराची, २८  
पाकिस्तान के  
हसन नासर का  
लाहौर किले में  
बिगत १० अगस्त  
उनकी मृत्यु  
समय मिला, जहाँ  
के अधिकारियों ने  
दफना दिया।  
श्री हसन तो  
शहीद बल के म  
जब साम्यवादी द  
गई तो वे फरार  
पहले कराची  
किले गई थी कि  
जाने के कारण  
मृत्यु हो गई है।  
इधर श्री मोस  
लाहौर के एक  
मुहम्मद ने पब्लि  
उच्च न्यायालय  
कर के यह मांग क  
की मृत्यु के का  
जाय। जहाँ में  
पिछले कई दिनों  
रही थी कि श्री न  
गया है अथवा उन  
है अथवा उनकी  
वकिमों पाकिस्त  
ने पब्लिचिंग पाकिस्  
दिया कि वह ४८  
नासर की मौत के  
की रिपोर्ट अदालत

कुवैती  
स्वेज में तु  
तेल और एक  
लन्दन, २८  
२१,००० टन  
जहाज कल तइय  
दुर्घटना गस्त हो



नेहरूजी ने कहा कि संयुक्त  
संघ में सुरक्षा परिषद की र  
बुनियादी परिवर्तन की जह  
जिससे वह विश्व, विशेषकर ए  
अफ्रीका की हकीकत का  
प्रतिनिधित्व कर सकें। कु

मन्था के अद्ययुग तथा  
जल विद्युत् आयोग के सदस्य  
एल. राय ने अपने अध्यक्षीय  
विजली की कमी की चर्चा की  
इंजीनियरों से अपील की कि  
को विकास के मार्ग पर लौ  
पहल करें। उन्होंने इंजीनियरों  
कहा कि आप में से कुछ लोग  
तथा विधान सभाओं में भी जाए।